

यजुर्वेद-व्याख्या

चतुर्थ पुष्प

गृहस्थाश्रम में आत्मसाधना द्वारा
संसिद्धि-प्राप्त आत्मसाधक
देवयाजक बनकर

सम्पूर्ण पृथिवी का दिव्यीकरण

करने के लिये
देवयजन
कररहे
हैं

विद्यानन्द विदेह

एक रुपया

प्रथम संस्करण [२०१६ वि : १९६० ई०] ... २०००

प्रकाशक : वेदसंस्थान, अजमेर
मुद्रक : आदित्य मुद्रणालय, अजमेर

व्याख्याग्रन्थों पर प्राप्त कुछ सम्मतियां

द्वितीय तथा तृतीय पुष्पों में प्रकाशित सम्मतियों के अतिरिक्त हाल में प्राप्त कतिशय विशेष सम्मतियां यहां उद्धृत की जाती हैं—

आपका वेदभाष्य पढ़कर जो आनन्द प्राप्त हुआ, वह शब्दों का विषय नहीं। समयप्रवाह से उत्पन्न हुये सब झंझटों से मुक्त वेद को अपने रूप में यहां [आपकी वेदव्याख्या में] देखा जा सकता है।

—पं० हरिशरण वेदालंकार

तृतीय पुष्प भी उतना ही सुरभिस्निग्ध है, जैसे पहले दो पुष्प। सभी कुछ सुसंगत, सरस और सुन्दर है। वेद सर्वप्रिय हो नहीं सकते, जब तक सर्वसाधारण की समझ में न आयें। इस विषय में श्री विदेह जी का अब तक का प्रयास सफल और श्लाघ्य है।

—पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय

तृतीय पुष्प मिला। आध्यात्मिक दृष्टि से आपका यह कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। व्याख्या बहुत पाण्डित्यपूर्ण है। प्रयत्न स्तुत्य है।

—डा० वृन्दावन लाल वर्मा

तृतीय पुष्प के पढ़ने से पता चलता है कि वेद में किस सूक्ष्म और पैनी दृष्टि से जीवन की गति और उसके विकास पर विचार किया गया है। वेद के गहन और रहस्यमय विचारों का विदेह जी ने बड़े ही विद्वत्तापूर्ण और सरल ढंग से ऐसा स्पष्टीकरण किया है कि व्याख्या पढ़ते पढ़ते हृदय आनन्दित होजाता है, वेदज्ञान की दुरूहता सरलता में बदल जाती है। व्याख्या की भाषा और विचारों का प्रवाह बड़ा ही सुन्दर है। एक एक शब्द और भाव को विदेह जी ने बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट किया है।

—नव भारत टाइम्स

बड़े भाग्य से वेदव्याख्या के पुष्प मिले। ऐसा उत्तम भाष्य और किसी विद्वान् ने नहीं किया है। प्रभु की अन्तःप्रेरणा से ही यह भाष्य सम्भव हुआ है। भारी परिश्रम हुआ है। वेदप्रेमियों पर बड़ा उपकार हुआ है।

—श्री सनातन स्वामी

विदेह जी वैदिक वाङ्मय के सुप्रसिद्ध मर्मज्ञ व्याख्याता हैं। उनके परिश्रम का मूल्यांकन तो सौ दो सौ वर्ष बाद होगा। महर्षि दयानन्द और योगेश्वर अरविन्द के बाद वेदप्रचारकों में सातवलेकर और विदेह—ये ही दो नाम आते हैं।

— पं० जगत्कुमार शास्त्री

तृतीय पुष्प आद्योपान्त पढ़ा। उपादेय सामग्री से परिपूरित यह ग्रन्थ साधकों का मार्ग प्रशस्त करेगा। "साधना गृहत्यागी ही कर सकते हैं", यह पुष्प इस भ्रान्ति को दूर करेगा। इसमें गृहस्थधर्म की खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः स्थापित होगी।

—महात्मा वेदव्रत

[अब स्वामी वेदमुनि परिव्राजक]

तृतीय पुष्प पढ़ा। कृतार्थ हुआ। पूर्व पुष्पों की भांति ही मनोहारी है। श्री विदेह जी की दृष्टि शुद्ध आध्यात्मिक है, जो सर्वथा प्रशंसनीय है।

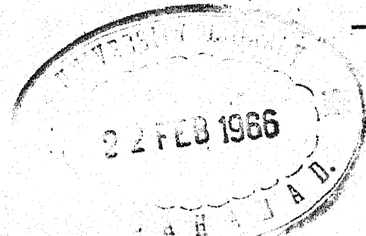
—डा० बाबूराम सक्सेना

वेदार्थ-जिज्ञासुओं एवं वैदिक साहित्य के अध्येताओं के लिए तृतीय पुष्प संग्रहणीय है। यह विशाल कार्य पूरा होगया तो हिन्दी भाषा के एक बड़े अभाव की पूर्ति होने के साथ साथ वेद के सम्बन्ध में फैली अनेक भ्रान्तियों का निराकरण भी होगा।

—श्री आंगिरस

विदेह जी की शैली की दो बड़ी विशेषतायें हैं—(१) असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण, (२) प्रत्येक मन्त्र के काव्यरस को खोज निकालने की शक्ति। वे मूलतः रसदर्शी हैं, जिससे उनकी व्याख्यायें केवल निरुक्त व्याकरण के बल पर लिखी गयी व्याख्याओं की तरह रूखी न होकर सरस व प्रवाहमयी हैं। वेदों को सबकी सम्पत्ति बनाने में यह उपयोगी है। ग्रन्थ की छपाई आदि उत्तम है।

—भारती बम्बई



मैंने वेदव्याख्याग्रन्थ के तीनों पुष्प पढ़े। विदेह जी ने वेद को सरल, सुबोध और सुललित भाषा में सर्वसाधारण जनता तक पहुंचाने का जो सफल प्रयत्न किया है, उसके लिए हम सब उनके आभारी हैं।

विदेह जी का वेदप्रेम, पवित्र सरल जीवन, अनुपम भाष्यशैली, निस्स्वार्थ सेवा तथा मधुमय मोहक उपदेशकला नितान्त अनुकरणीय हैं।

—सन्तराम अजमानी

आदरणीय आचार्य श्री विद्यानन्द जी विदेहकृत वेदव्याख्याग्रन्थों के तीनों मनोहर पुष्पों को मैंने बड़े ध्यान से रसपूर्वक दो बार पढ़ा। इतनी सरल, इतनी रुचिकर, इतनी सुबोध और इतनी हृदयहारिणी विस्तृत व्याख्या है कि साधारण शिक्षित नर एवं नारी वेदमन्त्रों के तात्पर्य को सहजतया समझ सकते हैं।

महर्षि योगीश्वर स्वामी श्री दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्यों के सतत अनुशीलन से ही प्रबल प्रेरणा पाकर श्री विदेह जी ने ईश्वरीय ज्ञानस्वरूप वेदों के मंगलमय उपदेश विश्व में जन-जन के हृदय-पटल पर अंकित करने के शुभ उद्देश्य से अपना सारा अमूल्य जीवन इस परोपकारक सुकृत्य में समर्पित कर दिया है।

परस्पर मन्त्रों की सुसंगति एवं तद्गत पदों की निरुक्ति श्री विद्वन्मानस को बलात् आकृष्ट करती है। निस्सन्देह, योग की अन्तर्दृष्टि से ही ऐसी व्याख्या हो सकती है।

ऐसी बुद्धिसंगत, भावपूर्ण, वैज्ञानिक भाष्यशैली के लिए मैं सुहृद्वर श्री विदेह जी को हार्दिक धन्यवाद देता हूं और ओं परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि "ये मनीषीप्रवर विदेह जी शतायु से भी अधिक जीवन धारण कर इस जनकल्याणकारी महनीय वेदभाष्य को प्रकाशित कर अखिल मानव-जाति के अभिनन्दनीय बनें तथा महर्षि के मनोवाञ्छित कार्य को पूर्ण कर विद्वज्जन के स्तुतिभाजन हों"।

मुनि श्रीमन्मेधाव्रताचार्य आर्य कवीन्द्र,
अध्यक्ष, दिव्यकुञ्ज योगाश्रम, कुसूर, येवला [नासिक]

गूढ़ मन्त्रों के ऐसे सबोध, सरस एवं हृदयग्राही अर्थ देखकर यह आश्चर्य होता है कि इस प्रकार के भी अर्थ सम्भव हैं, जोकि न केवल यथार्थ एवं हृदयंगम ही हैं, अपि तु स्फूर्तिदायक भी हैं। भाषा एवं शैली अत्यन्त सुललित तथा आकर्षक है। वैदिक वाङ्मय के विशिष्ट शब्दों की विचित्र किन्तु परम बुद्धिगम्य व्याख्या, व्युत्पत्ति तथा स्पष्टार्थ यह सिद्ध करते हैं कि विदेह जी निस्सन्देह ऋषि हैं। वैदिक संस्कृति के सभी उपासकों को उनके वेदव्याख्या-यज्ञ में सहयोग देना चाहिये।

—प्रो० शिवानन्द शर्मा,

आपने वेदों का जो सरलार्थ किया है, वह सब प्रकार से उपादेय है। वैदिक वाङ्मय का गम्भीर मन्थन कर ज्ञान का नवनीत इसी प्रकार सर्वजन-संवेद्य बनाया जा सकता है। आपकी शैली शौष्ठवपूर्ण और अभिव्यक्ति अत्यन्त स्पष्ट है। आप में किसी प्रकार का दुराग्रह भी नहीं, इससे वैदिक साहित्य के प्रति लोगों का सम्मान होगा।

—अक्षयचन्द्र शर्मा
अध्यक्ष, भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर

आपका वेदश्रम पृथिवी की समस्त प्रजा के मानस में वेद के प्रति श्रद्धा की स्थापना करेगा।

—स्वामी अनन्तानन्द सरस्वती
(विदर्भ)

श्री स्वामी जी ने यह व्रत ग्रहण किया है कि वे सारे वेदों का भाष्य इसी पद्धति से करेंगे। आपने अपने इस कार्य में परम्परागत पद्धतियों को तोड़कर सर्वथा स्वतन्त्र पद्धति का अवलम्बन किया है। इसमें विद्वानों के लिए मतभेद की काफ़ी गुंजाइश होते हुए भी इतना तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि श्री स्वामी जी ने जिस पद्धति को अपनाया है वह सर्वथा सरल, स्पष्ट और सहजगम्य है तथा सामान्य पुरुषों के लिए उपयोगी है। अगर वेदों का जनता में प्रचार करना है तो उसके भाष्य का तरीक़ा ऐसा ही होना चाहिए। इस दृष्टि से स्वामीजी महाराज का प्रयत्न अत्यन्त प्रशंसनीय है। इस भाष्य की एक और विशेषता है, जिसका उल्लेख करना आवश्यक है। वह है मन्त्रों का पूर्वापर सम्बन्ध लगाने का प्रयत्न।

—पं० दीनानाथ सिद्धान्तालंकार

प्रस्तुत ग्रन्थ में, जिसका यह प्रथम भाग है, आचार्य विद्यानन्द विदेह ने सामान्य शिक्षित जन के लिये वेदों का भाष्य प्रारम्भ किया है। उनकी वेदभाष्य-शैली सरल और सुबोध है। केवल, शब्दार्थ या भावार्थ नहीं, मन्त्र के प्रत्येक शब्द की व्याख्या और अपने अर्थ की पुष्टि में युक्ति इसकी विशेषतायें हैं। आचार्य जी का वेदाध्ययन जहां एक ओर गम्भीर है, वहां वेदप्रचार की जागरूक और दीर्घकालीन भावना के कारण वे पाठक के निकट सम्पर्क में रहकर उसकी आवश्यकता भी भली भांति जानते हैं। इसलिये विभिन्न स्थलों पर व्याख्यान की सी विचार-प्रधान विस्तृत शैली के दर्शन होते हैं। एक मन्त्र के चिन्तन से जो भावनायें विद्वान् लेखक के हृदय में उद्भूत हुईं, उन सबका उल्लेख करने में लेखक ने संकोच नहीं किया। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है प्रत्येक मन्त्र की परस्पर संगति का दर्शन।

वेदार्थ-शैली और विशेषकर मन्त्रों के साक्षात् दर्शन के सम्बन्ध में विद्वान् लेखक की कई ऊंची स्थापनायें हैं, जिनका उनके भाष्य में अनुसरण किया गया है। उनके मतानुसार वेदमन्त्रों के अनेक अर्थ नहीं किये जा सकते। प्रत्येक मन्त्र का एक सुनिश्चित अर्थ है। गौण वृत्ति से दूसरे परिणाम निकाले जा सकते हैं। व्याकरण, व्युत्पत्तिवाद, प्रमाणवाद, इतिहास, विनियोग के आधार पर वेद की व्याख्या करना भी भ्रान्तिजनक होगा। संयमपूर्वक योगाभ्यास, अन्तर्दृष्टि और अन्तःश्रवण से वेद की ग्रन्थियां खुलती हैं। वेद की व्याख्या के लिये किसी परतःप्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि विभिन्न वादों को वेद के मन्त्रों से सिद्ध करने की भावना ने वेदों की यह स्थिति करदी है कि उनसे जो चाहो अर्थ निकाल लो। आस्तिक व नास्तिक दोनों वेद का प्रामाण्य मानते हैं और ईश्वर की सत्ता या असत्ता वेदों से सिद्ध करते हैं। इस स्थिति में सुनिश्चितार्थता विलुप्त हो गयी। आचार्य विदेह इस विषम स्थिति को स्वीकार करने से इन्कार कर देते हैं। उनकी स्थापनायें विद्वत्समाज में विवादास्पद हो सकती हैं, पर इससे साधारण पाठक का हृदय किसी उलझन में नहीं पड़ता। वह वेदमन्त्रों का अध्ययन करते हुए उनमें ठीक उसी तरह रस लेने लगता है, जैसे उनका मधुर भाषण सुनते हुये। इस दृष्टि से हम इस प्रयत्न का हार्दिक स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि वेदव्याख्या का यह प्रथम प्रयास, जो असाधारण व्यय, श्रम और शक्ति की अपेक्षा रखता है, सफल होगा। काग़ज़ की छपाई सफ़ाई की दृष्टि से भी यह प्रकाशन प्रशंसनीय है।

—पं० कृष्णचन्द्र विद्यालंकार

यह हर्ष का विषय है कि वेदसाहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् स्वामी विद्यानन्द विदेह ने सरल और सुबोध भाषा में चारों वेदों की व्याख्या प्रस्तुत करने का ससंकल्प आयोजन किया है। अपने जीवन भर के गहन अध्ययन, मन्थन, चिन्तन तथा साधना-तपस्या का लाभ सबको पहुंचाने का व्रत लिया है। इस महान् प्रयास को सफल बनाने में केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों को सहायता देनी चाहिये। धनी मानी व्यक्तियों तथा साहित्य-संस्थाओं का भी यह कर्तव्य है कि इस सदनुष्ठान में हाथ बटायें।

व्याख्या की शैली सुन्दर और हृदयग्राही है। पग पग पर इस बात का प्रमाण मिलता है कि विद्वान् भाष्यकार को वेदों का बड़ा गहन ज्ञान है और प्रत्येक मन्त्र का अर्थ बड़ी गहराई के साथ समझ रखा है। प्रस्तुत वेद-व्याख्या की एक विशेष बात यह है कि मन्त्रों का पूर्वापर सम्बन्ध दिखाया गया है। भाषा में ओज और प्रवाह है। व्याख्या को समझने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। छपाई और काग़ज़ बढ़िया है।

विदेह जी का यह संकल्प एवं अनुष्ठान पूरा होगया तो राष्ट्र भाषा के साहित्य में एक अमूल्य ग्रन्थ-रत्न प्रस्तुत हो जायेगा।

—दैनिक "भारत"

आत्म-निवेदन

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति ॥ (ऋ० १. १८. ७)
जिसके बिना सिद्ध जन की भी नहीं साधना होती सिद्ध ।
प्रेर रहा है योग धारणाओं का मेरी वही प्रवृद्ध ॥

कतिपय विद्वानों के आग्रहपूर्ण परामर्श का आदर करते हुए दसवें मन्त्र से मैंने व्याख्याओं के क्रम में कुछ परिवर्तन तथा संक्षेप किया है। किन्तु उससे व्याख्या की सुस्पष्टता तथा सुरोचकता में कोई अन्तर नहीं आया है। इस सम्बन्ध में पाठकों व पाठिकाओं की सम्मतियों का मैं स्वागत करूंगा ॥

व्याख्याग्रन्थों के प्रकाशन की गति निस्सन्देह बहुत धीमी है। दोष किसका बताऊं ? पर मैं निर्दोष हूं और ध्रुवता के साथ, अपनी सम्पूर्ण क्षमता और अविचल धारणा के साथ, अपने अक्षुण्ण आत्म-विश्वास के साथ इस सुपावन साध में, इस विश्वतोधार यज्ञ में, लगा हुआ हूं। आपकी आप जानें !!!

—विदेह

यजुर्वेद-व्याख्या

चौथा-अध्याय

देवयजन

एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे।
ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम।
इमा आपः शमु मे सन्तु देवीरोषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः ॥ (य० ४।१)

आ इदं अगन्म देव-यजनं पृथिव्याः यत्र देवासः अजुषन्त विश्वे।
ऋक्-सामाभ्यां सं-तरन्तः यजुःभिः रायः पोषेण सं इषा मदेम।
इमाः आपः शं उ मे सन्तु देवीः ओषधे त्रायस्व स्व-धिते मा एनं हिंसीः ॥

१) हमने (पृथिव्याः इदं देव-यजनं आ अगन्म) पृथिवी के इस देवयजन को प्राप्त कर लिया है।

२) (यत्र) जहां (विश्वे देवासः) सब देव (अजुषन्त) सप्रेम सेवन किया [करेंगे]।

३) हम (ऋक्-सामाभ्यां) ऋक् और साम के द्वारा, (यजुःभिः) यजुओं के द्वारा, (रायः पोषेण) आत्मैश्वर्य की पुष्टि से तथा (ईषा) इच्छा से (सं-तरन्तः) सम्यक् तरते हुये (सं मदेम) सम्यक् आनन्द भोगें।

४) (इमाः देवीः आपः) ये दिव्य आपः (मे शं उ सन्तु) मेरे लिये शमनयित्री ही हों।

५) (ओषधे) ! (त्रायस्व) तार।

६) (स्व-धिते) ! (एनं मा हिंसीः) इसे मत हिंस ॥

देव-यजन नाम है दिव्यताओं की प्राप्ति के यज्ञ का, दिव्यताओं की प्रस्थापना की साधना का।

आपः शब्द का प्रयोग जल के अर्थ में होता है और सदा बहुवचन में होता है। यहां आपः शब्द का प्रयोग धाराओं के अर्थ में हुआ है।

ओषधिर्वै दोषधिः। जो दोष का निवारण करे, उसे ओषधि कहते हैं। यहां ओषधि शब्द का प्रयोग दोषनिवारक देव-यजन के लिये हुआ है।

स्वधिति = स्व-धिति, स्व-धारणशक्ति, स्व धारणा, आत्म-धारणा।

तीसरे अध्याय में आत्मसाधकों ने संसिद्धि प्राप्त करली है। वे अब किसी एक देश या राष्ट्र विशेष के नागरिक नहीं रहे हैं, सारी पृथिवी के नागरिक बन गये हैं। उनकी ममता समता में समा गयी है। मनुष्य-मात्र ही नहीं, प्राणी-मात्र अब उनका अपना होगया है। उनकी समता ने सबको अपनालिया है। वे अब सम्पूर्ण पृथिवी का देवयजन करेंगे, सारी पृथिवी को दिव्ययज्ञस्थली बनायेंगे, सारी पृथिवी का दिव्यीकरण करेंगे।

आत्मसंसिद्धि प्राप्त करके आत्मसाधक कहते हैं—

१) हमने (पृथिव्याः इदं देव-यजनं आ अगन्म) पृथिवी का यह देव-यजन प्राप्त कर लिया है। हमने इस वसुन्धरा के दिव्यीकरण की साधना का निश्चय किया है। हमने संकल्प किया है कि हम सारी वसुधा पर दिव्यताओं की व्याप्ति के सुयाग का सत्र संचालित करेंगे।

२) दिव्यीकरण के द्वारा, इस पृथिवी पर निवास करनेवाले मानवों को हम ऐसा दिव्य जन बनायेंगे

और इस पृथिवी को हम वह दिव्य स्थली बनायेंगे, (यत्र) जहां, जिसपर (विश्वे देवासः) सब दिव्य जन, दिव्यताओं का (अजुषन्त) सप्रेम सेवन किया करेंगे, जहां के सब जन दिव्य जन बनकर दिव्यताओं का आस्वादन किया करेंगे।

३) दिव्यीकरण के देवयजन से वह दिन आये कि (ऋक्-सामाभ्यां यजुर्भिः) ऋग्वेद की स्तुति, सामवेद की उपासना और यजुर्वेद के श्रेष्ठकर्मविधायक मन्त्रों की साधना के द्वारा (रायः पोषेण, इषा) आत्मैश्वर्य के पोषण व दृढ़ेच्छाशक्ति के साथ (सं तरन्तः) सम्यक् तरते हुये, हम (सं मदेम) सम्यक् आनन्द भोगें, आनन्द का संसेवन करें।

ऋग्वेद से स्तुति की जाती है, यजुर्वेद से यजन किया जाता है, सामवेद से गीतिमय उपासना की जाती है, अथर्ववेद से रायस्पोषण किया जाता है। यहां ऋक् शब्द का प्रयोग स्तुति के अर्थ में, साम का प्रयोग उपासना के अर्थ में और यजुर्भिः का प्रयोग श्रेष्ठकर्मों के अर्थ में हुआ है। स्तुति, उपासना और श्रेष्ठकर्मों के अनुष्ठान से रायस्पोषण स्वयमेव प्राप्त होजाता है। स्तुति, उपासना और यजन [श्रेष्ठकर्मानुष्ठान]—साधना के ये तीन ही साधन हैं। अतः इन तीनों का यहां उल्लेख किया गया है।

इस साधनत्रय से जहां रायस्पोषण होता है, वहां इच्छाशक्ति का दृढ़ीकरण भी होता है। रायस्पोषण वह नौका है और दृढ़ेच्छा वह पतवार है, जिनके अवलम्ब से दिव्य जन दुःख और क्लेश को तरते हैं और आनन्द का आस्वादन करते हैं।

४) (इमाः देवीः आपः मे शं उ सन्तु) ये दिव्य धारायें मेरे लिये शमनकारिणी ही हों, ताप सन्ताप निवारिणी ही हों।

"मे" शब्द का प्रयोग व्यक्तिवाचक है। "मे" से तात्पर्य यहां "व्यक्ति-व्यक्ति अथवा जन-जन के लिये" से है, यद्यपि "मे" का शब्दार्थ "मेरे लिये" है। पृथिवी पर देवयजन की वे दिव्य धारायें सुप्रवाहित हों कि जन-जन बोल उठे, "ये दिव्य धारायें मेरे लिये शंकरी ही हों, मेरे लिये मुबारिक ही हों"।

५) (ओषधे) दोषनिवारक देवयजन ! (त्रायस्व) पृथिवी भर के प्राणियों के ताप सन्ताप का निवारण कर।

देवयजन से ही पृथिवी के प्राणियों के दुःख और सन्ताप का निवारण होगा, आसुरी कृत्यों से नहीं।

६) (स्व-धिते) आत्म-धारणे ! (एनं मा हिंसीः) इसको मत हिंस, इस देवयजन की हिंसा न कर, इस देवयजन का परित्याग न कर।

आत्म-धारणा से ही देवयजन का निरन्तर संचालन होता है। आत्मधारणा के शिथिल पड़ जाने पर देवयजन का प्रवाह मन्द पड़ जाता है या बन्द होजाता है।

प्राप्त कर लिया हमने देखो,
पृथिवी के इस देवयजन को,
जहां देव सब प्रीतिपूर्वक सेवन करते।
स्तुति और उपासना और सुकर्मों द्वारा,
होकर पुष्ट आत्मपुष्टि से दृढ़ इच्छा से,
तरते हुये सदा हम विचरें ब्रह्मानन्द में।
शमनकारिणी ही होवें ये,
मेरे लिये दिव्य धारायें।
तार ओषधे, त्याग न इसको आत्मधारणे ॥

सूक्ति—**ओषधे त्रायस्व ॥**
तार ओषधे ॥

आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु ।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि ।
दीक्षातपसोस्तनूरसि तां त्वा शिवां शग्मां परिदधे भद्रं वर्णं पुष्यन् ।।
[ऋ० १०.१७.१०, अ० ६.५१.२] (य० ४।२)

आपः अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नः घृत-प्वः पुनन्तु ।
विश्वं हि रिप्रं प्र-वहन्ति देवीः उत् इत् आभ्यः शुचिः आ पूतः एमि ।
दीक्षातपसोः तनूः असि तां त्वा शिवां शग्मां परि-दधे भद्रं वर्णं पुष्यन् ।।

१) (आपः मातरः अस्मान् शुन्धयन्तु) आपः मातायें हमें शोधें ।

२) (घृत-प्वः नः घृतेन पुनन्तु) घृत-पु हमें घृत से पवित्र करें ।

३) (देवीः हि विश्वं रिप्रं प्र-वहन्ति) दिव्यतायें ही समस्त मल को प्रवाहती हैं ।

४) (शुचिः पूतः) शुद्ध पवित्र मैं (आभ्यः इत्) इनसे ही (उत् आ एमि) उत्-गमन करता हूं ।

५) तू (दीक्षा-तपसोः तनूः असि). दीक्षा और तप की विस्तारिका है ।

६) (भद्रं वर्णं पुष्यन्) भद्र वर्ण को पुष्टता हुआ (तां त्वा शिवां शग्मां परि-दधे) उस तुझ शिवा शग्मा को परि-धारता हूं ।।

आपः विशेषण है मातरः का । आपः नाम जल का है । आपः मातरः से तात्पर्य है जल के समान शीतल, शान्त, सिंचनशीला, शोधयित्री माताओं से ।

अस्मान् तथा नः, दोनों ही शब्दों का अर्थ है हमको या हमें । यहां इनका प्रयोग समष्टि के लिये हुआ है और अहं या मैं का प्रयोग हुआ है व्यष्टि अथवा व्यक्ति के अर्थ में ।

घृतप्वः=घृत+प्वः=घृत से पवित्र करनेवाले । घृत स्निग्धता का प्रतीक है । स्निग्ध पदार्थ बुद्धिवर्धक होता है और प्रज्वलन भी करता है । बोधन और प्रज्वलन से निस्सन्देह शोधन अथवा पूतीकरण होता है । घृतप्वः से यहां तात्पर्य है घृतवत् सन्तान का शोधन, बोधन और प्रज्वलन करनेवाले पिता ।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति—मनुष्य व्रत से दीक्षा को प्राप्त होता है । वेद की इस उक्ति के अनुसार व्रत धारण करने का नाम दीक्षा है । व्रत धारण करके मनुष्य दीक्षित कहलाता है ।

संयम और श्रम के संयोग का नाम तप है । संयम से श्रम की सिद्धि होती है । संयम में श्रम निहित है । संयम आत्मा का विषय है और श्रम शरीर का । तप [संयम और श्रम] से ही दीक्षा सफल होती है ।

शग्म के दो अर्थ हैं—कर्म और सुख । कर्म से ही सुख की सिद्धि होती है । सुखप्रद सुकर्म का ही नाम शग्म है ।

भद्र शब्द दुरित का उल्टा है । जो कुछ दुः है, बुरा है, वह सब दुरित है । जो कुछ सु है, भला है, शुभ है, श्रेष्ठ है, वह सब भद्र है । वर्ण नाम वरणीयता का है । रङ्ग से रङ्गीनी अथवा वरणीयता आती है, इसी से वर्ण नाम रङ्ग का भी है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र स्व स्व वरणीयता विशेष के कारण ही वर्ण कहलाते हैं । "भद्र वर्ण" का प्रयोग

यहां शालीन सुधन्य सौन्दर्य के अर्थ में हुआ है।

१) इस पृथिवी के (अस्मान्) हम सब मानवों को (आपः मातरः) जलशीला मातायें (शुन्धयन्तु) शुद्ध करें।

आपः नाम जल का है। आपः शब्द यहां मातरः का विशेषण है। शीतलता, शोधन और सिंचन जल का गुण है। शीतल जल से सिंचन के अतिरिक्त शोधन भी होता है। सभी वस्तुयें जल से धुलकर शुद्ध होती हैं।

जल के समान शीतल, शान्त, सुशीला और सिंचनशीला मातायें मानव समाज के दिव्यीकरण का सर्वप्रथम और सर्वोपरि साधन हैं। मातायें ही मानव-सन्तति की आदि गुरु अथवा आदि आचार्य हैं। वे ही मानव-सन्तति की जन्मदात्री और जीवन-निर्मात्री हैं। पृथिवी के दिव्यीकरण के लिये आदर्श माताओं के निर्माण की अनिवार्यता प्रत्यक्ष है।

२) (घृत-प्वः) घृतवत् प्रबोध और प्रकाशन द्वारा पवित्रता करनेवाले पिता (घृतेन) स्नेहपूर्वक (नः) हम सब मानवों को (पुनन्तु) पवित्र करें।

दुग्ध अथवा दधि का प्रचुर विलोडन करने से मक्खन अथवा लौनी निकलती है। फिर मक्खन अथवा लौनी को तपाकर छाना जाता है। तब घृत तय्यार होता है। घृत के समान तपःपूत पिता मानव-सन्तति के दिव्यीकरण का द्वितीय साधन हैं। पिता ही मानव सन्तति के द्वितीय गुरु अथवा आचार्य हैं।

३) जब मातायें शोधयित्री और पिता पवित्रकर्ता होते हैं, तब ही मानव-सन्तति में दिव्यताओं का द्योतन होता है और तब (हि) ही (देवीः) दिव्यतायें, मानव और मानवता के (विश्वं रिप्रं) समस्त मल को, सम्पूर्ण दोषसमूह को (प्र-वहन्ति) बहा ले जाती हैं, धो डालती हैं।

४) दिव्यीकरण के इन दिव्य प्रवाहों में समुन्नत होता हुआ प्रत्येक मानव अनुभव करता है कि मैं (आभ्यः इत्) इन दिव्यताओं से ही (शुचिः पूतः) शुद्ध पवित्र होकर (उत् आ एमि) ऊपर उठ रहा हूं, उत्कृष्टता का सम्पादन कर रहा हूं।

५) दिव्यताओं की प्राप्ति के साथ ऊपर उठता मानव अनुभव करता है कि उसकी तनू दीक्षा और तप का साधन है और उसी भाव से वह कहता है—मेरी तनु ! तू (दीक्षा-तपसोः तनूः असि) दीक्षा और तप की विस्तारिका है।

तनू का अर्थ है विस्तार करनेवाली। विस्तार विकास का साधन होने से मानवशरीर तनू है। जब पृथिवी पर आसुरी माया प्रवाहित होती है तो प्रत्येक मानव समझता है कि मानवतनू भोग विलास के लिये है। जब पृथिवी पर दिव्यताओं का दिव्य प्रवाह प्रवाहित होता है तो जन जन अनुभव करता है कि मानवतनू दीक्षा और तप की सुविस्तारिका है। दीक्षा और तप के विस्तार से ही दिव्यताओं का द्योतन और पृथिवी का दिव्यीकरण होता है। देवयजन के लिये दीक्षा और तप के विस्तार की प्रत्यक्ष आवश्यकता है।

६) दीक्षा और तप से सुसंस्कृत मानव-तनू वह शिव और पुण्यकर्मा परिधान है, जिसका परिधारण करके मानव भद्र वर्ण का सुपोषण करता है। दीक्षा और तप से सुभूषित मानवतनू वह शिव सुन्दर पोषाक है, जिसे पहन कर मानव सुधन्य सौन्दर्य का सम्पादन करता हुआ सुखप्रद सुकर्म करता है। दिव्यताओं से द्योतित मानव इसी भाव

को प्रकाशित करता हुआ कह रहा है—मेरी तनु! दीक्षा और तप से तेरे (भद्रं वर्णं पुष्यन्) भद्र सौन्दर्य को पोषता-निखारता हुआ, मैं (तां त्वा शिवां शग्मां परि दधे) उस तुझ शिवा और सुकर्त्री को पहन रहा हूं।

शोधें हमें शुद्ध मातायें;
करें पवित्र हमें घृतपावन।
दिव्यतायें ही सकल मैल को,
धोकर कर देती हैं दूर।
शुद्ध पवित्र इन्हीं से होकर,
ऊपर उठता हूं मैं।
है तू सुविस्तारिका व्रतधारण और तप की,
उस तुझ शिवा सुसुखकर्त्री को,
पहिन रहा हूं भद्र वर्ण से वर्णित होकर॥

सूक्ति— **विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीः॥**
दिव्यतायें ही सम्पूर्ण मल को बहा ले जाती हैं॥
दीक्षातपसोस्तनूरसि॥
तनु! तू दीक्षा और तप की विस्तारिका है॥

महीनां पयोऽसि वर्चोदा असि वर्चो मे देहि।
वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि॥
(य० ४।३)

महीनां पयः असि वर्चःदाः असि वर्चः मे देहि।
वृत्रस्य असि कनीनकः चक्षुःदाः असि चक्षुः मे देहि॥

१) तू (महीनां पयः असि) महियों का दुग्धसार है।
२) तू (वर्चःदाः असि) वर्च-दा है, (मे वर्चः देहि) मेरे लिये वर्च दे।

३) तू (वृत्रस्य कनीनकः असि) वृत्र का कनीनक है।
४) तू (चक्षुःदाः असि) चक्षु-दा है, (मे चक्षुः देहि) मेरे लिये चक्षु दे॥

महा का अर्थ है बड़ा। मही का अर्थ है बड़ी। महान् या महती होने से मही नाम पृथिवी का भी है। यहां मही का प्रयोग महानता के अर्थ में हुआ है।

पय का अर्थ है पेय, पीने के योग्य। जो पीने योग्य है, वह पय अथवा पेय है। जो पीने योग्य नहीं है, वह अपय अथवा अपेय है। दुग्ध पय है, ओषधिसार पेय है। धूम्रपान अपय है, शराब अपेय है।

रूप, तेज और सौन्दर्य के संयोग का नाम वर्च है। आत्मस्वरूप, आत्मतेज और आत्मसौन्दर्य के समुच्चय के अर्थ में यहां वर्च शब्द का प्रयोग हुआ है।

वृतु वर्तने। जो कुछ वर्तता है, जो कुछ वर्तमान है, उस सबका नाम वृत्र है। यह अखिल ब्रह्माण्ड और इसमें व्यापक ब्रह्म सब वृत्र है।

कनीनक नाम आंख की पुतली का है। नेत्र में जो तिल है, वही कनीनक है। कनीनक का जो महत्त्व है, वह महत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अन्य किसी का नहीं है। कनीनक में जो चमत्कार है, उसके सामने अन्य सब चमत्कार सर्वथा नगण्य हैं—

देख छोटों को है भगवान् बड़ाई देता।
विश्व सब छोटे कनीनक में दिखाई देता॥

दिव्यताओं की प्राप्ति के साथ साथ ऊपर उठते हुये मानव ने पूर्व मन्त्र में मानव-तनू को सम्बोधन करते हुये कहा था, "मेरी तनु! तू दीक्षा और तप की विस्तारिका है"। इस मन्त्र में वह मानव-जीवन को सम्बोधन करता हुआ कहता है,

"मेरे जीवन ! तू (महीनां पयः असि) महानताओं का दुग्धसार है"।

सचमुच मानव-जीवन महानताओं का दुग्धसार है। वे कौनसी महानतायें हैं, जो मानवजीवन में निहित नहीं हैं और जो उसमें सम्पादित नहीं की जा सकती हैं। वे कौनसी महानतायें हैं, जिनका मानवजीवन से दोहन नहीं किया जा सकता है। महान् से महान् समस्त महानतायें मानवजीवन में अन्तर्निहित हैं, मानवजीवन में ही सम्पादित की जाती हैं और मानवजीवन से ही दुही जाती हैं।

"मेरे जीवन ! तू (वर्चःदाः असि, मे वर्चः देहि) वर्चोदा है, मुझे वर्च दे"।

मानव-जीवन वर्च का धाम है। अखिल सुरूपता, सम्पूर्ण तेज और सारा सौन्दर्य मानव-जीवन में ही सम्पादित किया जा सकता है। न केवल शारीरिक अपि तु आत्मिक सुरूपता, तेज और सौन्दर्य का प्रदाता भी यह मानव-जीवन ही है।

"मेरे जीवन ! तू (वृत्रस्य कनीनकः असि) तू ब्रह्म का और ब्रह्म के अखिल ब्रह्माण्ड का कनीनक है।

कनीनक में ही ईक्षण अथवा दर्शनशक्ति निहित है। कनीनक के बिना चक्षु देख नहीं पाता है। वैसे ही मानव-जीवन ही वह कनीनक है, जिसके द्वारा और जिसमें स्थित समाहित होकर आत्मा ब्रह्म का दर्शन तथा ब्रह्माण्ड के प्रत्येक तत्त्व का साक्षात्कार करता है।

"मेरे जीवन ! तू (चक्षुःदाः असि, मे चक्षुः देहि) चक्षुदा है, मुझे चक्षु दे।

चक्षि व्यक्तायां वाचि दर्शने च। चक्ष् धातु का अर्थ है स्पष्ट बोलना और दर्शन करना। चक्षु शब्द चक्ष् धातु के परिवार का है। चक्षु का अर्थ है दर्शन और वदन का साधन। दर्शन और वदन का पारस्परिक सम्बन्ध है। जब सत्य या तत्त्व का साक्षात् दर्शन होता है, तब ही सत्य या तत्त्व का वदन अथवा सुस्पष्ट वर्णन होता है। मानव-जीवन चक्षुदा है। मानव-जीवन में ही सत्य का दर्शन और तत्त्व का प्रवदन [प्रवचन] किया जाता है। और सत्य का दर्शन और तत्त्व का प्रवदन ही प्रमुख साधन हैं पृथिवी के दिव्यीकरण की सुसाधना के।

पृथिवी के दिव्यीकरण की सुसाधना का साधक अपने जीवन को नित्य सम्बोधन करता है—"मेरे जीवन ! तू महानताओं का दुग्धसार है। तू वर्चप्राप्ति का अमोघ साधन है। मुझे वर्च की प्राप्ति कराता रह। तू अखिल विश्व का कनीनक है, वह कनीनक, जिससे चक्षु [चक्षणशक्ति] की सम्प्राप्ति होती है। मुझे चक्षु [चक्षणशक्ति, दर्शन और वदन की क्षमता] देता रह, ताकि मैं पृथिवी का दिव्यीकरण करता रहूं"।

स्वजीवनसम्बोधन से ही महानताओं की प्राप्ति होती है। महानताओं की प्राप्ति से वर्च और चक्षणशक्ति की सम्प्राप्ति होती है। वर्च और चक्षणशक्ति से पृथिवी का दिव्यीकरण होता है। मानव-जीवन का यही दिव्य-याग है।

दुग्धसार है तू महानताओं का, जीवन !
है तू वर्चोदा प्रदान कर वर्च मुझे तू।
अखिल विश्व का तू ही कनीनक है, रे जीवन !
है तू चक्षुर्दा प्रदान कर चक्षु मुझे तू ॥

सूक्ति—**महीनां पयोऽसि ॥**

मानवजीवन ! तू महानताओं का दुग्धसार है ॥
वर्चोदा असि वर्चो मे देहि ॥
तू वर्चप्रदाता है, मुझे वर्च प्रदान कर ॥
वृत्रस्य असि कनीनकः ॥
तू अखिल विश्व [की आंख] का तिल है ॥
चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि ॥
तू चक्षुदाता है, मुझे चक्षु दे ॥

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता
पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ।
तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम् ।।

(य ४।४)

चित्-पतिः मा पुनातु वाक्-पतिः मा पुनातु देवः मा
सविता पुनातु अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ।
तस्य ते पवित्र-पते पवित्र-पूतस्य यत्-कामः पुने तत् शकेयम् ।।

१) (चित्-पतिः मा पुनातु) चित्पति मुझे पवित्र करे, (वाक्-पतिः मा पुनातु) वाक्पति मुझे पवित्र करे ।
२) (अच्छिद्रेण पवित्रेण) अच्छिद्र पवित्र से तथा (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की रश्मियों से (देवः सविता मा पुनातु) देव सविता मुझे पवित्र करे ।
३) (पवित्र-पते) ! (तस्य ते पवित्र-पूतस्य) उस तुझ पवित्र-पूत का (यत्-कामः) यत्काम मैं (पुने) पवित्र होता हूं, मैं (तत् शकेयं) वह सकूं ।।

आत्मा चित् है । चित्स्वरूप आत्मा की आत्मचेतना के प्रचेतित होने पर ही मानव-जीवन में पवित्रता का आधान होता है ।

आत्मा वाक्-पति है । मानव-पिंजड़े में जो तोता बोल रहा है, वह यह आत्मा ही है । चित्स्वरूप आत्मा की प्रचेतना के प्रचेतित होने पर आत्मा से जिस परा वाणी के स्रोत प्रस्फुटित होते हैं, वे मानव-जीवन का और मानव-समाज का पूतीकरण करनेवाले होते हैं ।

मन्त्र में चित्पति शब्द का प्रयोग आत्मप्रचेतना से प्रचेतित उस आत्मज्ञानी तत्त्वदर्शी प्रचेता के लिये हुआ है, जो अपनी आत्मप्रचेतना से जन-जन की आत्मप्रचेतना को जगाकर उनके जीवनों में पावमानी पवित्रता का सुप्रवाह प्रवाहित करता है । वाक्पति शब्द का प्रयोग हुआ है यहां उस सुपावन उपदेष्टा के लिये, आत्मसाधना द्वारा जिसकी अन्तःग्रन्थियों के खुल जाने पर जिसकी आत्मा से परा वाणी प्रसरित होती है ।

कोई यह न समझे कि मानव का जीवन स्वयमेव ही महानताओं का दुग्धसार बन जाता है, या स्वभाव से ही वर्चोदा होता है या अनायास ही अखिल विश्व का कनीनक [आंख का तारा] बनकर चक्षणशक्ति प्रदान करता है । मानव-जीवन में इन गुणों की प्रस्थापना साधना की अपेक्षा रखती है । मानव-जीवन इन विभूतियों से विभूषित तब ही होता है, जब चित्पति, वाक्पति और देव सविता उसे शुद्ध पवित्र करते हैं । इसी लिये मानव-जीवन बोल उठता है–(चित्पतिः मा पुनातु) प्रचेता मुझे पवित्र करे, (वाक्पतिः मा पुनातु) प्रवक्ता मुझे पवित्र करे ।

मानव-जीवन महानताओं का दुग्धसार, वर्चोदा तथा कनीनक तब बनता है, जब रचयिता, प्रेरक और प्रकाशक देव सविता उसे ज्ञानरूपी सूर्य की रश्मियों से सुरश्मित करके छिद्ररहित पवित्रता से पवित्र कर देता है । इसी भाव से मानव-जीवन पुनः बोल उठता है—(देवः) दिव्य, दिव्यताओं का पुञ्ज (सविता) रचयिता, प्रेरक और प्रकाशक प्रभु

(मा पुनातु) मुझे पवित्र करे और पवित्र रखे (अच्छिद्रेण पवित्रेण) छिद्ररहित साधनारूपी छाननी के द्वारा तथा (सूर्यस्य रश्मिभिः) ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों के द्वारा।

पवित्र नाम पवित्र पदार्थ का है, पवित्रता का है, पवित्र अन्तःकरण का है। पवित्र नाम छानने की चलनी, छालनी वा छाननी का है। जिस छाननी में छनकर घृत, दुग्ध, आटा, आदि पदार्थ पवित्र होते हैं, वह सच्छिद्र होती है। जिस छाननी से मानव-जीवन छनकर पवित्र होता है, वह वह छिद्ररहित छाननी है, जिसे साधना कहते हैं। साधनारूपी छिद्ररहित छाननी में छनकर ही मानव जीवन पवित्र होता है।

सूर्य की किरणें जहां अपने प्रकाश से भौतिक पदार्थों को प्रकाशित करती हैं, वहां वे अपने ताप से उन्हें पवित्र भी करती हैं। सूर्य की किरणें प्रकाशक भी हैं और पावक भी। सूर्य की किरणें भौतिक शरीर को ही पवित्र कर सकती हैं और भौतिक नेत्रों के प्रकाश को ही प्रकाशित करती हैं। वह तो ज्ञानरूपी सूर्य की विज्ञानमयी रश्मियां ही हैं, जो मानव के अन्तःजीवन का प्रकाशन और शोधन करती हैं।

स्वात्म स्वाभाविक पवित्रता से पूत सुपूत, शुद्ध संशुद्ध होने से परमात्मा पवित्रपूत है।

यत् का अर्थ है जो। कामः का अर्थ है कामना करनेवाला। जब जो कामना हो, तब उसी कामना की सुपूर्ति के लिये परमात्मा से याचना करनेवाले याचक का नाम यत्कामः है।

छिद्ररहित साधना भी तभी फलवती होती है, जब पवित्रता का परिपालक परमात्मदेव पवित्रताकामी की कामना को स्वीकार कर लेता है। इसी भावना से जीवन-साधक याचना कर रहा है— (पवित्र-पते) पवित्रता के प्रतिपालक प्रभो! मैं (तस्य ते पवित्र-पूतस्य) उस तुझ पवित्र-पूत का (यत्-कामः) याचक हूं। मैं तुझसे याचना करता हूं कि मैं सदा सर्वदा (पुने) पवित्र रहूं। मैं (तत् शकेयं) वह सकूं, वैसा कर सकूं, मैं सदा पवित्र रह सकूं। यही मेरी कामना है, यही मेरी याचना है।

करे पवित्र चित्पति मुझको,
करे पवित्र वाक्पति मुझको,
छिद्ररहित छननी से सन्तत,
और सूर्य की किरणों से।
हे पवित्र-पते याचक हूं,
मैं उस तुझ पवित्र-पूत का,
रहूं पवित्र सतत सन्तत मैं,
मैं पवित्र रह सकूं निरन्तर॥

आ वो देवास ईमहे वामं प्रयत्यध्वरे।
आ वो देवास आशिषो यज्ञियासो हवामहे॥

(य० ४।५)

आ वः देवासः ईमहे वामं प्रयति अध्वरे।
आ वः देवासः आशिषः यज्ञियासः हवामहे॥

१) (देवासः) देवो! दिव्य जनो! हम (अध्वरे प्रयति) अध्वर प्रयत्न में (वः वामं) तुम्हारे वाम को (आ ईमहे) याचते हैं।

२) (यज्ञियासः देवासः) यज्ञीय देवो! हम (वः आशिषः) तुम्हारी शुभ कामनायें (आ हवामहे) प्रार्थते हैं॥

चित्पतियों [प्रचेताओं] तथा वाक्यपतियों [प्रवक्ताओं] के लिये यहां देवासः शब्द का प्रयोग हुआ है। यज्ञियासः शब्द देवासः का विशेषण है। पूजनीय, संगकरणीय तथा दानीय-समर्पणीय देवों को यज्ञियासः देवासः कहते हैं। पूजार्ह, सत्संगार्ह और समर्पणार्ह देवों का नाम यज्ञीय देव है। पूजनीयों के सत्संग और पूजनीयों के प्रति समर्पित होने से सर्वजनों में दिव्यजनीयता आती है और पृथिवी का दिव्यीकरण होता है।

वाम का अर्थ सामान्यतः सुन्दर और प्रशंसनीय किया जाता है। जो वस्तु सुन्दर होती है, उसकी प्रशंसा की जाती है। जो प्रशस्त और प्रशंसनीय है, वही सुन्दर है। सुन्दर और प्रशस्त पत्नी पति के जिस अंग [पार्श्व] में विराजती है, उसका नाम वाम अंग होगया है। सौन्दर्य दो प्रकार का है—आन्तरिक और बाह्य। अन्तःसौन्दर्य का नाम है वाम और बाह्य सौन्दर्य का नाम है सुरूपता अथवा सुन्दरता। वाम का मूलार्थ है अन्तःरूप, अन्तःसौन्दर्य। शरीरसौन्दर्य भौतिक है और बाह्य है। आत्मसौन्दर्य वाम है, अभौतिक और आन्तरिक है।

ध्वर का अर्थ है कुटिल, तिरछा, हिंसामय। अध्वर का अर्थ है अकुटिल, सरल, अहिंसामय। ध्वर आसुरी सम्पत्ति है। अध्वर दैवी सम्पत्ति है। ध्वर से असुरता का विस्तार होता है, अध्वर से दिव्यता का।

देवयजन के यागियों में, पृथिवी के दिव्यीकरण के संसिद्ध साधकों में, कहीं अहंकार का अंकुर प्रस्फुटित न होजाये, एतदर्थ उन्हें यज्ञीय देवों का आशीर्वाद प्राप्त करते रहना चाहिये। जो अहंकारी होते हैं, वे अपने को ही सब कुछ समझते हैं और देवजनों का आदर सत्कार नहीं करते हैं। परिणामस्वरूप वे देवजनों के मार्गदर्शनयुक्त आशीर्वादों से वंचित रहते हैं और साधनापथ पर ठोकरें खाते हैं। जो संसिद्ध देवयाजक देवजनों के पथप्रदर्शनमय आशीर्वाद प्राप्त करते रहते हैं, वे सफलकाम होते हैं। सच्चे देवयाजक देवजनों का सम्मान करते हुये उनसे सदा विनय करते रहते हैं—

(देवासः) देवो ! हम देवयजन के इस (अध्वरे प्रयति) अकुटिल प्रयास में, निष्पाप प्रसाधना में (वः वामं आ ईमहे) तुम्हारे अन्तःसौन्दर्य को याचते हैं। हम निवेदन करते हैं कि तुम हमें आत्म-सौन्दर्य से सदा युक्त रखो, क्योंकि देवयजन अन्तःशोध का विषय है, बाह्य आडम्बर का नहीं।

(यज्ञियासः देवासः) यज्ञीय देवो ! देवयजन की इस निर्मल साधना में हम (वः आशिषः आ हवामहे) तुम्हारी आशीषें प्रार्थते हैं। हम प्रार्थना करते हैं कि तुम हमें अपनी आत्मिक शुभकामनायें सदा प्रदान करते रहो, क्योंकि देवयजन में देवजनों का पथप्रदर्शक आशीर्वाद सफलता प्राप्त कराता है।

देवो, इस निश्छल प्रयास में,
याचते हैं, हम वाम तुम्हारा।
प्रार्थते हैं, यज्ञीय देवो,
हम शुभ आशीषें तुम्हारी॥

स्वाहा यज्ञं मनसः स्वाहोरोरन्तरिक्षात्स्वाहा ।
द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा वातादारभे स्वाहा ।।
(य० ४।६)

स्वाहा यज्ञं मनसः स्वाहा उरोः अंतरिक्षात्
स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा वातात् आ-रभे स्वाहा ।।

मैं (यज्ञं आ-रभे) यज्ञ आरम्भ करता हूं (स्वाहा) स्वाहुति द्वारा, (मनसः स्वाहा) मन से स्वाहुति द्वारा, (उरोः अन्तरिक्षात् स्वाहा) विशाल अन्तरिक्ष से स्वाहुति द्वारा, (द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा) द्यौ और पृथिवी से स्वाहुति द्वारा (वातात् स्वाहा) वात से स्वाहुति द्वारा ।

स्वाहा नाम है स्व-आहुति अथवा आत्म-आहुति का। स्वाहा नाम है सु-आहुति का। स्व-आहुति ही सु-आहुति है। स्व-आहुति से बढ़कर अन्य कोई आहुति नहीं है। यज्ञ का प्रयोग हुआ है यहां देवयजन अथवा दिव्यीकरण की साधना के लिये।

केवल वाम और आशीर्वाद की प्राप्ति से ही पृथिवी के दिव्यीकरण का सुपावन यज्ञ सम्पन्न नहीं होजायेगा। यज्ञ का मूलमन्त्र तो स्वाहा है, स्व-आहुति है, स्व सर्वस्व की आहुति है। स्वाहा=स्व+आ+हा=स्व का+पूर्ण+त्याग [आहुति]।

अग्नियाग भी तो स्वाहा के द्वारा ही सम्पन्न होता है। स्व स्व पदार्थ की पूर्ण आहुति देने से ही अग्नियज्ञ होता है। स्वाहा कहते ही यज्ञ करनेवाले यज्ञाग्नि में अपने अपने पवित्र पदार्थ की पूर्ण आहुति देते हैं, अपनी अपनी पावन हवि और अपना अपना पुनीत घृत होमते हैं। तभी यज्ञ होता है और यज्ञ की सुगन्धि सब ओर व्यापती है। स्वाहा ही यज्ञ का आत्मा है।

इसी भावना से भावित होकर देवयजन के याजकों में से प्रत्येक याजक कह रहा है—

१) मैं (यज्ञं) पृथिवी के दिव्यीकरण के यज्ञ को (आ-रभे) आरम्भ कर रहा हूं, (स्वाहा) स्व-आहुति द्वारा।

देवयजन प्रारम्भ करने से पूर्व दिव्य याजक को स्व-आहुति और आत्म-बलिदान के लिये समुद्यत होना चाहिये। देवयजन का प्रारम्भ साथियों और साधनों के आश्रय से नहीं, आत्माश्रय से किया जाता है। स्व-आहुति देकर देवयजन प्रारम्भ करने के अनन्तर कालान्तर में असंख्य साथी और अनन्त साधन स्वयमेव चलते चले आयेंगे। प्रारम्भ तो स्वाहा से, पुनीत स्वाहुति से, स्व की सुपावन आहुति से ही करना होगा।

२) मैं (यज्ञं आ-रभे) देवयजन आरम्भ करता हूं, (मनसः स्वाहा) मन से स्वाहुति की भावना द्वारा।

देवयजन के लिये देवयाजक अपने मन से स्वाहुति की भावना को दृढ़ करता है। मन संकल्प का केन्द्र है। संकल्प की दृढ़ता ही है, जो हंसते हंसते स्व सर्वस्व की आहुति देकर मनुष्य जान की बाज़ी लड़ा देता है। मन ही आहुति और अनाहुति का कारण है। मन का संकल्प सत्य, शिव और अडिग होता है तो महान् से महान् बलिदान और साधना भी सरल प्रतीत होती है।

३) मैं (यज्ञं आ-रभे) देवयजन आरम्भ करता हूं, (उरोः अन्तरिक्षात् स्वाहा) विशाल अन्तरिक्ष से स्वाहुति की भावना प्राप्त करके।

देवयाजक अन्तरिक्ष [आकाश] की ओर दृष्टि डालता है और देखता है कि विशाल अन्तरिक्ष सर्वार्थ सुहुत होकर देवयजन कर रहा है। अन्तरिक्ष जहां एक ओर सर्वार्थ स्व सर्वस्व की आहुति दे रहा है, वहां दूसरी ओर वह कितना विशालाशय है कि समष्टि सृष्टि को, अखिल ब्रह्माण्ड को, अपने अन्तःकरण में समाये हुये है। देवयाजक को भी अन्तरिक्ष के समान न केवल स्व सर्वस्व को सुहुत करना होगा, अपि तु विशालाशय बनकर सम्पूर्ण पृथिवी को और पृथिवीवासियों को अपने हृदय में समाना होगा। देवयाजक के प्रति कोई कैसा भी भला बुरा बर्ताव करे, याजक तो सभी को हृदय से अपनायेगा।

४) मैं (यज्ञं आ-रभे) देवयजन आरम्भ कर रहा हूं, (द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा) द्यौ और पृथिवी से स्वाहुति की भावना लेकर।

देवयाजक द्यौलोक और पृथिवीलोक की ओर दृष्टि डालता है और देखता है कि वे दोनों लोक भी सर्वार्थ स्व सर्वस्व की आहुति देकर दिव्य याग कर रहे हैं। द्यौ के द्योतन और पृथिवी के भोजन प्राणीमात्र के लिये सुहुत होरहे हैं। द्यौ विश्व को प्रकाश प्रदान कररहा है तो पृथिवी सबका धारण पोषण कररही है। पृथिवी के दिव्यीकरण के लिये देवयाजक को द्यौ के समान सबका द्योतन तथा पृथिवी के समान सबका सहन और संवहन करना होगा।

५) मैं (यज्ञं आ-रभे) देवयजन आरम्भ करता हूं, (वातात् स्वाहा) वात से स्वाहुति की प्रेरणा लेकर।

वात नाम बादलों का वहन करनेवाले पवन [Monsoon] का है। देवयाजक वात की ओर दृष्टि घुमाता है और देखता है कि वात सागर से बादलों को लेजाकर दूर दूर वृष्टियों के रूप में स्वाहुतियां देरहा है और देशप्रदेशों को हरा भरा कर रहा है। पृथिवी के दिव्यीकरण के लिये साधक को ज्ञान विज्ञान, विद्या विवेक, स्वास्थ्य सौन्दर्य, आचार विचार, योग सुयोग आदि दिव्यताओं की सर्वत्र सुवृष्टि करनी होगी॥

करता हूं आरम्भ यज्ञ मैं,
स्व-आहुति सु-आहुति द्वारा,
मन से स्वाहुति और सु-आहुति,
स्व-आहुति महदन्तरिक्ष से.
द्यौ और पृथिवी से स्वाहुति,
स्वाहुति वृष्टिवह वायु से॥

आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा
दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णोऽग्नये स्वाहा।
आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष।
बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा॥ (य० ४।७)

आ-कूत्यै प्र-युजे अग्नये स्वाहा, मेधायै मनसे अग्नये स्वाहा,
दीक्षायै तपसे अग्नये स्वाहा, सरस्वत्यै पूष्णे अग्नये स्वाहा।
आपः देवीः बृहतीः विश्व-शंभुवः द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष।
बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा॥

१) (आ-कूत्यै) आकूत्यर्थ (प्र-युजे अग्नये स्वाहा) प्र-युक्त अग्नि के लिये स्वाहुति।

२) (मेधायै) मेधार्थ (मनसे अग्नये स्वाहा) मनः अग्नि के लिये स्वाहुति।

३) (दीक्षायै) दीक्षार्थ (तपसे अग्नये स्वाहा) तपः अग्नि के लिये स्वाहुति।

४) (सरस्वत्यै) सरस्वत्यर्थ (पूष्णे अग्नये स्वाहा) पूषा अग्नि के लिये स्वाहुति।

५) (देवीः बृहतीः विश्व-शंभुवः आपः द्यावापृथिवी) दिव्य बृहती सर्व-सुखयित्री जलधारायें तथा द्यौ और पृथिवी, (उरो अन्तरिक्ष) विशाल अन्तरिक्ष।

६) हम (हविषा) हवि द्वारा (बृहस्पतये) बृहस्पति के लिये (स्वाहा) स्वाहुत होकर (वि-धेम) वि-आधान करें।

सामान्यतः आकूति का अर्थ संकल्प किया जाता है। परन्तु आकूति और संकल्प में बहुत भेद है। आकूति आत्मा का विषय है, संकल्प मन का। कु शब्दे धातु से कूति शब्द बनता है। आ= आत्मा। कूति आवाज़। आकूति का अर्थ है आत्मा में सुनायी देनेवाली ब्रह्मप्रेरित ज्ञानमय कूति। इसी का नाम है अन्तःश्रुति। अन्तःश्रुति के द्वारा ही श्रुति का श्रवण किया जाता है।

मेधा नाम परा बुद्धि का है। मेधा नाम ज्ञान के उस अक्षय कोश का है, जो उपमस्तिष्क में संचित रहता है और जिसे योगी जन साधना द्वारा सुविकसित करते हैं। मेधा के सुविकसित होजाने पर ज्ञान विज्ञान के स्रोत सुप्रवाहित होते हैं, ज्योतिष्कोश सुरश्मित रहते हैं, प्रकाशकोश प्रखरित रहते हैं, विराट् का संदर्शन होता है और बुद्धि दिव्यता से आप्लावित रहती है।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति। मनुष्य व्रत से दीक्षा को प्राप्त करता है, व्रत धारण करके दीक्षित होता है। व्रतों के धारण और निर्वहन का नाम दीक्षा है।

सरस्वती वाङ्नाम। वाग्वै सरस्वती। सरस्वती नाम वाणी का है। प्रत्येक वाणी नहीं, केवल वह वाणी ही सरस्वती है, जिससे सरसता के साथ ज्ञान विज्ञान का प्रकाशन होता है। सरस्वती=सरस्+वती=सरसतामयी, सरसता के साथ सुप्रवाहित होकर सदाशय और सत्याशय प्रकट करनेवाली वाणी। ज्ञान ही पूषा है। ज्ञान ही है, जो वाणी को पुष्ट करता है। ज्ञान ही है, जो वाणी द्वारा प्रवाहित होता है।

बृहस्पतिः=बृहत्+पतिः। ब्रह्म वै बृहस्पतिः। ब्रह्म ही बृहस्पति है, महान् स्वामी है।

देवयजन का आरम्भ मन से स्वाहुति की भावना द्वारा किया जाता है, किन्तु अन्त तक उसकी सतत साधना के लिये आकूति, मेधा, दीक्षा और सरस्वती की अनिवार्य अपेक्षा रहती है। इस साधन-चतुष्टय से सदा सुसज्ज रहने के लिये देवयाजक चार विभिन्न अग्नियों में तपते हैं—

१) (आकूत्यै) अन्तःश्रुत्यर्थं वे (प्र-युजे अग्नये स्वाहा) प्र-युक्त अग्नि के लिये सुहुत रहते हैं।

अन्तःश्रुति से सुसम्पन्न रहने के लिये देवयाजक प्रयुक्त अग्नि के प्रति सुहुत रहते हैं। योग ही वह अग्नि है, जिससे सदा सर्वदा सुयुक्त रहने से अन्तःश्रुति की सम्प्राप्ति होती है।

२) (मेधायै) मेधार्थं वे (मनसे अग्नये स्वाहा) मनः अग्नि के लिये सुहुत रहते हैं।

मेधा के सुसम्पादन के लिये देवयाजक मनरूपी अग्नि के प्रति सुहुत होते हैं। मेधा और मन का

परस्पर अटूट सम्बन्ध है। मनरूपी अग्नि के प्रज्वलित और प्रकाशित रहने से मेधा के समस्त केन्द्र, कोश और प्रवाह सुविकसित और सुप्रवाहित रहते हैं।
३) (दीक्षायै) व्रतों के धारणार्थ तथा निर्वहनार्थ वे (तपसे अग्नये स्वाहा) तपः अग्नि के लिये सुहुत रहते हैं।

व्रतों के धारण और निर्वहन के लिये देवयाजक तपरूपी अग्नि के प्रति सुहुत रहते हैं। धारित व्रतों के निर्वहन के लिये तप की आवश्यकता प्रत्यक्ष है। बिना तप के व्रतों की साधना की ही नहीं जा सकती।
४) (सरस्वत्यै) वाणीप्रवाहार्थ वे (पूष्णे अग्नये स्वाहा) ज्ञान अग्नि के लिये सुहुत रहते हैं।

वाणी पर सरस्वती की स्थापना के लिये देवयाजक ज्ञानरूपी अग्नि के प्रति सुहुत रहते हैं।

सम्पूर्ण पृथिवी का दिव्यीकरण बड़ा कठिन और कठोर कार्य है। इसीसे तो उसके लिये देवयाजकों ने योगाग्नि में तपकर अन्तःश्रुति की, मनाग्नि में तपकर मेधा की, तपाग्नि में तपकर दीक्षा की और ज्ञानाग्नि में तपकर सरस्वती की संसाधना की है। फिर भी देवयाजक अनुभव कररहे हैं कि इस कठिन और कठोर साधना के लिये उन्हें ब्रह्मबल अथवा ब्राह्मशक्ति से भी नियुक्त रहना होगा। ब्रह्मबल से नियुक्त रहना तब ही सम्भव होगा, जब देवयाजक अपने को ब्रह्म में सुहुत और आधानित रखेंगे। लोहे की यदि इच्छा है कि वह सदा सर्वदा आग्नेय ताप से युक्त रहे तो उसे अग्नि में सुहुत होकर अग्नि में ही आधानित अथवा प्रस्थापित रहना होगा। इसी भावना से वे कह रहे हैं—देवयजनार्थ अन्तःश्रुति, मेधा, दीक्षा और सरस्वती से युक्त होकर हम (बृहस्पतये) ब्रह्म के प्रति (हविषा) हवि द्वारा, हवि की भावना से, हविवत्, पवित्र हवनसामग्री की तरह (स्वाहा) सुहुत होकर, ब्रह्म में ही (वि-धेम) वि-धारित/आधानित/प्रस्थापित रहें। किस प्रकार? जिस प्रकार (देवीः) दिव्य (बृहतीः) महती (विश्व-शंभुवः) सबके लिये सुख सम्पादन करनेवाली (आपः द्यावापृथिवी) जलधारायें तथा द्यौ व पृथिवी और (उरो अन्तरिक्ष) विशाल अन्तरिक्ष, सर्वहितार्थ समर्पित होकर सर्वहित में स्थित हैं।

अन्तःश्रुति के लिये, तपे हम योग अग्नि में।
और मेधा के लिये, तपे हम मनः अग्नि में।
व्रत-पालन के लिये, तपे हम तपः अग्नि में।
सरस्वती के लिये, तपे हम ज्ञान अग्नि में।
बृहस्पति के प्रति, रहें हम सतत प्रधारित;
होकर स्वाहुत सुहुत हविवत्॥
जैसे दिव्य बृहती सुखयित्री,
जलधारायें द्यौ और पृथिवी,
अन्तरिक्ष सुविशाल॥

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्।
विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा॥
[ऋ० ५. ५०. १, य० ११/६७, २२/२१] (य० ४/८)
विश्वः देवस्य नेतुः मर्तः वुरीत सख्यम्।
विश्वः राये इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा॥

१) (विश्वः मर्तः) सब मनुष्य (नेतुः देवस्य) नेतृ देव की (सख्यं) सख्यता को (वुरीत) वरण करे।
२) (विश्वः) सब कोई (राये) रै के लिये (इषुध्यति) वाण धारण कर रहा है।

३) मनुष्य (द्युम्नं वृणीत) द्युम्न वरण करे।
४) तू (स्वाहा) स्वाहुति द्वारा (पुष्यसे) पुष्ट होवे। [पुष्यसे क्रिया लेट्लकार का रूप है, जिसका प्रयोग केवल वेद में होता है]।

बृहस्पति को इस मन्त्र में नेतृ देव कथित किया गया है। अखिल ब्रह्माण्ड का नयन या संचालन करनेवाला होने से बृहस्पति नेतृ देव है।

रै और द्युम्न दोनों का प्रयोग धन के अर्थ में होता है। रै में संघर्ष का भाव है। जिस धनैश्वर्य के लिये इतना संघर्ष करना पड़े कि मन खिन्न रहे, उसे रै कहते हैं। द्यु+मन=द्युम्न। जो धन मन की द्युति अथवा प्रसन्नता के साथ प्राप्त होता है, उसे द्युम्न कहते हैं।

अन्तःश्रुति, मेधा, दीक्षा तथा सरस्वती से युक्त होकर और बृहस्पति में प्रस्थापित होकर पृथिवी के दिव्यीकरण के दिव्य याजक अपने दिव्य उपदेशों द्वारा जन जन को चेतायें। मानवमण्डल को उपदेश करने का अधिकार उन्हीं को होता है और जनों में आत्मप्रचेतना संचार करने की क्षमता उन्हीं देवयाजकों में होती है, जो आकूति मेधा दीक्षा और सरस्वती से सुसम्पन्न और आत्मना प्रभु में संस्थित होते हैं।

देवयाजक जन-जन को उपदेश करें—
१) (विश्वः मर्तः) सब मनुष्य, सब कोई मनुष्य, प्रत्येक मनुष्य (राये) खिन्न धन के लिये (इषुध्यति) तीर चला रहा है।
२) (विश्वः मर्तः) प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह (द्युम्नं वृणीत) प्रसन्न धन कमाये।
३) (विश्वः मर्तः) प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह (नेतुः देवस्य) नेतृ देव की (सख्यं वुरीत) सख्यता सम्पादन करे।
४) मानव! तुझे चाहिये कि (स्वाहा) स्वाहुतिपूर्ण आचरण से तू अपने जीवन को (पुष्यसे) पुष्ट करे।

जिस मनुष्य को देखिये, धन के लिये तीर ताने हुये फिर रहा है। जैसे शिकारी तीर कमान धारण करके रात दिन शिकार की तलाश में फिरता है और प्राणियों का वध करता है, वैसे ही मनुष्य धर्म अधर्म, पाप पुण्य, उचित अनुचित, हिंसा अहिंसा का विचार न करता हुआ धन के लिए अहर्निश मारा मारा फिरता है। परिणाम-स्वरूप वह स्वयं खिन्न रहता है और अन्यों को पीड़ा पहुंचाता है।

इस आसुरी अवस्था से त्राण दिलाने के लिये देवयाजक जन-जन को समझायें और सिखायें कि प्रत्येक मनुष्य वैसा और वैसी विधि से धन कमाये कि स्वयं भी प्रसन्न रहे और दूसरे भी प्रसन्न हों।

देवयाजक मानव प्रजा को यह भी सिखायें समझायें कि मनुष्य को भौतिक धन की प्राप्ति के साथ साथ आत्मिक धन की प्राप्ति भी करनी चाहिये, क्योंकि भौतिक धन यहां के यहीं रह जाते हैं। आत्मिक धन और आध्यात्मिक सम्पदायें ही हैं, जो साथ जाती हैं। भौतिक धन शरीर की सुख सुविधा के लिये होते हैं। आत्मिक धन आत्मा का कल्याण करते हैं और आत्मा को आनन्द की प्राप्ति कराते हैं। आत्मिक धन अथवा आध्यात्मिक सम्पदायें आत्मसाधना और परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासना से उपलब्ध होती हैं। देवयाजक अपनी दिव्य वाणियों से जन-जन के अन्तःकरण में अन्तःप्रेरणा करें कि प्रत्येक मनुष्य प्रभु की सख्यता सम्पादन करे, आत्मना प्रभु से आत्मसम्बन्ध स्थापन करे।

देवयाजकों की इन और ऐसी शिक्षाओं के सुप्रभाव से प्रत्येक मानव स्वाहुतिपूर्ण आचरण करके अपने जीवन को पुष्ट करे। इस प्रकार जन-जन का दिव्यीकरण होता चला जाये। स्वार्थपूर्ण आचरण से नहीं, स्वाहुतिपूर्ण आचरण से जीवन पुष्ट और पुष्पित होता है।

सब कोई मनुष्य फिरता है,
धारण किये वारण रैहेतु,
उचित यही नर द्युम्न कमाये।
नेतृ देव की सुखद सख्यता,
मनुज करे निश्चय सम्पादन।
स्वाहुतिपूर्ण आचरण द्वारा।
करे पुष्ट तू निज जीवन को॥
सूक्ति—देवस्य नेतुर्मर्तोवुरीत सख्यम्।
मनुष्य नेतृ देव की सख्यता सम्पादन करे॥

ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारभे ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः।
शर्मासि शर्म मे यच्छ नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः॥

(य० ४/९)

ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः ते वां आ-रभे ते मा पातं आ अस्य यज्ञस्य उत्-ऋचः।
शर्म असि शर्म मे यच्छ नमः ते अस्तु मा मा हिंसीः॥

१) तुम दोनों (ऋक्-सामयोः) ऋक् और साम के (शिल्पे स्थः) शिल्प हो।
२) मैं (ते वां आ-रभे) उन तुम दोनों को आरम्भ करता हूं।
३) (ते) वे तुम दोनों (अस्य यज्ञस्य उत्-ऋचः) इस यज्ञ के उत्-ऋचन से (मा आ पातं) मुझे/मेरी सर्वतः रक्षा करो।
४) तू (शर्म असि) शर्म है, (मे शर्म यच्छ) मेरे लिये शर्म दे, (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार हो, (मा मा हिंसीः) मुझे मत हिंस॥

शिल्प नाम कला का है। ऋग्वेद की कला है ज्ञानमय स्तुति और सामवेद की कला है उपासनामय गीति। पूर्व मन्त्र में नेतृ देव की सख्यता के वरण का उल्लेख किया गया है। यहां उस सख्यता की प्राप्ति के उपाय का वर्णन है। स्तुति और गीति ही दो कलायें हैं, जिनके द्वारा नेतृ देव का आत्म-सख्य सम्पादन किया जाता है। स्तुति से प्रीति और गीति से आत्मलीनता की प्राप्ति होती है। प्रीति और आत्मलीनता से नेतृ देव की सख्यता संसिद्ध होती है। इसी आशय से देवयाजक कह रहा है—स्तुते और गीते! तुम दोनों (ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः) ऋग्वेद और सामवेद की कला हो। नेतृ देव की सख्यता के सम्पादनार्थ मैं (ते वां आ-रभे) उन तुम दोनों को आरम्भ करता हूं, मैं उन तुम दोनों का अनुष्ठान प्रारम्भ करता हूं।

उत् का अर्थ है ऊंचा और ऋचन का अर्थ है ऋचना, नीचे गिरना, पतन होना। ऊपर उठकर नीचे गिरना उत्-ऋचन कहलाता है। ऊपर उठना उतना कठिन नहीं है, जितना कठिन है ऊपर उठकर उठे ही रहना और कभी पतनोन्मुख न होना। उत्थान को प्राप्त होकर सदा उत्थित रहना उसी देवयाजक के लिये सम्भव है, जो सतत सन्तत निरन्तर अनवरत नेतृ देव की संज्ञानमय सजग स्तुति और आत्मसमर्पणयुक्त उपासनामय गीति में लीन रहता हुआ देवयजन अथवा पृथिवी के दिव्यीकरण का अनुष्ठान करता रहता है। जो देवयाजक अहंकारजन्य प्रमाद से स्तुति और गीति

का आश्रय त्याग देता है, निस्सन्देह उसका पतन होजाता है। अतः आत्मशंसन करता हुआ देवयाजक सदा आत्मध्वनि करता रहे—स्तुते और गीते! (ते) वे तुम दोनों मुझे मेरे (अस्य यज्ञस्य) इस जीवनयज्ञ के (उत्-ऋचः) उत्-ऋचन से (मा आ पातं) मेरी सर्वतः रक्षा करती रहो। तुम्हारे आश्रय से मेरे जीवनयज्ञ का यह उत्थान सदा उत्थित बना रहे। मेरा कभी पतन न होने पाये।

शर्म का अर्थ है गृह और सुख। स्वगृह ही सुख का स्थल है। तनू [शरीर] निस्सन्देह वह गृह है, जिससे और जिसमें आत्मा को सर्वतः सुख की प्राप्ति होती है। देवयाजक की जीवनी हो सुखमयी, किन्तु साथ ही वह हो नमनीय भी, ऐसी नमनीय कि जन-जन उसे सर्वत्र नमस्कार करे, समादृत करे और वह हो ऐसी निरापद व निरामय कि उससे स्वात्मा को किसी प्रकार की हानि न होकर आत्मलाभ हो, लाभ ही लाभ हो। पतन से बचे रहने के लिये अपनी तनू को लक्ष्य करके देवयाजक सदा आत्मसम्बोधन करता रहे—मेरी तनु! तू मेरा, मुझ आत्मा का (शर्म असि, मे शर्म यच्छ) गृह है, मुझे सुख देती रह। सर्वत्र (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार हो। (मा मा हिंसीः) मुझे मत हिंस, कभी कदापि मेरी हानि न कर।

स्तुते गीते! तुम दोनों हो,
ऋक् और साम की ललित कलायें,
करता हूं आरम्भ मैं उन तुम दोनों ही को।
वे तुम दोनों रक्षा करती रहो,
उदृचन से मेरे इस जीवन-सुयाग को।
तू है मेरा गृह मुझे देती रहना सुख,
नमस्कार सर्वत्र सदा हो तेरे लिये,
कभी कदापि हानि न करना मेरे लिये॥

उर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्रदा ऊर्जं मयि धेहि। सोमस्य नीविरसि विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येन्द्रस्य योनिरसि सुसस्याः कृषीस्कृधि। उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्यंहस आस्य यज्ञस्योदृचः॥ (य० ४/१०)

ऊर्क् असि आंगिरसि ऊर्ण-म्रदाः ऊर्जं मयि धेहि। सोमस्य नीविः असि विष्णोः शर्म असि शर्म यजमानस्य इन्द्रस्य योनिः असि सुसस्याः कृषीः कृधि। उत्-श्रयस्व वनस्पते ऊर्ध्वः मा पाहि अंहसः आ अस्य यज्ञस्य उत्-ऋचः॥

पूर्व मन्त्र से तनू-सम्बोधन को जारी रखते हुये देवयाजक पुनः कहता है—

१) आंगिरसि! तू (ऊर्ण-म्रदाः असि) ऊर्ण-म्रदा है।

तनू के लिये यहां आंगिरसी शब्द का प्रयोग किया गया है। अंग-अंग में, प्रत्येक अवयव में, रस अथवा सरसता होने से मानव-तनू को आंगिरसी कहते हैं।

ऊर्ण नाम ऊन अथवा रेशे का है। म्रदा का अर्थ है सुकोमल। बहुत सुकोमल होने के कारण छुईमुई का पौधा भी ऊर्णम्रदा है। यह आंगिरसी कितनी भी सुन्दर और सुदृढ़ क्यों न हो, है छुईमुई और क्षणभंगुर ही। एक झटके में श्वास का तार टूट जाता है और क्षणभर में आंगिरसी कुम्हला जाती है।

२) आंगिरसि ! तू ऊर्णम्रदा है, सही। पर तू जब तक है, तब तक तो (मयि) मुझमें (ऊर्क्) सत्त्व और (ऊर्जं) पराक्रम (धेहि) धारण-स्थापन करती रह।

जब तक जीवन है, तब तक अनवरत, अन्तिम क्षण तक, देवयाजक की तनू सत्त्व से युक्त और पराक्रम से संयुक्त रहनी चाहिये। सत्त्वहीन और पराक्रमविहीन तनू से देवयजन सम्पादन नहीं किया जा सकता।

३) आंगिरसि ! तू (सोमस्य नीविः असि) सोम की नीवि है।

आत्मा वै सोमः। चन्द्रमा वै सोमः। सोम का प्रयोग यहां आत्मा के अर्थ में हुआ है। चन्द्रमा के समान आह्लादक होने से आत्मा सोम कहाता है। नीवि का अर्थ है पूंजी और मेखला। मेखला प्रतीक है तत्परता का। पूंजी और तत्परता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। पूंजी के बिना व्यापार व्यवसाय नहीं किया जा सकता है। आत्मा व्यापारी है और उसकी तनू है उसकी वह पूंजी, जिसके बिना आत्म-व्यापार नहीं किया जा सकता है। आत्मा जब तत्परता के साथ तनूरूपी पूंजी से व्यापार [साधना] करता है, तब ही वह लोक और परलोक के ऐश्वर्य सम्पादन करके दिव्यताओं से युक्त होता है और दिव्यीकरण कर पाता है।

४) आंगिरसि ! तू (विष्णोः शर्म असि) विष्णु का शर्म है।

विष्णु का अर्थ है सर्वव्यापक और शर्म नाम है सुख और गृह का। मानव-तनू विष्णु का गृह है, सर्वव्यापक भगवान् का मन्दिर है। तनू-मन्दिर की हृदय-गुहा में विष्णु भगवान् अपनी सम्पूर्ण दिव्यताओं के साथ विराज रहे हैं। विष्णु के इस सुखद मन्दिर में दिव्य चिन्तन, दिव्य भावनायें और दिव्य अनुष्ठान ही किये जाने चाहियें। इस मन्त्रांश से देवयाजक को यह दिव्य प्रेरणा मिल रही है।

५) आंगिरसि ! तू (यजमानस्य शर्म असि) यजमान का शर्म है, यजमान की यज्ञशाला है।

मानव-तनू आत्म-यजमान की यज्ञशाला है। आत्मा यजमान है और उसकी आंगिरसी तनू है उसकी यज्ञशाला। आत्म-यजमान की इस यज्ञशाला में यज्ञ ही किये जाने चाहियें, श्रेष्ठतम कर्म ही किये जाने चाहियें। देवयाजक इस मन्त्र-भाग से यह प्रेरणा प्राप्त कर रहा है।

६) आंगिरसि ! तू (इन्द्रस्य योनिः असि) आत्मा की योनि है।

योनियां न केवल चौरासी लाख हैं, अपि तु करोड़ों हैं, अरबों हैं, असंख्य हैं, जिनमें आत्मा आवागमन करता रहता है। उन सबमें से मानव-तनू ही आत्मा के लिये वह विशिष्ट सर्वश्रेष्ठ योनि है, जिसमें ज्ञान, कर्म और उपासना के अनुष्ठान से विष्णु का साक्षात्कार और मोक्ष की सम्प्राप्ति होती है। देवयाजक इस तथ्य को एक क्षण के लिये भी विस्मृत नहीं करता है।

७) अब देवयाजक अपने आत्मा को सम्बोधन करके कहता है—मेरे आत्मन् ! तेरा यह मानव-तनू एक क्षेत्र भी है और तू है इस क्षेत्र का कृषिवल [किसान]। इस क्षेत्र में तू (सु-सस्याः कृषीः कृधि) सु-उपजोंवाली कृषियां कर, सु-धान्योंवाली खेतियां कर। इसमें वह खेतियां कर कि तू लोक और परलोक के सुधान्यों से सम्पन्न होकर विश्व को दिव्यताओं से दिव्य और तृप्तियों से सन्तृप्त कर सके।

८) वनस्पतिः वनःपतिः। वन के पति अथवा वृक्षों के राजा का नाम वनस्पति है। वृक्षों में सुमहान् होने से वटवृक्ष को वनस्पति कहते हैं। वटवृक्ष का बीज अतिशय लघु होता है। उसी लघुतम बीज से सुविशाल वटवृक्ष इतना फैलता है कि उसकी छाया में हज़ारों प्राणी आश्रय लेते हैं। देवयाजक का जीवन भी वह वटवृक्ष बने कि उसकी छाया में और उसके आश्रय से असंख्य जनों के जीवन लाभान्वित हों। इसी दिव्य आकांक्षा का व्यक्तिकरण करता हुआ देवयाजक कह रहा है—मेरे (वनस्पते) जीवन-वटवृक्ष! (उत्-श्रयस्व) ऊंचा उठ, आरोहण कर, ऊपर उठकर फैल, सदा उच्चस्थ रह और (ऊर्ध्वः) उच्चस्थ तू (अस्य यज्ञस्य उत्-ऋचः) इस जीवन-यज्ञ के उत्-ऋचन से तथा (अंहसः) पाप से (मा आ पाहि) मुझे सर्वतः बचा, मेरी सर्वतः रक्षा कर।

पाप से ही उद्दचन [पतन] होता है। पाप आया कि पतन हुआ। निष्पापता से उत्थित जीवन सदा उत्थित रहता है। सपापता से उत्थित जीवन पतित होजाता है।

आंगिरसि! तू ऊर्णम्रद्रा है,
मुझमें सत्त्व पराक्रम धार।
आत्म-सोम की है तू नीवि,
और मन्दिर है तू विष्णु का।
यज्ञशील का यज्ञसदन तू,
और इन्द्र की है तू योनि।
सु-सस्या कृषियां कर इसमें।
वनस्पते! उच्चस्थ सदा रह,
उत्थित तू रक्षा करता रह,
मेरे इस जीवन-सुयाग की,
उद्दचन से और पाप से॥

व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः। दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसं सुतीर्था नो असद्वशे। ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा॥ (य० ४/११)

व्रतं कृणुत अग्निः ब्रह्म अग्निः यज्ञः वनस्पतिः यज्ञियः।
दैवीं धियं मनामहे सु-मृडीकां अभिष्टये वर्चःधां यज्ञ-वाहसं सु-तीर्था नः असत् वशे।
ये देवाः मनःजाताः मनःयुजः दक्ष—क्रतवः ते नः अवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा॥

एक-एक देवयाजक ने अपने तनू को सत्त्व और पराक्रम से युक्त कर लिया है, उसे परम पावन विष्णु भगवान् का पावन मन्दिर बना लिया है, उसे आत्मयज्ञमान की पुनीत यज्ञशाला बना लिया है। पाप और पतन से मुक्त और सर्वतः समुत्थित होकर वे अब पृथिवी के जन-जन को पतन और पाप से बचाने का दिव्य सन्देश दे रहे हैं, वे अपनी वाणी और अपने जीवनादर्श के द्वारा जन-जन के जीवन को दिव्य बनाने की सुप्रेरणा कर रहे हैं। लोग कहने लगते हैं, "देवो, तुम्हारा कथन सत्य है, तुम्हारा प्रयास स्तुत्य है। परन्तु हम साधारण जन अपने जीवनों को दिव्य बना सकेंगे, यह असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है"। लोगों की इस जनवदन्ती के उत्तर में देवयाजक कह रहे हैं—

१) लोगो! (व्रतं कृणुत) व्रत करो, व्रत धारण करो, व्रती बनो।

इसमें सन्देह नहीं कि जीवन के दिव्यीकरण की साधना दुस्तर है, किन्तु है करणीय और वाञ्छनीय। साधना कितनी भी कठिन क्यों न हो,

व्रती बनकर यथावत् अभ्यास करने से वह सरल और सुलभ होजाती है। अतः तुम आत्म-दिव्यीकरण का व्रत धारण करके तदर्थ साधना करो।

२) लोगो! (ब्रह्म अग्निः) ब्रह्म अग्नि है।

अग्नि पावक है, पवित्र करनेवाला है। अग्नि प्रकाशक है, प्रकाश करनेवाला है। जो भी पदार्थ अग्नि में समर्पित होजाता है, वह अग्निरूप होजाता है, पवित्र और प्रकाशयुक्त होजाता है। एवमेव यदि तुम आत्मना ब्रह्म में समर्पित और समाहित होने का अभ्यास करोगे तो पवित्र और प्रकाशित होकर, शुद्ध और बुद्ध बनकर, दिव्य बन जाओगे।

३) लोगो! (यज्ञः अग्नि) यज्ञ अग्नि है।

यज्ञ भी अग्नि है, पावक और प्रकाशक है, शोधक और बोधक है। यदि तुम अपनी जीवन-हवि को शोधकर दिव्यीकरण के यज्ञ में सुहुत करोगे तो निस्सन्देह तुम स्वयं दिव्य बनकर अपने दिव्य जीवनों से विश्व में दिव्यता की व्याप्ति कर सकोगे।

४) लोगो! (वनस्पतिः यज्ञियः) वनस्पति यज्ञीय है।

वटवृक्ष ही नहीं, सब ही वृक्ष, यज्ञीय हैं, अग्निहोत्रवत् परोपकारी हैं। वृक्ष अपने लिये नहीं फलते हैं, परार्थ फलते हैं। वृक्ष अपने फल स्वयं नहीं खाते हैं, दूसरों को खिलाते हैं। तुम वनस्पतिवत् यज्ञीय-परोपकारी बनो। तुममें यज्ञीयता आयेगी, दिव्यता समायेगी।

१) देवयाजकों के दिव्य वचनों से प्रेरित और प्रोत्साहित होकर लोग कहने लगते हैं—देवयाजको! (अभिष्टये) अभीष्ट के लिये, तुम्हारे द्वारा प्रेरित इस दिव्य साध की संसिद्धि के लिये, हम तुमसे (देवीं) देवी, दिव्य, (सु-मृडीकां) सु-सुखा, सुसुख-सम्पादिका, (वर्चःधां) वर्च-धारिका, रूप-तेज-सौन्दर्य-प्रस्थापिका, (यज्ञ-वाहसं) यज्ञ-वाहिका, दिव्यीकरण के यज्ञ का नयन करनेवाली, (सु-तीर्था) सु-तारिका, विघ्नबाधाओं से सुष्ठुतया पार उतारनेवाली, पाप ताप से उद्धारनेवाली (धियं) धारणा को (मनामहे) चाहते-याचते हैं। वह धारणा (नः वशे असत्) हमारे वश में होजाये।

धारणा निस्सन्देह दिव्यता की साधना का परम साधन है। धारणावान् व्यक्ति कठिन से कठिन साधना को सिद्ध कर दिखाते हैं। निरन्तर लक्ष्य की ओर अग्रसर करनेवाली निर्णायिक सुस्थिर मति का नाम धारणा है। धारणा का वशीकार होने पर मनुष्य धारणावान् बनता है। दिव्यीकरण के व्रतियों की धारणा कैसी हो? उनकी धारणा हो दैवी, सुमृडीका, वर्चोधा, यज्ञवाहस और सुतीर्था और हो साथ ही पूर्णतया वशीकृत, अविचल, अशिथिल, निश्चल, ध्रुव, स्थिर, सुस्थिर। देवयाजक जनता को वह प्रखर विचार और वह ध्रुव धारणा प्रदान करें कि समग्र जनता धारणावान् बनकर अपने जीवन को दिव्य बनाने और विश्व के दिव्यीकरण के यज्ञ का अनुष्ठान करने में सोत्साह तत्पर होजायें और तदर्थ सदा सन्नद्ध रहें।

२) साधारण जनों के लिये धारणा का वशीकार करके धारणावान् बनना और बने रहना कोई सामान्य कार्य नहीं है। इसके लिये मानव-समाज में एक विशेष वातावरण व्यापने की आवश्यकता होती है। इस वातावरण का सम्पादन प्रकाशित-मन, समाहित-मन कर्मकुशल देवयाजक ही कर सकते हैं। इसी तथ्य को अनुभव करते हुये सर्वजन कह रहे हैं—(ये) जो (मनःजाताः) मन से

प्रकाशित, प्रकाशित मनवाले, (मनःयुजः) मन से युक्त, समाहित-मन, योगयुक्त मनवाले (दक्ष-क्रतवः) दक्ष-क्रतु, कर्तृत्व-दक्ष, कर्मकुशल (देवाः) देव हैं, देवयाजक हैं, (ते नः अवन्तु) वे हमें / हमारी रक्षा करें, (ते नः पान्तु) वे हमें / हमारी सुरक्षा करें। वे अपनें उपदेश और अपनी प्रेरणाओं द्वारा हमें ऐसा धारणावान् बनाये रखें कि हम अपने जीवनों को दिव्य बनाने में सदा रत निरत रहें।

३) देवयाजकों की रक्षा सुरक्षा में आत्म-दिव्यता का सम्पादन करते हुये सर्वजन कृत्य-कृत्य होरहे हैं और देवयाजकों पर मुग्ध सुमुग्ध होकर कह रहे हैं—(तेभ्यः स्वाहा) उनके लिये स्वाहा, उन देवयाजकों के लिये हमारा स्व सर्वस्व समर्पित है, हम उन देवयाजकों के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण करते हैं।

करो व्रत तुम,
ब्रह्म अग्नि है,
यज्ञ अग्नि है,
वनस्पति यज्ञीय।
याचते हैं हम,
तुमसे धारणा,
दैवी सुसुखा,
वर्च-धारिका,
यज्ञ-वाहिका,
और सुतारिका,
अभीष्ट-सिद्धि के हेतु।
रहे धारणा सदा,
हमारे वश में।
प्रकाशित-मन,
समाहित-मन
कर्मकुशल जो देव,
रक्षा वे ही करें हमारी,
संरक्षा वे करें हमारी।
स्वाहा उनके लिये,
हमारा स्व और स्वसर्वस्व ॥

सूक्ति—**व्रतं कृणुत ॥**
व्रत करो, व्रती बनो ॥
दैवीं धियं मनामहे ॥
हम दैवी धारणा चाहते हैं ॥

श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः।
ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृधः ॥

(य० ४।१२)

श्वात्राः पीताः भवत यूयं आपः अस्माकं अन्तः उदरे सु-शेवाः।
ताः अस्मभ्यं अ-यक्ष्माः अन्-अमीवाः अनागसः स्वदन्तु देवीः अमृताः ऋत-वृधः ॥

श्वात्राः शब्द में आशुगामिता, शीघ्रता अथवा स्फूर्ति का भाव निहित है।

शेवृ सेवने। शेवृ धातु का अर्थ है सेवन या सेवा करना। सेवन या सेवा से सुख प्राप्त होता है। इसी से सु-शेवाः का अर्थ है सुसेवनीय, सुसेवायोग्य, सुसुखयित्री।

क्षय अथवा क्षीणता लानेवाली प्रत्येक चेष्टा वा क्रिया का नाम है यक्ष्मा। उन्माद अथवा बौद्धिक ह्रास का नाम भी यक्ष्मा है।

अमीव नाम रोग का है, प्रत्येक उस रोग का, जो रस अथवा धातु की अपरिपक्वता के कारण होता है।

यद्यपि अगस् अथवा अगः का अर्थ पाप किया जाता है, तथापि पाप और अगः में एक मौलिक भेद है। पाप मन का विषय है और अगः विचार का। वैचारिक पाप का नाम अगः है।

ऋत का प्रयोग यहां सत्य ज्ञान [Right knowledge] के अर्थ में हुआ है। ऋत शब्द का ही रूपान्तर अंग्रेज़ी का राइट [Right] शब्द है।

देवयाजकों की साधु साधनायें फलवती होरही हैं। उनकी सुप्रेरणायें दिव्य फल ला रही हैं। एक ओर मानव प्रजा व्रती बनकर और दैवी धारणा से युक्त होकर अपना दिव्यीकरण करती चली जारही है। दूसरी ओर प्रकाशित और समाहित मन वाले कर्मकुशल देवयाजक जनता की रक्षा संरक्षा करते हुये उनका मार्गदर्शन कर रहे हैं। जनता देवयाजकों पर मुग्ध सुमुग्ध होरही है और उनके चरणों पर अपना स्व सर्वस्व समर्पित करके उन्हें साधन-सम्पन्न बना रही है। मानव समाज में दिव्यता की सुपावन धारायें बह रही हैं। आनन्दविभोर हो हो कर मानव गीयमान होरहे हैं, तरंगित हो हो कर आनन्दगान कर रहे हैं— (आपः) दिव्यता की दिव्य धाराओ! (अस्माकं उदरे अन्तः) हमारे उदर के भीतर, हमारे अन्तः-करण में (पीताः) पीयी जाती हुयी (यूयं) तुम (श्वात्राः) स्फूर्तिदायिनी तथा (सु-शेवाः) सुसेवनीया और सुसुखयित्री (भवत) होती रहो। जिस प्रकार शीतल जल पिये जाने पर उदर में पहुंचकर चेतना और शान्ति प्रदान करते हैं, वैसे ही तुम आत्मसात् होकर हमारे अन्तःकरण में प्रचेतना और प्रशान्ति प्रस्थापन करो।

और दूसरे ही क्षण वे आत्मकामना करने लगते हैं—दिव्यता की (ताः) वे (अ-यक्ष्माः) क्षयरहित (अनु-अमीवाः) रोगरहित (अनु-अगसः) पापरहित (अमृताः) अमृतमयी (ऋत-वृधः) ऋत-वर्धिनी (देवीः) दिव्य धारायें (अस्मभ्यं) हमारे लिये (स्वदन्तु) स्वाद-स्वादिष्ठता करें।

दिव्यता की अमृतमयी दिव्य धारायें प्रत्यक्षतः सुसेवनीय होती हैं और सेवन की जाने पर वे जहां एक ओर अन्तःकरण में स्फूर्ति प्रदान करती हैं और परम सुखदायिनी होती हैं, वहीं वे दूसरी ओर क्षीणता, अपरिपक्वता तथा पाप से रक्षा करके ऋत की प्रापिका होती हैं। अस्वादु जीवनों को वे स्वादिष्ठ बनाती हैं।

धाराओ! तुम पीयी जाकर,
हमारे उदरों के भीतर,
होओ श्वात्रा और सुशेवा।
दिव्यतायें वे अक्षय रोगरहित निष्पाप,
अमृतमयी और ऋत-वर्धक,
करें हमारे लिये स्वादुता॥

इयं ते यज्ञिया तनूरपो मुञ्चामि न प्रजाम्।
अंहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशत पृथिव्या सम्भव॥ (य० ४।१३)
इयं ते यज्ञिया तनूः अपः मुञ्चामि न प्रजाम्।
अंहः-मुचः स्वाहा-कृताः पृथिवीं आ-विशत पृथिव्या सं-भव॥

देवयाजक अपने दिव्य जीवन से दिव्यता की सुपावन धारायें बहाये चला जारहा है। वह ज्यों ज्यों पृथिवी के दिव्यीकरण की साध में आगे बढ़ता है, त्यों त्यों उसके मार्ग की कठिनाइयां कठिन से कठिनतर होती दिखायी देती हैं। एक ओर स्वयं जनसमुदाय अपनी मानवी दुर्बलताओं

के कारण उठ उठ कर गिर गिर जाता है, तो दूसरी ओर निहितस्वार्थ असुर उनकी जान के ग्राहक हो रहे हैं। इन परिस्थितियों में अदम्य देवयाजक अपने वक्ष पर अपना दक्षिण हस्त रखकर स्वयं अपने आपको सम्बोधन करके कह रहा है—रे देवयाजक ! (ते इयं तनूः यज्ञिया) तेरी यह तनू यज्ञिया है, तेरी यह जीवनी यज्ञार्थ है, तेरी यह देह दिव्यीकरण के देवयाग में स्वाहा करने के लिये ही है। कुछ भी हो, तुझे अपनी इस जीवनहवि को इस दिव्य याग में होमते हुये चलना है।

जनविरोध का आत्मनिरोध के साथ साम्मुख्य करता हुआ देवयाजक पुनः पुनः कह उठता है—मैं (अपः मुञ्चामि) प्राणों को छोड़ता हूं, (न प्रजां) प्रजा-जनता को नहीं। मैं अपने प्राणों को त्याग दूंगा, जनहित और जनदिव्यीकरण का परित्याग कदापि न करूंगा। प्राणों के मूल्य पर भी मैं पृथिवी की प्रजा के दिव्यीकरण का यज्ञ किये ही चला जाऊंगा। [अपः वै प्राणाः]।

और साथ ही कुछ हतोत्साहित और शिथिल हुये से अपने साथी देवयाजकों को प्रोत्साहित करता हुआ वह अदम्य देवयाजक कहता है—देवयाजको ! तुम (अंहःमुचः) पाप-मोचक और (स्वाहाकृताः) स्वाहाकारी होकर (पृथिवीं आ-विशत) पृथिवी को प्रवेशो-व्यापो। यदि पृथिवी अंहपूर्ण है, पाप से पूरित है, तो तुम पृथिवी को पापमुक्त करो। यदि पृथिवी की प्रजा पतित है तो तुम पतितपावन बनकर उनका उद्धार और दिव्यीकरण करो। निस्सन्देह साध विकट और दुस्तर है। पर पीछे न हटो। अपने साहस और संबल को संभाल कर स्वसर्वस्व की आहुति दो और अपने व्रत को पूरा करो।

अन्त में अपने एक एक साथी देवयाजक को प्रोत्साहित करता हुआ अदम्य देवयाजक कहता है—यह ठीक है कि पृथिवी बहुत विशाल है और उसके दिव्यीकरण की समस्यायें बहुत अधिक हैं। किन्तु विकल्प एक ही है और वह यह कि तू (पृथिव्या सं-भव) पृथिवी के साथ संयुक्त होजा। सब समस्याओं का समाधान इसी में है कि तू पृथिवी के साथ जुट जा और पार्थिव समस्याओं का समाधान करके दिखा।

है यह तेरी तनू यज्ञिया,
प्राणों को त्यागूं न प्रजा को।
पाप-विमोचक स्वाहाकारियो,
व्याप जाओ सारी पृथिवी को।
पृथिवी से संयुक्त युक्त हो,
जुट पृथिवी से समाधान कर॥

सूक्ति—**इयं ते यज्ञिया तनूः।**
तेरी यह जीवनी यज्ञीया है।
पृथिव्या सं-भव।
पृथिवी से संयुक्त होजा॥

अग्ने त्वं सु जागृहि वयं सु मन्दिषीमहि।
रक्षा णो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि॥ (य० ४।१४)
अग्ने त्वं सु जागृहि वयं सु मन्दिषीमहि।
रक्ष नः अप्रयुच्छन् प्र-बुधे नः पुनः कृधि॥

पूर्व मन्त्र में अदम्य देवयाजक ने अपने हतोत्साहित साथियों को प्रोत्साहित करते हुए कहा था— "देवयाजको ! पापमोचक और स्वाहाकारी बनकर पृथिवी के दिव्यीकरण के लिये पृथिवी पर व्याप जाओ"। अपने नायक की सुप्रेरणा से प्रोत्साहित होकर वे पुनः साधनारूढ़

होते हैं और अपने दिव्य नायक से निवेदन करते हैं—

(अग्ने) अग्रणे ! नेतः ! नायक ! (त्वं सु जागृहि) तु सुष्ठुतया जागृत रह, हमारे प्रति इसी प्रकार सजग सावधान रहता हुआ हमें चेताता रह ।

तेरी जागरूकता से (वयं) हम (सु मन्दिषीमहि) सुष्ठुतया आनन्दित रहें, आनन्दपूर्वक इस दिव्य साध में रत निरत रहें ।

(अप्रयुच्छन्) प्रमाद न करता हुआ, सतर्क रहता हुआ, तू (नः) हमें/हमारी (रक्ष) रक्षा कर । सुरक्षापूर्वक हमारा मार्गदर्शन और पथप्रशस्तन करता रह ।

(नः पुनः प्र-बुधे कृधि) हमें पुनः पुनः प्रबोध में कर, हमें पुनः पुनः प्रबुद्ध करता रह ।

अग्ने सदा जागता रह तू,
हम आनन्दित रहें निरन्तर ।
रहता हुआ सतर्क हमारी रक्षा कर तू,
पुनः पुनः प्रबोध कराता रह तू सन्तत ॥

सूक्ति—**अग्ने त्वं सु जागृहि ॥**
नेतः ! तू सुष्ठुतया जागता रह ॥
वयं सु मन्दिषीमहि ॥
हम सुष्ठुतया आनन्दित रहें ॥
प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥
हमें पुनः पुनः जागृतावस्था में कर,
हमें पुनः पुनः प्रबुद्ध कर ॥

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन्
पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् । वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा
अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ (यo ४।१५)

पुनः मनः पुनः आयुः मे आ अगन् पुनः प्राणः पुनः आत्मा मे आ अगन् पुनः चक्षुः पुनः श्रोत्रं मे आ अगन् । वैश्वानरः अदब्धः तनू-पाः अग्निः नः पातु दुःइतात् अ-वद्यात् ॥

मन्त्र १३ में अदम्य देवयाजक ने अपने एक-एक साथी देवयाजक को प्रोत्साहित करते हुए कहा था—पृथिवी के दिव्यीकरण के मार्ग की समस्याओं के समाधान के लिये पृथिवी के साथ संयुक्त होजा । अपने नायक की इस उदात्त प्रेरणा से अनुप्राणित होकर प्रत्येक देवयाजक कह रहा है—दिव्य नेतः ! तेरी प्रेरणा से (मे) मेरे लिये, मुझे (पुनः मनः आ अगन् पुनः आयुः) पुनः मन आया और पुनः आयु, (मे पुनः प्राणः आ अगन् पुनः आत्मा) मेरे लिये पुनः प्राण आगया और पुनः आत्मा, (मे पुनः चक्षुः आ आगन् पुनः श्रोत्रं) मेरे लिये पुनः चक्षु आगया और पुनः श्रोत्र ।

मन के शिवसंकल्प की दृढ़ता और मन के उत्साह के बिना कोई भी साधना सिद्ध और सफल नहीं हो पाती है । संकल्प और उत्साह की शिथिलता का नाम है मन का जाना । संकल्प और उत्साह के पुनः प्रस्फुरित होने का नाम है मन का पुनः आना ।

जब मन चला जाता है तो जीवन निर्जीव होजाता है । जीवन के निर्जीव होने से स्वास्थ्य क्षीण होता है । निर्जीवता और स्वास्थ्यक्षीणता से आयु क्षीण होने लगती है, प्राण दुर्बल होने लगता है, आत्मबल का ह्रास होने लगता है, चक्षु [दर्शनशक्ति] और श्रोत्र [श्रवणशक्ति] क्षीण होने लगते हैं ।

जब मन पुनः आजाता है तो जीवन में सजीवता आजाती है। जीवन के सजीव होने से मनुष्य सर्वतः स्वस्थ होजाता है। सजीवता और स्वस्थता से आयु की वृद्धि होने लगती है, प्राण प्रबल होने लगता है, आत्मबल ठाठें मारने लगता है, चक्षु [दर्शनशक्ति] और श्रोत [श्रवणशक्ति] पुनः पूर्णता को प्राप्त होने लगते हैं।

इसी रहस्य की साक्षात् अनुभूति से अनुभूत होने पर एक-एक देवयाजक के मुंह से निकल रहा है—मेरा मन पुनः आगया है। मेरे जीवन में पुनः सजीवता आगयी है। मुझे नया जीवन और दीर्घायुष्यता प्राप्त होगयी है। मेरा प्राण पुनः सशक्त होगया है। मैं फिर आत्मबल से युक्त होगया हूं। मेरे चक्षु और मेरे श्रोत्र में पुनः पूर्णता परिपूर्णता आगयी है।

मन, आयु, प्राण, आत्मा, चक्षु और श्रोत्र के पुनरागमन से प्रत्येक देवयाजक का जीवन अब सर्वशः जीवित होगया है। जीवित जीवन से पुनः सजीव संजीव होकर समस्त देवयाजक प्रभु से प्रार्थना करने लगते हैं—(वैश्वानरः) विश्व-आ-नर, विश्व नायक (अदब्धः) अहिंस्य, अजर, अमर (तनू-पाः) जीवनरक्षक, जीवनों की रक्षा करनेवाला (अग्निः) प्रकाशस्वरूप देव (नः पातु) हमें बचाये, हमारी रक्षा करे, (दुःइतात्) दुःगति से, दुर्गति से तथा (अ-वद्यात्) अ-वद्य से, अ-प्रशस्ति से।

निर्जीवता और शिथिलता से दुर्गति और अप्रशस्ति होती है। सजीवता और संजीवता से प्रगति और प्रशस्ति होती है। प्रगति प्रशस्ति की जननी है। पृथिवी के दिव्यीकरण की प्रगति के लिये प्रशस्ति आवश्यक है। जिनकी प्रशस्ति और प्रतिष्ठा होती है, उन्हीं का संसार में मान और विश्वास होता है। देवयाजकों की जनता में प्रशस्ति और प्रतिष्ठा अपि च मान और विश्वास होगा, तभी जन-जन उनकी साध में सहायक होकर उनके साथ और उनके पीछे चलेगा और तभी सार्वभौम दिव्यीकरण की साध पूरी होगी।

पुनः आगया मेरा मन और मेरा आयु,
पुनः आगया मेरा प्राण और मेरा आत्मा,
पुनः आगया मेरा चक्षु और मेरा कर्ण।
विश्व-नियन्ता अमर तनूपा देव प्रकाशक,
हमें बचाये दुर्गति से और अप्रशस्ति से॥

सूक्ति—**अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्॥**
ब्रह्माग्नि दुर्गति और अप्रशस्ति से
हमारी रक्षा करे॥

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः।
रास्वेयत्सोमा भूयो भर देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात्॥
[ऋ० ८. ११. १, अ० १९. ५९. १] (य० ४।१६)
त्वं अग्ने व्रत-पाः असि देव आ मर्त्येषु आ। त्वं यज्ञेषु ईड्यः।
रास्व इयत् सोम आ भूयः भर देवः नः सविता वसोः दाता वसु अदात्॥

वैश्वानर अदब्ध अग्नि से अपनी प्रार्थना जारी रखते हुये देवयाजक विनय कर रहे हैं—

१) अग्ने! (त्वं व्रत-पाः असि) तू व्रत-पा है, व्रतों की रक्षा करनेवाला है, व्रतों का पालन करानेवाला है। हम व्रती हैं। हमने पृथिवी के दिव्यीकरण का व्रत धारण किया हुआ है। सर्वनियन्तः! हमारे व्रत की रक्षा कर। इस व्रत की संसिद्धि में हमें अविचलता के साथ निरत रख।

२) देव ! (आ मर्त्येषु आ) आ, मानवों में आ, इन मनुष्यों में प्रवेश कर।

अनात्मा हि मर्त्यः। मर्त्येति मनुष्य नाम। मरणधर्मा अथवा मरणशील का नाम मर्त्य है। मर्त्य नाम मनुष्य का भी है। शरीर मर्त्य है। आत्मा अमर्त्य है। शरीर से मनुष्य मरणधर्मा है, मरणशील है। आत्मना मनुष्य अमर्त्य है, अमृत है, न मरनेवाला है। मनुष्य आत्मा और अनात्मा का समुच्चय है। जनसाधारण आत्मा को भुलाकर अनात्मा में रत रहते हैं। इसीसे वे अमर्त्य होते हुये भी मर्त्य जैसे ही हैं। ऐसे मनुष्यों के लिये ही यहां मर्त्य शब्द का प्रयोग हुआ है।

पृथिवी भर के मर्त्यों का दिव्यीकरण तब ही होगा, जब उनमें स्वयं दिव्य देव का प्रवेश होगा, जब उनमें दिव्य देव की दिव्यता का संचार होगा। लोहा या कोयला अग्निरूप तब ही होता है, जब उसमें अग्नि का प्रवेश या संचार होता है। इसी भावना से देवयाजक निवेदन कर रहे हैं, "देव ! माया के रंग में रंगे हुये ये मानव दिव्य तब ही होंगे, जब तू स्वयं इनमें प्रविष्ट [प्रज्वलित] होकर, इनमें अपनी दिव्यता का संचार करेगा। देव, आ, इन मर्त्यों में प्रकट प्रकाशित होकर इन्हें दिव्य करदे"।

३) (त्वं यज्ञेषु ईड्यः) तू यज्ञों में स्तुत्य है।

प्रत्येक यज्ञीय अथवा श्रेष्ठ कर्म यज्ञ है। सभी यज्ञों में वह वैश्वानराग्नि स्तवनीय है, स्तुति किये जाने योग्य है। फिर पृथिवी के दिव्यीकरण का यज्ञ तो यज्ञीयतम और श्रेष्ठतम है। इस देवयजन में तो उसका भूयो भूयः स्तवन करना ही चाहिये। स्तुति से स्तोता स्तुत्य बन जाते हैं। स्तोता स्तुत के जिन जिन गुणों का स्तवन करते हैं, उन उन गुणों से वे स्वयं युक्त होजाते हैं। वैश्वानराग्नि की स्तुति करने से देवयाजकों में विश्व-नायकत्व की स्थापना होगी। विश्व के दिव्यीकरण के लिये विश्व-नायकत्व की प्रत्यक्षतः आवश्यकता है। इसी भावना से देवयाजक दिव्य देव से आत्म-निवेदन कररहे हैं—देव ! तू यज्ञों में स्तवनीय है। इस देवयजन में हम तेरा स्तवन करते हैं।

४) (सोम) ! (इयत् रास्व) इतना दे, (भूयः आ भर) बहुत भर दे।

सोमो वै सौम्यः। जिसमें सौम्यता होती है, उसे सोम कहते हैं। अतिशय प्रियता और आह्लाद का भाव भी सोम शब्द में है। सोम नाम चन्द्रमा का इसी लिये है कि चन्द्रमा अतिशय सौम्य, प्रिय और आह्लादक है। जो जितना सौम्य होता है, वह उतना ही प्रिय और आह्लादक होता है। वैश्वानराग्नि को ही ऊपर देव नाम से पुकारा गया है और उसी को यहां सोम नाम से सम्बोधित किया गया है। जो अपना अतिशय प्रिय होता है, उसीसे मांगा जाता है और वह ही मांगने वाले की झोली भरता है।

पृथिवी के दिव्यीकरण की साध जहां तपःसाध्य है, वहां द्रव्य-साध्य भी है। देवयाजक प्रार्थना कर रहे हैं—सोम ! इतना दे कि पृथिवी के दिव्यीकरण के इस देवयजन की साध सुचारुता के साथ पूरी होजाये। इस यज्ञ में जहां आध्यात्मिक साधना की अपेक्षा है, वहां भौतिक साधनों की अपेक्षा भी है। उसी के दिव्य कार्य के लिये उससे मांगा जायेगा, तो उसकी प्रेरणा से अवश्यमेव सब कुछ मिलेगा।

५) (वसोः दाता देवः सविता) ऐश्वर्य के दाता देव सविता नें (नः वसु अदात्) हमें ऐश्वर्य देदिया, हमें धन प्रदान करदिया ।

वस निवासे । वास, निवास अथवा जीवन के साधन का नाम वसु है । जीवन का साधन होने से ही धन वसु है, आत्मा वसु है, ब्रह्म वसु है, प्राण वसु है, आवास वसु है, ज्ञान वसु है, विज्ञान वसु है । अनन्ता वै वसवः । वसु अनन्त हैं । यहां वसु का प्रयोग धन के अर्थ में हुआ है ।

भला यह हो सकता था कि उस महा दानी वैश्वानराग्नि से धन मांगा जाता और न मिलता । वह तो देव सविता है, दिव्य प्रसविता है, सकल दिव्य ऐश्वर्यों का सम्पादक है । उसके सकल ऐश्वर्य देने के लिये ही हैं । देवयाजकों ने उसी के कार्य के लिये उससे मांगा और उसने उनकी झोलियां भरदीं । उस परम धनपति के अनन्त धन हैं । उन्हें वह अपने याचकों को यथापात्र अनवरत देता रहता है ।

अग्ने तू व्रतों का पालक,
आ, इन मर्त्यों में आ, देव,
स्तवनीय है तू यज्ञों में ।
सोम, दे इतना, भूरि भर दे,
वसु के दाता देव सविता ने,
हमें कर दिया वसु प्रदान ।।

सूक्ति—**त्वमग्ने व्रतपा असि ।।**
प्रभो, तू व्रतों की रक्षा करनेवाला है ।
देव आ मर्त्येष्वा ।।
देव, आ, मर्त्यों में आ ।।
त्वं यज्ञेष्वीड्यः ।।
तू यज्ञों में स्तवनीय है ।।

एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तया सम्भव भ्राजं गच्छ ।
जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे । (य० ४।१७)

एषा ते शुक्र तनूः एतत् वर्चः तया सं-भव भ्राजं गच्छ ।
जूः असि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे ।।

शुक्र का अर्थ हैं नितान्त शुद्ध, अतिशय पवित्र । परमात्मा शुक्र है । आत्मा शुक्र है । देवयाजक शुक्र है ।

तनु विस्तारे । विस्तार विकास का साधन होने से मानव की इस जीवनी का नाम तनू है ।

रूप, तेज और सौन्दर्य के संयोग का नाम वर्च है । सुरूपता, तेजस्विता और सुन्दरता से जो सम्मोहकता झलकती है, उसे वर्च कहते हैं ।

भ्राजृ दीप्तौ । भ्राज नाम दीप्ति का है, उस अन्तःदीप्ति का, जो अन्धकार को हटाकर प्रकाश पूर देती है ।

जू नाम है पवन के उस वेग का, जो वृक्षों, भवनों और पर्वतों को झकझोर कर नीचे गिरा देता है ।

धृञ धारणे । जुषी प्रीतिसेवनयोः । धृता का अर्थ है धारित, संधारित, सुपोषित, परिष्कृत, सुसंस्कृत । जुष्टा का अर्थ है प्रीतिपूर्वक सेवनीय, सप्रेम साधनीय, सस्नेह सेवन की जाने योग्य । शरीर सम्पूर्ण साधनाओं का साधन है । इसीलिये देवयाजक साधना द्वारा अपनी तनू को धृता और जुष्टा बनाता है ।

यज्ञो वै विष्णुः । वीर्यं विष्णुः । विष्णुरयं लोकः । अदितिरियं विष्णुः ।

विष्लृ व्याप्तौ। विष्णु शब्द का अर्थ है व्यापक। व्यापक सत्ता या कर्म का नाम विष्णु है। यज्ञ [अग्निहोत्र] से सुगन्धि व्यापती है, इसीसे यज्ञ विष्णु है। वीर्य [पराक्रम] के द्वारा मनुष्य व्यापता है, इसीसे वीर्य विष्णु है। यह लोक, यह अदिति, यह पृथिवी, व्यापनशीला [विस्तारमयी] होने से विष्णु है। अखिल ब्रह्माण्ड में व्यापा हुआ होने से परमात्मा विष्णु है। यहां विष्णु शब्द का प्रयोग पृथिवी के लिये हुआ है।

देवयाजक ने पृथिवी के दिव्यीकरण के लिये धनदाता देव सविता से धन मांगा और उसे धन मिल गया। किन्तु वह अब यह भी साक्षात् अनुभव करता है कि धन अथवा भौतिक साधनों का दिव्यीकरण की साधना में गौण स्थान है, प्रमुख नहीं। इस दिव्य साध की सिद्धि में प्रमुख स्थान स्वयं साधक के अपने आत्मा और उसकी अपनी तनू का है। यदि उसका अपना आत्मा निर्मल और उसकी अपनी तनू धृता और जुष्टा है, तो ही धन और भौतिक साधन वरदान सिद्ध होंगे। इस अनुभूति के साथ अनायास ही वह आत्मसम्बोधन करता हुआ अपने आपसे बातें करने लगता है—

१) मेरे (शुक्र) संशुद्ध आत्मन्! तेरा (एतत् वर्चः) यह वर्च है। तेरी तनू में जो वर्च है, वह तेरा ही है। (भ्राजं गच्छ) दीप्ति को प्राप्त कर। उस दीप्ति का सम्पादन कर, उस आत्मदीप्ति से युक्त रह, जो जन-जन के अज्ञानान्धकार को तिरोहित करके उनमें ज्ञान का प्रखर प्रकाश फैलादे। तू (जूः असि) वेगवान् है, ऐसा वेगवान् कि बाधाओं और आपत्तियों की चट्टानों को चूर चूर करदे।

२) और मेरे (शुक्र) सुपावन आत्मन्! (एषा धृता जुष्टा तनूः) यह सुसंस्कृत और सुसेवनीय तनू (ते) तेरी है, तेरे लिये है। (विष्णवे) पृथिवी के लिये, पृथिवी के दिव्यीकरण के लिये, (तया) उस [तनू] से और तनू में संस्थित (मनसा) मन से (सं-भव) संयुक्त हो, संयुक्त रह, सम्यक् सम्पन्न रह।

शुक्र ! वर्च यह,
सम्पादन कर आत्मदीप्ति का,
वेगवान् तू।
यह सुसेवनीया सुसंस्कृता,
तनू है तेरी, तेरे लिये,
दिव्यीकरण के हेतु पृथिवी के,
उससे मनसे रह सम्पन्न ॥

तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा।
शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि ॥ (य० ४।१८)

तस्याः ते सत्य-सवसः प्र-सवे तन्वः यन्त्रं अशीय स्वाहा।
शुक्रं असि चन्द्रं असि अमृतं असि वैश्व-देवं असि ॥

षू प्रेरणे धातु से सव और प्रसव शब्दों की उत्पत्ति हुई है। सव का अर्थ है प्रेरणा। प्रसव का अर्थ है सुप्रेरणा।

देवयाजक पुनः अनुभव करता है कि पृथिवी के दिव्यीकरण में प्रमुख स्थान यद्यपि उसके अपने आत्मा और उसकी अपनी तनू का है, तथापि केवल आत्मावलम्ब से यह महतो महान् और उदात्तोदात्त साधना सफल होनेवाली नहीं है। इस साधना का परम अवलम्ब तो केवल सत्यस्वरूप परमात्मा है। साधना की निश्चित

और पूर्ण सिद्धि तो तब ही होगी, जब सत्य का प्रेरक परमात्मा अपनी सुप्रेरणा से उसे सर्वत्र सत्य पथ और सत्य पग सुझायेगा । इसी भाव से भावित होकर वह प्रभु से प्रार्थना करने लगता है—प्रभो ! तू (शुक्रं असि) परम शुद्ध है, (चन्द्रं असि) आह्लादक है, (अमृतं असि) अमृतमय है, (वैश्व-देवं असि) वैश्व-देव है, अखिल विश्व का द्योतन करनेवाला है । मैं तेरे प्रति (स्वाहा) सुहुत समर्पित रहूं । (सत्य-सवसः) सत्य-प्रेरक की [सत्प्रेरणे !], मैं (तस्याः ते) उस तेरी (प्र-सवे) सुप्रेरणा में (तन्वः यन्त्रं) तनू के यन्त्र को (अशीय) सेवन करूं, साधना-रत रखूं ।

देवयाजक का तनू एक यन्त्र है, जिसका सुष्ठु संचालन परम पावन, परम आह्लादक, अमृतमय और विश्वद्योतक प्रभु से ही होता है । जब देवयाजक अपने जीवन-यन्त्र का प्रेरक स्वयं भगवान् को बना लेता है, तब ही वह दिव्यीकरण के सुपथ पर दृढ़ता और तीव्रता के साथ चल पाता है और तब ही वह अन्त तक निरन्तर साधनारत रह पाता है । परन्तु जीवन-रथ-का संचालक प्रभु तब ही बनता है, जब देवयाजक प्रभु के प्रति सर्वात्मना समर्पित रहता है ।

तू है शुक्र, चन्द्र, और अमृत,
वैश्व-देव है स्वयं तू ।
सत्य-सवस् की सत्य प्रेरणे,
उस तेरे ही सत्यप्रेरण में,
जीवन-यन्त्र चले यह मेरा ॥

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि
यज्ञियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी ।
सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां
पूषाध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय ॥ (य० ४।१९)

चित् असि मना असि धीः असि दक्षिणा असि क्षत्रिया असि
यज्ञिया असि अदितिः असि उभयः शीर्ष्णी ।
सा नः सु-प्राची सु-प्रतीची एधि मित्रः त्वा पदि बध्नीतां
पूषा अध्वनः पातु इन्द्राय अधि-अक्षाय ॥

सत्यप्रेरक देव की सत्प्रेरणा में देवयाजक साधनापथ पर बढ़ा चला जारहा है । वह देखता है कि पद-पद पर उसके सामने विघ्नबाधाओं के पर्वत खड़े हैं, पग-पग पर सजीली मोहनी माया उसका सत् डिगाने के लिये उसके आगे अड़ी है । वह अपने संबल को तोलने लगता है । प्रथम अपने आत्मा को सम्बोधन करता हुआ वह कहता है—मेरे आत्मन् ! तू (चित् असि) चित् है, चेतन है, ज्ञानवान् है । तुझमें चेतना है । यह अचेतन जड़ माया और मायाजन्य ये विघ्नबाधायें तेरा क्या साम्मुख्य करेंगी । अचेतन की क्या मजाल कि चेतन को परास्त कर सके । तेरी चेतना के सामने माया की मोहकतायें और विघ्नबाधायें टिक नहीं सकतीं ।

माया के प्रबल आवेगों और तज्जन्य विघ्नबाधाओं के पर्वतों से टकराता हुआ देवयाजक

अब अपनी काया को सम्बोधन करता है—
१) काये ! तू (मना असि) मनवाली है। तुझमें वह जीता जागता मन निहित है, जो तीव्रगामी और ज्योतियों की ज्योति है, जिसकी सहायता से साधक जन दिव्य कर्मों का अनुष्ठान करते हैं और धीर जन जीवन-संग्रामों में विजय सम्पादन करते हैं।
२) मेरी देह ! तू (धीः असि) धारणावती है। तेरे पास वह ध्रुव धारणा है, जिसके बोध प्रबोध से अखिल दुरितों का निवारण होता है।
३) मेरी देह ! तू (दक्षिणा असि) दक्षता-निधि है। जीवित मन से युक्त और ध्रुव धारणा से सुयुक्त होकर तू अक्षय दक्षता की साक्षात् निधि है। तेरी दक्षता से सकल दुर्भूत नितान्त पराभूत होजाते हैं।
४) मेरी जीवनि ! तू (क्षत्रिया असि) क्षत्रिया है। सुमन, सुधारणा और दक्षता से सम्पन्न होकर तू समस्त क्षतियों का क्षय करके क्षत्र का, धर्मक्षत्र का, आत्मक्षत्र का, आत्मराज्य का आधार और आश्रय है।
५) मेरी जीवनि ! तू (यज्ञिया असि) यज्ञिया है, सुपूज्या है, सम्पूज्या है। सुमन, सुधारणा, सुदक्षता और सुक्षत्र से सुनिष्पन्न होकर तू अखिल विघ्नों का निवारण करती है और देवयजनों की याज्ञिका बन जाती है।
६) मेरी जीवनि ! तू (अदितिः असि) अदीना है। सुमन, सुधारणा, सुदक्षता, सुक्षत्र और यज्ञीयता से युक्त होकर तू अखिल दीनताओं से मुक्त होजाती है।
७) मेरी तनु ! तू (उभयतः शीर्ष्णी) दोनों ओर शिरवाली है। सुमन, सुधारणा, सुदक्षता, सुक्षत्र, यज्ञीयता और अदीनता से सुसज्ज होकर तू उभय-शिरा होजाती है, लोक और परलोक दोनों ओर शिरण [संघर्ष] करनेवाली बन जाती है, उभय-योधिनी बनकर तू उभयतः युद्ध करती है।

आत्म-चेतना और जीवन-सम्पत्ति से सम्पन्न होकर देवयजन के मार्ग की बाधाओं का बाधन करता हुआ देवयाजक अन्त तक पृथिवी के दिव्यीकरण की साधना करता रहा। वह जीते जी सुप्राची रहा और सुप्रतीची बनकर उसने महा प्रयाण किया। प्राची [पूर्व दिशा] सूर्य के उदय की दिशा है और प्रतीची [पश्चिम दिशा] सूर्य के अस्त की दिशा है। प्राची नाम उदयन अथवा प्रादुर्भवन का है और प्रतीची नाम अस्त अथवा अदर्शन [अदृश्य होने] का है। सूर्य के समान उदित रहते हुए देवयाजक ने पृथिवी पर देवयजन किया और लोक परलोक की विजय सम्पादन करके वह सूर्य के समान ब्रह्मलोक में अस्त [विलीन] हुआ।

उस आदर्श देवयाजक के आदर्शों से प्रस्फुरित होकर अन्य देवयाजक अपनी अपनी जीवनी को सम्बोधन करने लगते हैं—जीवनि ! (सा) वह तू (नः) हमारे लिये (सु-प्राची सु-प्रतीची एधि) सुप्राची और सुप्रतीची हो। हम भी यावज्जीवन समुदित रहते हुए निरन्तर देवयजन करते रहें और अन्त में आत्मना ब्रह्मलोक में अस्त [प्रविष्ट] होजायें।

आदर्श देवयाजक के आदर्शों से प्रभावित होकर प्रत्येक देवयाजक अपनी जीवनी को लक्ष्य करके कह रहा है—मेरी प्यारी तनु ! (इन्द्राय अध्यक्षाय) इन्द्र अध्यक्ष के लिये (मित्रः) प्राण (त्वा) तुझे (पदि) साधना में (बध्नीतां) बांधे

रहे और (पूषा) मन (त्वा) तुझे (अध्वनः) पथ से (पातु) बचाये।

इन्द्रियों का स्वामी होने से आत्मा की इन्द्र संज्ञा है और देह का अधि-अक्ष होने से वह अध्यक्ष है।

प्राणो मित्रः। प्राण मित्र है। प्राण जीवन का परम मित्र है। प्राण मित्रवत् जीवनी को जीवन से बांधे रहता है।

पद गतौ। पदि=पद्यते प्राप्नोति येन साधनेन तस्मिन्। जिस साधना से साधा या प्राप्त किया जाता है, उसे पद् कहते हैं। इस प्रकार यहां पद् का अर्थ है साधना और पदि का अर्थ है साधना में।

एष वै मनः पूषा। यह मन निश्चय ही पूषा है, जीवनी का पोषक है। पुष्ट मन जीवनी का पोषक होता है, अपुष्ट अपोषक। मन के पुष्ट होने पर कृश काया भी पराक्रमशालिनी होजाती है।

प्राण साधना का प्रतीक है और मन प्रेरणा का। निर्विश्राम, निर्यश, निर्विषय और निर्विकार रहता हुआ प्राण जीवनी की साधना करता है और मन देहरथ का प्रेरण अथवा संचालन करता है। देवयाजकों ने कितनी सुन्दर मनोकामना की है—जीवनि! प्राण तुझे साधना में बांधे रहे। तू प्राणवत् निर्विश्राम, निर्यश, निर्विषय और निर्विकार रहती हुई देवयजन की साधना में रत निरत रहे और मन तुझे पथ से बचाये। शिव-संकल्प से सुपुष्ट रहता हुआ तेरा मन तेरा पोषण करता रहे और तुझे पथभ्रष्टता से बचाता रहे, पथ की भूलभुलैयों से तेरी रक्षा करे"।

चित् है तू,
और तू मनवाली ध्रुव धारणावाली,
दक्षिणा क्षत्रिया यज्ञिया अदिति उभयतः शिरवाली।
सुप्राची सुप्रतीची हो तू हम सब ही के लिये,
प्राण तुझे बांधे पद् में,
मन पथ से रक्षा करे,
अध्यक्ष इन्द्र के हेतु॥

अनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः।
सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमं रुद्रस्त्वावर्त्तयतु स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि॥
(य० ४।२०)

अनु त्वा माता मन्यतां अनु पिता अनु भ्राता स-गर्भ्यः अनु सखा स-यूथ्यः।
सा देवि देवं अच्छ इहि इन्द्राय सोमं रुद्रः त्वा आ वर्त्तयतु स्वस्ति सोम-सखा पुनः आ-इहि॥

स्वतनू-सम्बोधन को जारी रखते हुए देवयाजक कहे चला जा रहा है—

१) (देवि) दिव्यताओं से द्योतित मेरी जीवनि! (माता त्वा अनु मन्यतां) माता तुझे अनुमाने, माता तेरा अनुज्ञान करे, माता तुझपर अभिमान करे, माता तुझपर गर्व अनुभव करे।

देवयाजक का जीवन वह जीवन हो, देवयाजक अपने को वह दिव्य सन्तान सिद्ध करे, कि उसकी माता उससे गौरवान्वित होजाये।

२) (देवि) मेरी दिव्य तनु! (पिता त्वा अनु मन्यतां) पिता तुझे अनुमाने, पिता तुझपर गर्व करे, तू पिता का अभिमान हो।

देवयाजक की जीवनी वह जीवनी हो कि उसका पिता उससे गौरवान्वित होजाये।

३) (देवि) मेरी दिव्य जीवनि! (स-गर्भ्यः भ्राता त्वा अनु मन्यतां) सहोदर भाई तुझे अनुमाने, तेरा मान करे, तुझपर गर्व करे।

देवयाजक का जीवन वह जीवन हो कि सहोदर भाई बहिन उसका मान और उसपर गर्व करें।

४) (देवि) मेरी दिव्य जीवनि ! (स-यूथ्यः सखा त्वा अनु मन्यतां) स-यूथ्य सखा तुझे अनुमाने, सखा-समूह के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में तेरे प्रति अनुमान्यता हो।

५) (देवि) मेरी दिव्य जीवनि ! (सा) वह तू (इन्द्राय) इन्द्रियों के स्वामी आत्मा के लिये, आत्मसंबल के लिये (देवं सोमं) दिव्य सोम को (अच्छ) अच्छे प्रकार (इहि) प्राप्त रह।

यह देव सोम वही विश्वनायक विश्व-संचालक वैश्वानराग्नि परमात्म देव है, जिसकी व्याख्या मन्त्र १६ में की जा चुकी है। देवयाजक की दिव्य जीवनी दिव्य आत्मसंबल से युक्त रहनी चाहिये। एतदर्थ उसे देव सोम से सदा सम्यक् सुयुक्त रहते हुए आत्मना दिव्य सोम का, भक्तिरूपी दिव्यामृत का, पान करते रहना चाहिये।

६) (देवि) मेरी दिव्य जीवनि ! (रुद्रः त्वा आ-वर्त्तयतु) रुद्र तुझे प्रेरित करे, दुःखविनाशक तुझे प्रेरित करता रहे।

रुत् दुःखं, तस्य द्रावयिता रुद्रः। रुत् नाम है दुःख का। दुःखों का द्रावयिता अथवा नाशक होने से देव सोम ही रुद्र है। अन्तः बाह्य समस्त दुःखों का सर्वातिशय निवारक होने से परमात्मा का नाम रुद्र है। देवयाजक का जीवन रुद्र-प्रेरित रहेगा, तो ही वह सब दुःखों और विघ्नबाधाओं को पार करता हुआ अन्त तक पृथिवी के दिव्यीकरण की साध में सन्तत निरत रह सकेगा।

मन्त्रान्त में देवयाजक अपने को सोम-सखा कहता हुआ आत्मसम्बोधन करता है—(सोम-सखा) सोम का सखा तू (स्वस्ति) समंगल, कुशलपूर्वक (पुनः) पुनः पुनः [देव सोम को, देव रुद्र को] (आ-इहि) प्राप्त हो, प्राप्त रह।

सब दिव्यताओं का सर्वातिशय दिव्य स्रोत तो वह दुःखहारी सुखधाम देव सोम ही है। सर्वात्मना, सर्वभावेन, देव सोम के भक्तिरूपी सोम का पान करते रहने से ही देवयाजक के जीवन में दैवी दिव्यता का सतत संचार होता रहेगा। भावना और योगसाधना द्वारा प्रभु से अनवरत संयुक्त रहना ही उसको पुनः पुनः समंगल प्राप्त रहना है।

माता अनुमाने तुझे
तुझे अनुमाने पिता,
सगर्भ्य भ्राता अनुमाने तुझे,
तुझे अनुमाने सयूथ्य सखा।
देवि ! वह तू प्राप्त रह सम्यक् देव सोम को,
प्रेरित करता रहे तुझे दुःखहारी रुद्र देव,
सोमसखा तू सन्तत रह प्राप्त रुद्र सोम को।

सूक्ति—अनु त्वा माता मन्यताम्।
माता तुझे अनुमाने।
रुद्रस्त्वावर्त्तयतु॥
दुःखहारी भगवान् तुझे प्रेरित करे॥

वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि।
बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचके॥ (य० ४।२१)
वस्वी असि अदितिः असि आदित्या असि रुद्रा असि चन्द्रा असि।
बृहस्पतिः त्वा सु-म्ने रम्णातु रुद्रः वसुभिः आ-चके॥

स्वजीवनी-सम्बोधन को जारी रखते हुए देवयाजक कह रहा है—

१) मेरी तनु ! तू (वस्वी असि) वस्वी है।

वस्वी = वसु + ई = वसु द्वारा संचालित। रश्मि,

रात्रि, धन और प्राण—ये प्रसिद्ध अर्थ हैं वसु शब्द के। वस निवासे और ई गतौ, इन दो धातुओं से वस्वी शब्द की सिद्धि होती है। जीवन के निवास, वास या अस्तित्व का साधन होने से प्राण वसु है, धन वसु है। प्राण जीवन का धन है। प्राणी का प्राण उसके जीवन का मूलधन है। प्राण के बिना प्राणी एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता है। प्राणी में जब तक प्राण निवास करता है, तब तक ही वह सब प्रकार के धनैश्वर्यों का सम्पादन करता है। तत्त्ववेत्ता देवयाजक तभी तो कह रहा है—मेरी जीवनि! तू प्राणरूपी रश्मि अथवा रस्सी से गतित-संचालित रथरी है। प्राणरश्मि से ही तू प्रकाशरही है। प्राण की गति रुकते ही तू अन्धकारमयी रात्रि होजाती है। प्राण से संचालित रहती हुई ही तू सकल धनैश्वर्यों का सम्पादन करती है। प्राण-सूत्र से तेरी गति है। प्राण के रहते रहते तू दिव्य व्रतों और कर्मों की साधना करले। तेरा एक-एक प्राण, एक-एक श्वास अमूल्य निधि है। तू अपने प्राण-प्राण का, श्वास-श्वास का सदुपयोग कर।

२) मेरी जीवनि! तू (अदितिः असि) अदिति है।

दिति का अर्थ है दीना। अदिति का अर्थ है अदीना। दिति का दूसरा अर्थ है खण्डच, खण्ड खण्ड होनेवाली। अदिति का दूसरा अर्थ है अखण्डचा, खण्ड खण्ड न होने वाली। दिति के पुत्र दैत्य कहलाते हैं। अदिति के पुत्र आदित्य कहलाते हैं। देवयाजक कह रहा है—मेरी जीवनि! जहां एक ओर तू इतनी दीन है कि प्राण के एक झटके में खण्ड खण्ड होजाये, वहां दूसरी ओर तू इतनी सुदृढ़ और अदीन भी है कि अपने संबल से तू यथेच्छ जीवित रहती हुई लौकिक और पारलौकिक विजय सम्पादन कर दिखाये।

३) मेरी जीवनि। तू (आदित्या असि) अदिति की पुत्री है, दृढ़ता और अदीनता की पुतली है।

जीवेम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात्। हम सौ वर्ष जीयें, सौ वर्ष से भी अधिक जीयें। किस प्रकार जीयें? पश्येम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतं, अदीनाः स्याम शरदः शतम्। सौ वर्ष से भी अधिक हम जीयें, देखते हुए, सुनते हुए, बोलते हुए, अदीन रहते हुए। समस्त इन्द्रियों का यावदायुष्य सर्वथा और सर्वतः स्वस्थ, सुन्दर और सक्षम रहना ही अदीनता है। मानव जीवनी एक ऐसी जीवनी है कि यदि जीवनविज्ञान और मनोविज्ञान के आश्रय से साधनोपाय किया जाये तो मनुष्य अन्तिम श्वास तक अदीन रह सकता है। इसी भावना से देवयाजक ने अपनी तनू को अदिति की पुत्री, दृढ़ता अदीनता की पुतली, कहा है।

४) मेरी जीवनि! तू (रुद्रा असि) रुद्रा है, दुःख-विनाशिका है। जहां शरीर सुख का आगार और विष्णु का मन्दिर है, वहां यह व्याधि-मन्दिर भी है, दुःख और क्लेश का केन्द्र भी है। मानव की जीवनी में इतनी संजीवनी शक्ति अन्तर्निहित है कि उससे सकल दुःखों, दुरितों, आधियों और व्याधियों का निराकरण भी किया जा सकता है। देवयाजक के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि वह अपनी जीवनी को दुखःनिवारण की क्षमता से सक्षम रखे। इसी भाव से उसने अपनी जीवनी को रुद्रा कहा है। संसार के दुःखों के निवारण की क्षमता भी देवयाजक के जीवन में होती ही है।

५) मेरी जीवनि ! तू (चन्द्रा असि) आह्लादिका है, आह्लादकारिणी है । चिदि आह्लादे । आह्लादयित्री होने से मानव-जीवनी चन्द्रा है। देवयाजक की जीवनी तो नीरोग, शुद्ध, पवित्र तथा दिव्यताओं से सुदिव्य है। अतः उसकी जीवनी तो स्व पर सबके लिये आह्लाददायिनी और आह्लादकारिणी है।

स्वजीवनी-सम्बोधन के उपरान्त देवयाजक अपनी जीवनी का आत्मकामनायुक्त शंसन करता हुआ उसे आशीर्वाद देता है--मेरी जीवनि ! (बृहस्पतिः त्वा सु-म्ने रम्णातु) बृहस्पति तुझे सु-म्न में रमाये।

सुम्न=सु-म्न, सुमन, सुप्रसन्नता। ब्रह्म वै बृहस्पतिः। ब्रह्म निश्चय से बृहस्पति है। बृहस्पति=बृहत्+पति। बृहस्पति का अर्थ है महान् पति, महत् रक्षक। अखिल ब्रह्माण्ड का महत् स्वामी और रक्षक यह वह ब्रह्म है।

यहां स्वयं देवयाजक का अपना आत्मा अपनी जीवनी के लिये प्रभु से शुभ कामना करता है—मेरी जीवनि ! महत् ब्रह्म तुझे निरन्तर सुप्रसन्नता में रमणीय बनाये। देवयाजक के दिव्य जीवन में सुप्रसन्नता और रमणीयता होनी ही चाहिये। प्रसन्नता से अनथक सतत साधना होती है, तो रमणीयता से सन्तत जनाकर्षण होता है। सतत साधना और सन्तत जनाकर्षण–ये दो अमोघ साधन हैं पृथिवी के दिव्यीकरण के, देवयजन के।

और अब आत्मप्रसादयुक्त आत्म-सन्तोष के साथ अपनी आदर्श जीवनी को प्यार करता हुआ देवयाजक कहता है—(रुद्रः) दुःख-द्रावयिता मैं [तुझे] (वसुभिः) वसुओं से (आ-धके) तृप्त करता हूं।

देवयाजक ने यहां अपने आपको, अपने आत्मा को, रुद्र [दुःख-विनाशक] कहा है। आत्मा निस्सन्देह दुःखविनाशक है। दुःखों, व्याधियों और आपत्तियों को नष्ट करने की शक्ति मूलतः आत्मा की ही है। आत्मा की रुद्रता [दुःखविनाशक शक्ति] से ही जीवनी रुद्रा [दुःखविनाशिनी] बनी है। देवयाजक की परिष्कृत, शुद्ध संसिद्ध, कमनीय जीवनी निस्सन्देह प्यार की वस्तु है। देवयाजक को चाहिये ही कि वह अपनी प्यारी जीवनी को वसुओं से, जीवनधनों से, जीवन-सम्पत्तियों से, सुष्ठु सम्प्राप्तियों से, सदा तृप्त, परिपुष्ट और परिपूर्ण रखे, ताकि वह दीर्घजीवी और सक्षम रहकर पृथिवी का दिव्यीकरण करता रहे।

प्राणमयी तू और अदीना,
है अदीनता की तू पुतली,
दुःखविनाशयित्री आह्लादा।
बृहस्पति तुझको प्रसन्नता में रमणाये,
मैं हूं रुद्र वसुओं से तुझे तृप्त करता हूं ॥
सूक्ति—**बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु ॥**
बृहस्पति तुझको प्रसन्नता में रमणाये ॥

अदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्मि देवयजने पृथिव्या इडायास्पदमसि घृतवत् स्वाहा।
अस्मे रमस्वास्मे ते बन्धुस्त्वे रायो मे रायो मा वयं रायस्पोषेण
वियौष्म तोतो रायः ॥ (य० ४।२२)

अदित्याः त्वा मूर्द्धन् आ-जिघर्मि देव-यजने पृथिव्याः इडायाः पदं असि घृतवत् स्वाहा।
अस्मे रमस्व अस्मे ते बन्धुः त्वे रायः मे रायः मा वयं रायः पोषेण वि-यौष्म तोतः रायः ॥

पूर्व मन्त्र में स्वजीवनी को सराहते हुए देवयाजक ने कहा था—बृहस्पति तुझे प्रसन्नता में रमणाये। यहां देवयाजक स्वयं बृहस्पति से आत्म-निवेदन करता है—

१) बृहस्पते ! मैं (त्वा) तुझे (अदित्याः मूर्द्धन्) अदिति [अदीनता] के मूर्द्धा पर, (पृथिव्याः देव-यजने) पृथिवी के देवयजन में (आ-जिघर्मि) पूर्णतया घर्मता हूं ।

अदिति का प्रयोग यहां अदीनता के अर्थ-में हुआ है । मूर्धा का सामान्य अर्थ है मस्तिष्क, शिर, शिरोमणि । यहां इस शब्द का प्रयोग सर्वोपरि सर्वोच्च शिखर के अर्थ में हुआ है । घृ क्षरणदीप्त्योः । क्षरण और दीप्ति के अर्थ में घृ धातु का प्रयोग होता है । आ-जिघर्मि का शब्दार्थ हुआ—मैं तुझे पूर्णतया क्षरता-प्रेरता और दीप्त-प्रज्वलित करता हूं । क्षरण से दीप्ति अथवा प्रेरणा से प्रज्वलन होता है ।

"बृहस्पते ! पृथिवी के देवयजन में, मैं तुझे अदीनता के शिखर पर, प्रेरता और प्रदीप्त करता हूं", इस निवेदन में एक आध्यात्मिक गहनता संनिहित है । पवन के क्षरण से अग्नि का प्रदीपन होता है । अग्नि के प्रदीप्त हुए बिना यज्ञ का सम्पादन नहीं हो सकता । पृथिवी के देवयजन के लिये भी यह आवश्यक है कि देवयाजक आत्मक्षरण के द्वारा बृहस्पति को प्रदीप्त करे । बृहस्पति का प्रदीपन ही वह साधन है, जिससे देवयाजक के जीवन में अदीनता की स्थापना होती है । देवयजन के लिये देवयाजक को अदीनता के शिखर पर आसीन रहना चाहिये । अदीनता के शिखर पर आसीन रहने के लिये उसे आत्मप्रेरणा द्वारा बृहस्पति को अपने जीवन में अनवरत प्रदीप्त रखना चाहिये ।

२) बृहस्पते ! तू (इडायाः पदं असि) इडा का पद है ।

ईड स्तुतौ धातु से इडा की सिद्धि होती है । इडा नाम वाणी का है, उस वाणी का, जो सदा सर्वदा बृहस्पति का ईडन [स्तवन] किया करती है । साधक की वाणी साधारण नहीं है । उसकी वाणी वह दिव्य वाणी है, जिसका पद बृहस्पति है । "बृहस्पति" वह पद है, जिसे देवयाजक की स्तवनशील दिव्य वाणी सन्तत उच्चारती और गाती रहती है । सचमुच बृहस्पति स्तवनशील वाणी का दिव्य पद अथवा दिव्य संगीत है ।

इडा नाम उस स्तुत्य वाणी का भी है, जो संसार को बृहस्पति का दिव्य सन्देश सुनाती है । देवयाजक की वाणी का प्रत्येक पद, उसकी वाणी से निकला एक-एक पद, जन-जन को बृहस्पति का दिव्य सन्देश दे रहा होता है ।

वाणी की इस उभयतः साधना से जहां एक ओर पृथिवी का दिव्यीकरण हो रहा होता है, वहां दूसरी ओर स्वयं साधक के जीवन में बृहस्पति का प्रदीपन होता रहता है ।

३) अपने आपमें बृहस्पत्यग्नि के पूर्ण प्रदीपन का सर्वोत्तम साधन है स्वाहा अथवा पूर्ण आत्मसमर्पण । स्वाहा=स्व+आ+हा । (स्व) स्व का, अपने आपका (आ) पूर्ण (हा) त्याग, समर्पण । कोयला जब अग्नि में स्वाहा अथवा पूर्णतया सुहुत या समर्पित होजाता है, तो उसमें सद्यः अग्नि प्रदीप्त होजाता है । इसी भाव से देवयाजक कह रहा है—बृहस्पते ! अपने आपमें तुझे प्रदीप्त रखने के लिये मैं तेरे "बृहस्पति" पद का गान करता हुआ तुझमें (घृतवत् स्वाहा) घृत के समान सुहुत होता हूं । जिस प्रकार घृत की आहुति से यज्ञवेदि में अग्नि प्रदीप्त होता है, वैसे ही मेरे आत्मसमर्पण से तू मुझमें प्रदीप्त रह ।

४) हममें प्रदीप्त होकर, बृहस्पते ! तू (अस्मे रमस्व) हममें रमण कर, हमारे लिये रमणीयता का सम्पादन करता रह, हम सब ही देवयाजकों के जीवन में प्रदीप्त होकर रमणीयता का संचार करता रह, ताकि सारी पृथिवी हमारे प्रति आकृष्ट होती चली जाये।

५) बृहस्पते ! (अस्मे ते बन्धुः) हममें तेरा बन्धु हो, हमारे प्रति तेरा बन्धुत्व रहे। बन्ध से बन्धु। आत्मस्नेह की रस्सी से जो बंधा हुआ हो, उसे बन्धु कहते हैं।

देवयाजक की कितनी सुन्दर प्रार्थना है यह- बृहस्पते ! हममें, हम सब देवयाजकों में, तेरा बन्धुत्व सदा बना रहे। सुस्नेह की रस्सी से तू हमारे प्रति सदा बंधा रह। तू हमारे प्रति सदा प्रीतिमान रह। हम तेरी प्रीति के पात्र रहें और तेरी प्रीति से हमारे जीवनों में तेरा प्रदीपन सदा होता रहे।

६) बृहस्पते ! अपने जीवन में तेरा प्रदीपन और तेरा बन्धुत्व मैं इसलिये चाहता हूं कि (मे) मेरे लिये (त्वे) तुझमें (रायः) आत्मैश्वर्य हैं, (रायः) समस्त आत्मैश्वर्य हैं, (तोतः रायः) भूयोभूयः आत्मैश्वर्य हैं।

भौतिक ऐश्वर्य सब अदिव्य ऐश्वर्य हैं। आत्मैश्वर्य सब दिव्य ऐश्वर्य हैं। दिव्य ऐश्वर्यों से ही पृथिवी का दिव्यीकरण होता है। अतः देवयाजक को दिव्य आत्मिक ऐश्वर्यों की अपेक्षा है। देवयाजक के जीवन में दिव्य ऐश्वर्यों अथवा आत्मैश्वर्यों का सम्पादन तब ही होगा, जब उसके जीवन में बृहस्पति का प्रदीपन और बन्धुत्व होगा।

७) बृहस्पते ! एक मैं ही नहीं, (वयं) हम सब देवयाजक (रायः पोषेण) आत्मैश्वर्य के पोष [पुष्टि] से (मा वि-यौष्म) वियुक्त [वञ्चित] न रहें। हम सब ही देवयाजक देवयजन के लिये दिव्य आत्मैश्वर्यों से युक्त रहें।

तुझे कररहा हूं प्रदीप्त मैं,
पृथिवी के इस देवयजन में,
अदिति के सर्वोच्च शिखर पर,
मेरी इडा का तू वह पद है,
जिसको गाता हुआ सुहुत घृतवत् होजाऊं।
हममें रम, हममें बन्धुत्व तेरा हो,
मेरे लिये तुझी में सब आत्मैश्वर्य निहित हैं,
सभी आत्मैश्वर्य अधिकाधिक ऐश्वर्य,
वञ्चित हम न रहें आत्मैश्वर्य-पुष्टि से॥

सूक्ति—इडायास्पदमसि॥
तू स्तवनशील वाणी का संगीत है॥
तू सन्देशवाहिका वाणी का सन्देश है॥
अस्मे रमस्व॥
हममें रम॥
अस्मे ते बन्धुः॥
हममें तेरा बन्धुत्व हो॥

समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा।
मा म आयुः प्रमोषीर्मो अहं तव वीरं विदेय तव देवि सन्दृशि॥ (य० ४।२३)

सं अख्ये देव्या धिया सं दक्षिणया उरु-चक्षसा।
मा मे आयुः प्र-मोषीः मो अहं तव वीरं विदेय तव देवि सं-दृशि॥

पूर्व मन्त्रों में सम्बोधित बृहस्पति को इस मन्त्र में देवी नाम से पुकारा गया है। बृहस्पति शब्द पुंल्लिग है और देवी शब्द स्त्रीलिंग। परमात्मा अलिङ्ग है। उसका कोई लिङ्ग नहीं। फिर भी वेद में परमात्मा के नाम उभय लिङ्गों में आए हैं। वेद में उसे कहीं पिता के नाम से पुकारा है तो

कहीं माता के नाम से, कहीं उसे कल्याणी अजरा अमृता कहा है तो कहीं कल्याणकारी अजर अमर कहा है, कहीं उसे देव कहा है तो कहीं देवी। देव शब्द के जितने अर्थ हैं, उतने ही देवी शब्द के हैं। दिव्यताओं से द्योतित होने और द्योतित करने से परमात्मा देव है, देवी है।

चक्षि [ख्याञ्] व्यक्तायां वाचि, दर्शने ऽपि। ख्याञ धातु के दो अर्थ हैं—स्पष्ट बोलना और देखना। देखने और बोलने का परस्पर सम्बन्ध है। प्रथम दर्शन, पश्चात् वदन, सत्योक्ति का यह नियम है। स्पष्ट साक्षात्कार करके जो बोला जाता है, उस बोलने में ही सत्य निहित होता है। बिना स्पष्ट देखे और बिना स्पष्ट साक्षात्कार किये बोलना अस्पष्ट अथवा असत्य भाषण है। मन्त्र में जो "सं-अख्ये" क्रिया का प्रयोग हुआ है, उसका अर्थ है—मैंने स्पष्ट देखा है और स्पष्ट कहा है अर्थात् मैंने साक्षात्कार करके कहा है, साक्षात् अनुभूति के बिना नहीं कहा है।

पूर्व मन्त्र में देवयाजक ने जो कहा है, "बृहस्पते! तुझमें आत्मैश्वर्य हैं, समस्त आत्मैश्वर्य हैं, भूयोभूयः आत्मैश्वर्य हैं", वह उसने यों ही नहीं कह दिया है, स्पष्ट साक्षात् अनुभूति के आधार पर कहा है। इसी भाव का द्योतन करने के लिये वह यहां कह रहा है—(देवि) दिव्यताओं की पुञ्ज दिव्य देवि! यह मैंने (देव्या धिया सं-अख्ये) दिव्य धारणा से देखा और कहा है। यह मैंने (दक्षिणया उरु-चक्षसा सं-अख्ये) दक्षिण विशाल-नेत्र से देखकर कहा है, अनुभूतिमय व्यापक-दृष्टि से साक्षात् करके कहा है।

और गदगद होकर वह विनय करने लगता है—देवि! (मे आयुः मा प्र-मोषीः) मेरे जीवन को मत खण्डित कर।

मुस खण्डने। मडि मण्डने। खण्डन और मण्डन परस्पर विरोधी अर्थवाले शब्द हैं। देवयाजक विनय कर रहा है—देवि! मेरे जीवन को खण्डित नहीं मण्डित रख। देवी के प्रति आत्मना घृतवत् सुहुत-समर्पित अथवा समुख रहते हुए आत्मैश्वर्यों से युक्त रहना जीवन का मण्डन है और उससे आत्मना वियुक्त या विमुख रहते हुए आत्मैश्वर्यों से शून्य रहना जीवन का खण्डन है।

यावदायुष्य मण्डित रहने की भावना से देवयाजक पुनः विनय करता है—देवि! (अहं तव वीरं मो विदेय) मैं तेरे वीर को प्राप्त न होऊं।

वि+ईरः=वीरः। वि=विपरीत। ईरः गति करनेवाला। वीर शब्द का प्रयोग यहां विपरीत गति, विपरीत गमन, विमुखता, वैमुख्य के अर्थ में हुआ है। पृथिवी का जो भाग सूर्य के अभिमुख गति कर रहा होता है, वह सूर्य के तेज और प्रकाश से मण्डित रहता है। पृथिवी का जो भाग सूर्य के विपरीत विमुख होकर गति कर रहा होता है, वह सूर्य के तेज और प्रकाश से खण्डित [वञ्चित] होरहा होता है। एवमेव यदि देवयाजक देवी से समुख रहता हुआ दिव्यीकरण की साधना करेगा, तो उसका जीवन देवी की दिव्यता से मण्डित रहेगा। यदि वह देवी से विमुख रहकर दिव्यीकरण की साधना करना चाहेगा तो उसका जीवन देवी की दिव्यता से सर्वथा खण्डित [वियुक्त] रहेगा। इस रहस्य को समझते हुए ही देवयाजक ने विनय की है, "देवि! मैं तेरी विमुखता को प्राप्त न होऊं। सदा तेरे समुख रहूं।"

देवी के प्रति अपनी समुखता की गहन भावना की विशेष अभिव्यक्ति करता हुआ

देवयाजक पुनः सविनय याचना करता है— देवि ! मैं सतत सन्तत निरन्तर (तव सं-दृशि) तेरे संदर्शन में, तेरी संदृष्टि में [रहूं], तुझसे मुख समुख रहूं ।

दिव्य धी से देखकर मैंने कहा है,
दक्ष उरु-दृष्टि से होकर युक्त यह मैंने कहा है ।
खण्डित मत कर जीवन मेरा,
प्राप्त न तेरी करूं विमुखता,
देवि ! स्थित रहूं मैं सन्तत तेरे संदर्शन में ।।
सूक्ति—मो अहं तव वीरं विदेय ।।
मैं तेरा वैमुख्य प्राप्त न करूं ।।

एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानां साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादास्माको ऽसि शुक्रस्ते ग्रह्यो विचितस्त्वा विचिन्वन्तु ।। (य० ४।२४)

एषः ते गायत्रः भागः इति मे सोमाय ब्रूतात् । एष ते त्रै-स्तुभः भागः इति मे सोमाय ब्रूतात् । एषः ते जागतः भागः इति मे सोमाय ब्रूतात् । छन्दःनामानां सां-राज्यं गच्छ इति मे सोमाय ब्रूतात् । आस्माकः असि । शुक्रः ते ग्रह्यः । वि-चितः त्वा वि-चिन्वन्तु ।।

गायत्रोऽयं भूलोकः । यह भूलोक गायत्र है । प्राणो वै गायत्रम् । प्राण निस्सन्देह गायत्र है । प्राणरक्षक और प्राणियों की रक्षा करनेवाला होने से प्राण गायत्र है । प्राण का प्रयोग प्राणधारियों अथवा प्राणियों के लिये भी होता है ।

सोम्यता, सौम्यता, प्रियता, मोहकता, आह्लादकता जिसमें हो, उसे सोम कहते हैं ।

त्रैष्टुभ=त्रै-स्तुभ, त्रै-स्तुप्, त्रै-स्तोत्र, त्रै-स्तवन । स्तवन तीन प्रकार का होता है—मन से, वचन से, कर्म से । तीन प्रकार के स्तवन के समन्वय का नाम त्रैष्टुभ है ।

जगत् से जागत । जो सदा सर्वदा सतत सन्तत निरन्तर अनवरत गति करता रहता है, उसे जगत् कहते हैं । जगत् और जगत् में जो कुछ है, वह सब जागत है । ब्रह्म कूटस्थ है, ब्रह्माण्ड जागत है । ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, वह सब जागत है ।

छन्द का अर्थ है इच्छा, अभिलाषा, कामना, भावना । इच्छा जब तीव्रतर होजाती है तो वह अभिलाषा बन जाती है । अभिलाषा जब तीव्रतर होजाती है तो वह कामना का रूप धारण कर लेती है । कामना तीव्रतर होकर भावना बन जाती है । भावना भाव की जननी है । भावनाओं से भावित होने के कारण ही कवितामय प्रवाहों का नाम छन्द है । नाम का अर्थ है नमन-सामर्थ्य, नमाने की क्षमता । छन्दःनाम का अर्थ है भावनाओं को नमाने की सामर्थ्य । भावनायें जिसे नमस्कार करें, भावनायें जिसे नमनीयता के साथ प्राप्त हों, उस अवस्था का नाम छन्दःनामानाम् है ।

भाग नाम सेवनीय अंश का है । जिसका जितना सेवनीय अंश होता है, वही उसका भाग है ।

"देवि ! स्थिर रहूं मैं सन्तत तेरे संदर्शन में", यह कहते कहते देवयाजक भावनातिरेक से भावित

प्रभावित होकर उस परमा देवी के साथ आत्मना बातें करने लगता है—

१) परमेश्वरि देवि ! मैं तेरा सोम हूं। मैं तेरा सोम्य देवयाजक हूं। मैं तेरा सौम्य शिशु हूं। मेरी इच्छा है कि इस भूलोक को और इस भूलोक के सभी प्राणियों को दिव्यता से पूरदूं। (एषः गायत्रः) यह गायत्र, इस भूलोक और इस भूलोक के प्राणियों के दिव्यीकरण का अनुष्ठान (ते भागः) तेरा सेवनीय अंश है, निश्चय ही तेरे द्वारा सम्पन्न होगा, (इति मे सोमाय ब्रूतात्) ऐसा मुझ सोम के प्रति कहदे। कहदे, देवि, साक्षात् मुख समुख होकर अपने इस मुझ सोम्य वत्स से कहदे कि, "तेरे द्वारा यह गायत्र अनुष्ठान सिद्ध होगा और अवश्य होगा"।

२) अनुष्ठात्र देवि ! सचमुच तू अतिशय स्तुत्य है। तेरे स्तवन से तेरे स्तोता में अनुष्ठान-क्षमता का संचार होता है। तू स्वयं भी तो इस ब्रह्माण्डरूपी दिव्य यज्ञ का अनुष्ठान कर रही है। मैं चाहता हूं कि मनसा, वाचा, कर्मणा-तीनों प्रकार से मैं तेरी सर्वधारक क्षमता का निरन्तर स्तवन किया करूं। देवि ! (एषः त्रै-स्तुभः ते भागः) यह त्रै-स्तुभ तेरा भाग हो—(इति मे सोमाय ब्रूतात्) ऐसा मुझ सोम के प्रति कहदे। देवि ! मुझे आशीर्वाद दे कि मैं मन से तेरी स्तुत्य मानता करूं, वाणी से तेरा स्तुतिमय वर्णन करूं, कर्म से तेरी स्तुतिपूर्ण साधना करूं। त्रै-स्तुभ के आश्रय से मैं इस पृथिवी के दिव्यीकरण के यज्ञानुष्ठान में सफल होजाऊं।

३) जगद्धात्रि देवि ! मेरी अभिलाषा है कि तेरा त्रै-स्तवन करता हुआ मैं न केवल इस भूलोक को अपि तु सम्पूर्ण जगत् को तेरी दिव्य दिव्यता से ओत प्रोत करदूं। अतः अपने इस (मे सोमाय इति ब्रूतात्) मुझ सोम के प्रति ऐसा कहदे—(एषः जागतः ते भागः) यह जागत तेरा भाग है, इस जगत् के दिव्यीकरण की साधना तेरे हिस्से में आई है।

४) देवि कामदुहे ! मेरी ये कामनायें हैं। अपने इस (मे सोमाय इति ब्रूतात्) मुझ सोम के प्रति ऐसा कहदे—(छन्दःनामानां सां-राज्यं गच्छ) तू भावनाओं की नमनीयताओं के साम्राज्य को प्राप्त हो, तू अपनी कामनाओं के नामों के साम्राज्य को प्राप्त हो, गायत्र त्रै-स्तुभ जागत नामों से व्यक्त की गयी तेरी भावनाओं का साम्राज्य फले और फूले, सम्राट्वत् तेरी भावनायें नामशः फलवती हों।

५) देवि ! तू केवल मेरी ही नहीं है, (आस्माकः असि) हमारी अपनी है, हम सबकी है, हम सब देवयाजकों की है। तू हमारी है, हम तेरे हैं। तब दिव्यीकरण सम्बन्धी अपनी भावनाओं और कामनाओं की सिद्धि के लिये हम तेरे सिवाय और किससे प्रार्थना करें। हमारी आत्मनिजता तुझी में है।

६) देवि ! इस दिव्यीकरण की साध के लिये जिस निर्मलता की अपेक्षा है, वह केवल तुझमें ही है। निस्सन्देह इस साध के लिये (ते शुक्रः) तेरी निर्मलता, तेरी पवित्रता (ग्रह्यः) ग्रहणीय है। तेरी स्तुति और प्रार्थना द्वारा हम अपने जीवनों में सदा तेरी निर्मलता को धारण करते रहें।

७) दिव्य देवि ! तुझे अपनाना और तेरी निर्मलता ग्रहण करना प्रत्येक का भाग नहीं है। यह तो भाग्यशालियों के भाग में ही आता है। सुगन्धि के

प्रेमी ही सुगन्धित पुष्पों का चयन करते हैं। दिव्यताकामी दिव्यीकरण के अभिलाषी देवयाजक ही तेरा चयन करते हैं। ये माया के घिनौनें भोगों के मतवाले तेरा चयन करना क्या जानें। तेरे (वि-चितः) विचयन करनेवाले (त्वा वि-चिन्वन्तु) तुझे विचयनें, तेरा विचयन करें। देवयाजक ही तेरे विचयन करनेवाले हैं। वे ही तेरा विचयन करें और वे केवल तेरा ही विचयन करें, क्योंकि दिव्यीकरण के लिये जिस पावनता की आवश्यकता है, वह तुझमें ही है, केवल तुझमें ही है।

यह गायत्र भाग है तेरा,
ऐसा कह मुझ सोम के प्रति।
यह त्रै-स्तुभ भाग है तेरा,
ऐसा कह मुझ सोम के प्रति।
यह जागत भाग है तेरा,
ऐसा कह मुझ सोम के प्रति।
पा साम्राज्य छन्दनामों का,
ऐसा कह मुझ सोम के प्रति।
तू अपनी है हमारी अपनी,
ग्रहणीय है शुक्र तेरा ही।
तेरा विचयन करनेवाले,
चयन करें केवल तुझको ही ॥
सूक्ति—शुक्रस्ते ग्रह्यः॥
तेरी पावनता ग्रहणीय है ॥
विचितस्त्वा विचिन्वन्तु ॥
चयन करनेवाले तुझे चयन करें ॥

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः। प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वानुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि ॥

[सा० ४६४, अ० ७. १४. १-२] (य० ४।२५)

अभि त्यं देवं सवितारं ओण्योः कवि-क्रतुं अर्चामि सत्य-सवं रत्न-धां अभि प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्य अमतिः भाः अदिद्युतत् सवीमनि हिरण्य-पाणिः अमिमीत सु-क्रतुः कृपा स्वः। प्रजाभ्यः त्वा प्रजाः त्वा अनु-प्राणन्तु प्रजाः त्वं अनु-प्राणिहि ॥

साधक जिस बृहस्पति का देवी के नाम से स्तवन और चयन कर रहा था, उसी का अब देव नाम से अर्चन करता है—

१) मैं (अभि) अभितः (अभि) सर्वतः (अर्चामि) अर्चता हूं, (त्यं ओण्योः सवितारं देवं) उस द्यौ भू के प्रेरक देव को। मैं उस देव को अर्चता हूं, जो द्यौ और भू, उभय ऐश्वर्य का प्रेरक है।

जो कुछ दिव्य है, वह सब द्यौ है। जो कुछ भौतिक है, वह सब भू है। वेदों में द्यावापृथिवी [द्यौ और पृथिवी] का भी बहुत प्रयोग हुआ है। उन सब प्रयोगों में प्रायः द्यौ से तात्पर्य दिव्यता से है और पृथिवी से तात्पर्य पार्थिवता से है। जो कुछ दिव्य, दैवी अथवा ब्राह्म है, वह सब द्यौ है। जो कुछ पार्थिव है, वह सब पृथिवी है। ऐश्वर्य दो प्रकार के हैं, दिव्य और भौतिक, ब्राह्म और पार्थिव। दिव्य या ब्राह्म ऐश्वर्य आत्मा द्वारा सेवनीय हैं। भौतिक अथवा पार्थिव सब ऐश्वर्य शरीर द्वारा सेवनीय हैं। देवयाजक द्यौ और भू के सविता, दिव्य और भौतिक ऐश्वर्य के प्रेरक, देव को सर्वातिशय इसलिये अर्चता है कि पृथिवी के दिव्यीकरण के लिये उसे उभय ऐश्वर्यों की आवश्यकता है।

२) मैं (अभि अभि अर्चामि त्यं कवि-क्रतुं देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस क्रान्त-कर्मा देव को। मैं उस देव को अर्चता हूं, जो क्रान्त-कर्मा है।

पृथिवी के दिव्यीकरण की साध एक क्रान्त कर्म है, जिसकी संसिद्धि के लिये उसे क्रान्त-कर्तृत्व की आवश्यकता है। क्रान्तकर्मा देव की अर्चना वह इसलिये कर रहा है कि उसे क्रान्त कर्तृत्व की प्राप्ति होजाये।

३) मैं (अभि अभि अर्चामि त्यं सत्य-सवं देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस सत्य-प्रेरक देव को। मैं उस देव को अर्चता हूं, जो सत्य का प्रेरक है।

पृथिवी के दिव्यीकरण की साधना एक नितान्त सत्य साधना है, जिसकी संसिद्धि के लिये उसे प्रखर सत्य की आवश्यकता है। सत्यप्रेरक देव की अर्चना वह इस लिये कर रहा है कि उसे विशुद्ध सत्य की उपलब्धि होजाये।

४) मैं (अभि अभि अर्चामि त्यं रत्न-धां देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस रत्न-धा देव को। मैं उस देव को अर्चता हूं, जो रत्नों का धारक है।

देवयाजक जिस साध की सिद्धि में लगा है, उसके लिये उसे रत्नों की, शोभनीयताओं की, रत्नीयताओं की, रमणीयताओं की आवश्यकता होगी। उन्हीं की प्राप्ति के लिये वह रत्नधा देव की अर्चना कर रहा है।

५) मैं (अभि अभि अर्चामि त्यं प्रियं देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस प्रिय देव को। मैं उस देव को अर्चता हूं, जो मुझे प्रिय है, जिसमें प्रियता संनिहित है।

देवयाजक जिस प्रिय साध में निरत है, उसकी सार्थकता के लिये उसमें वह प्यारी प्रियता होनी चाहिये कि सारी पृथिवी पर उसे जन-जन का प्यार सम्प्राप्त हो। विश्वप्रिय बनने के लिये वह प्रिय देव की अर्चना कर रहा है।

६) मैं (अभि अभि अर्चामि त्यं मतिं देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस मति देव को। मैं उस देव को अर्चता हूं, जो मति है।

देव की मति वह दिव्य मति है, देवयाजक की साध के लिये जिसकी परमावश्यकता है। देव की दिव्य मति की प्राप्ति के लिये वह मति देव की अर्चना कर रहा है।

७) मैं (अभि अभि अर्चामि त्यं कविं देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस क्रान्त देव को। मैं उस देव को अर्चता हूं, जो क्रान्त है।

दिव्यीकरणयाग के सम्पादनार्थ देवयाजक को क्रान्त कान्ति की आवश्यकता है। क्रान्त कान्ति से वह जब युक्त होगा, तब ही वह दिव्यीकरण जैसी क्रान्त साधना की संसिद्धि कर सकेगा। एतदर्थ ही वह क्रान्त देव की अर्चना कर रहा है।

८) मैं (अभि अभि अर्चामि त्यं देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस देव को, (यस्य अमतिः ऊर्ध्वा) जिसका रूप सर्वोच्च है, (यस्य भाः सवीमनि अदिद्युतत्) जिसकी छटा सृष्टि में छटकी हुई है। मैं उस देव को अर्चता हूं, जिसका सौन्दर्य सर्वोपरि है और जिसके सौन्दर्य की छटा से यह समष्टि सृष्टि द्योतित होरही है। उस देव के दिव्य रूप से रूपित होकर मैं इस पृथिवी को दिव्यता से सुरूपित करदूं।

९) (मैं अभि अभि अर्चामि त्यं देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस देव को, जिस (हिरण्य-पाणिः सु-क्रतुः) दिव्य-हस्त सुकर्मा ने [समष्टि सृष्टि] (अमिमीत) निर्मित की है। वह विश्वनिर्माता ही दिव्यीकरण के मेरे भव्य भवन का निर्माण करायेगा।

१०) मैं (अभि अभि अर्चामि त्यं देवं) अभितः सर्वतः अर्चता हूं उस देव को (यस्य कृपा स्वः) जिसकी कृपा आनन्द है।

मुझ देवयाजक के लिये उस देव की कृपा ही परम आनन्द-दायिनी है। उसी की कृपा से वह आनन्दक्षण आयेगा, जब दिव्यीकरण की मेरी साध संसिद्ध होगी।

११) देव ! अपने इस मुझ सोम के प्रति कहदे कि (प्रजाः) प्रजायें (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के [दिव्यीकरण के] लिये (त्वा) तुझे, (त्वा) निश्चय से तुझे (अनु-प्राणन्तु) अनुप्राणित करें और (त्वं) तू (प्रजाः) प्रजाओं को (अनु-प्राणिहि) अनुप्राणित कर।

अभितः सर्वतः अर्च रहा हूं मैं उस देव को,
जो है द्यौ भू का सम्प्रेरक क्रान्त कवि है और सत्य-सव,
धारक रत्नों का अति प्रिय दिव्य-मति कवि कान्त।
सर्वोपरि रूप है जिसका,
जिसकी भा से भास रहा है यह सारा संसार।
जिस सु-क्रतु दिव्य-हस्त ने,
किया है निर्मित यह सारा ब्रह्माण्ड,
है आनन्द-दायिनी जिसकी कृपा कृपाकटाक्ष।
अपने मुझ इस सोम से कहदे,
प्रजाओं के दिव्यीकरण के हेतु प्रजायें,
तुझे अवश्य ही तुझे करें अनुप्राणित सन्तत,
और निरन्तर अनुप्राणित कर तू प्रजाओं को ॥

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन ।
सग्मे ते गोरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः
परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषं पुषेयम् ॥ (य० ४।२६)

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेण अमृतं अमृतेन ।
सग्मे ते गोः अस्मे ते चन्द्राणि तपसः तनूः असि प्रजापतेः
वर्णः परमेण पशुना क्रीयसे सहस्र-पोषं पुषेयम् ॥

देव का अर्चन करता करता देवयाजक देव को क्रय करने का संकल्प करता है। "देव को क्रय करके क्यों न सदा के लिये उसे अपना बनालूं", देवयाजक ने विचार किया।

अपना अपना मूल्य अलग अलग है। कोई धन से ख़रीदा जाता है तो कोई प्रेम से। कोई रूप से ख़रीदा जाता है तो कोई शील से। कोई हंसी से ख़रीदा जाता है तो कोई मुस्कान से।

पुत्र ने माँ से कहा, "माँ, मैं तुझे ख़रीदना चाहता हूं। अपना मूल्य बता"। माँ बोली, "मेरा यही मोल। बेटा मुझसे हंसके बोल"।

देवयाजक ने देव से पूछा, "देव, मैं तुझे क्रय करना चाहता हूं। अपना मूल्य बता"।

"मैं शुक्र [पवित्र] हूं, मुझे शुक्र [पवित्रता] से ख़रीदा जा सकता है। मैं चन्द्र [आह्लादक] हूं, मैं आह्लाद से ख़रीदा जा सकता हूं। मैं अमृत [प्रेममय] हूं, मुझे अमृत [प्रेम] से ख़रीदा जा सकता है", देव ने उत्तर दिया।

देवयाजक तो आत्मशोधन द्वारा पवित्रता का पुञ्ज बना हुआ ही था। आत्मबोधन द्वारा वह पूर्णतया आह्लाद से भरपूर और देव के प्रेम से भी आपूर था ही। सद्यः नक़द मूल्य चुकाता हुआ वह देव को सम्बोधन करता है—मैं (त्वा शुक्रं चन्द्रं अमृतं) तुझ पवित्र आनन्दमय और अमृत को (शुक्रेण चन्द्रेण अमृतेन क्रीणामि) पवित्रता, प्रसन्नता और प्रेम से ख़रीदता हूं।

पवित्रता प्रेम और प्रसन्नता से क्रय वह होता है।
अपावन शुष्कहृदय खिन्नमन उसको नहीं पाते ।।
वह होजायेगा अपना उसका जब सच्चा वरण होगा।
वरण करने से उसके विश्व का दिव्यीकरण होगा ।।

जिससे दुग्ध का दोहन किया जाता है, वह गौ है। पृथिवी भी असंख्य-स्तना गौ है। पृथिवी के असंख्य स्तनों से असंख्य रसों का दोहन होता है। इसी से "गौः पृथिवीनाम"—पृथिवी का नाम गौ है। ग्मा पृथिवी तया सह वर्तते तस्मिन् यज्ञः। गोः सग्मे का अर्थ है पृथिवी के यज्ञ में, पृथिवी के दिव्यीकरण के यज्ञ में।

देव को क्रय करके, देव को सदा के लिये अपना बनाकर, देवयाजक चन्द्रों से चन्द्रित होगया है, मोहकताओं से मोहक बन गया है, आह्लादों से आह्लादित होगया है। मानव प्रजायें उसके चन्द्रों से चन्द्रित हो हो कर उससे कह रही हैं— देवयाजक ! (गोः सग्मे) पृथिवी के यज्ञ में, पृथिवी के दिव्यीकरण के याग में (ते चन्द्राणि) तेरे चन्द्र, तेरे आह्लाद (ते) तेरे लिये [तो हैं ही],(अस्मे) हमारे लिये [भी हैं]। तेरे चन्द्रों से हम भी चन्द्रित होरहे हैं। तेरी तरह हम भी देव को क्रय करके चन्द्रों से चन्द्रित होजायें।

और अब चन्द्रों से चन्द्रित देवयाजक अपनी तनू को सम्बोधन करता हुआ कहने लगता है— मेरी जीवनि ! तू (तपसः तनूः असि) तप की विस्तारिका है। चन्द्रों से चन्द्रित होकर तू अपने तप का अधिकाधिक विस्तार कर।

दिव्य तप से तपःपूत होकर देवयाजक प्रजापति के वर्ण को खरीदना चाहता है। प्रजापति के वर्ण को खरीदने का अर्थ है स्वयं प्रजापति बनना। जो जिसके वर्ण [रङ्ग] में रंगता है, तद्रूप होकर वह वही हो जाता है।

पूर्व मन्त्र में देवयाजक ने देव से आशीर्वाद चाहा था कि प्रजाओं के दिव्यीकरण के लिये वह प्रजाओं को निरन्तर अनुप्राणित करता रह सके। प्रजाओं के अनुप्राणन के लिये तो देवयाजक को प्रजापति, प्रजा का रक्षक, प्रजा का स्वामी बनना पड़ेगा।

प्रजापति के वर्ण को क्रय करने अथवा प्रजापति बनने के लिये देवयाजक को परम पशु की बलि देनी होगी। परम पशु नाम मानव के अन्दर निहित उस पशुता का है, जिसके द्वारा मनुष्य स्वार्थरत होकर मानव प्रजा का शोषण करने लगता है। इसी भाव से अनुभावित होकर वह कह रहा है—प्रजा को दिव्यता से अनुप्राणित करने के लिये मुझे प्रजापति बनना है। मैं जानता हूं कि (प्रजापतेः वर्णः परमेण पशुना क्रीयते) प्रजापति का वर्ण परम पशु से क्रय किया जाता है, प्रजापति बनने के लिये परम पशुता का हनन किया जाता है।

परम पशु का, परम पशुता का, हनन करके जब याजक प्रजापति बन जाता है, तब ही वह सहस्रों को पुष्ट करनेवाली पुष्टि से सुपुष्ट सम्पुष्ट होकर पृथिवी के दिव्यीकरण की साध में निरन्तर अग्रसर रह पाता है। इस भाव से वह कह रहा है—प्रजापति बनकर मैं (सहस्र-पोषं) असंख्यों को पुष्ट करनेवाली पुष्टि को [प्राप्त करके] (पुषेयं) पुष्ट रहूं।

मैं तुझ शुक्र चन्द्र अमृत को,
करता हूं क्रय शुक्र चन्द्र अमृत से।
इस पृथिवी के देवयजन में,
तेरे चन्द्र हैं तेरे और हमारे लिये।

है तू तप की सुविस्तारिका,
प्रजापति का वर्ण क्रय किया जाता है,
परम पशु से,
सहस्र-पुष्टि को पाकर सन्तत पुष्ट रहूं मैं ।।
सूक्ति—शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि ।।
तुझ पवित्र को पवित्रता से खरीदता हूं ।।

मित्रो न एहि सुमित्रध इन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमुशन्नुशन्तं स्योनः स्योनम् ।
स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तान्रक्षध्वं
मा वो दभन् ।। (य० ४।२७)

मित्रः नः आ-इहि सु-मित्र-धः इन्द्रस्य उरुं आ-विश दक्षिणं उशन् उशन्तं स्योनः स्योनम् ।
स्वान भ्राज अंघारे बम्भारे हस्त सु-हस्त कृशानो एते वः सोम-क्रयणाः तान् रक्षध्वं
मा वः दभन् ।।

देव का क्रय करके, देव को अपना बनाकर देवयाजक ने उसे अपना मित्र बना लिया है और तद्वत् सम्बोधन करता हुआ विनय करता है—

१) (मित्रः) मित्र होकर तू (नः आ-इहि) हमारे प्रति आ, हम सब देवयाजकों को सदा सम्प्राप्त रह, आत्मभावना द्वारा हमसे सदा संयुक्त रह ।
२) (सु-मित्र-धः स्योनः) सुमित्रों का धारक तथा सुखयिता तू (उशन्तं उशन्) चाहनेवाले को चाहता हुआ (इन्द्रस्य) इन्द्रियों के स्वामी आत्मा के (उरुं दक्षिणं स्योनं) विशाल दक्षिण सुख को (आ-विश) आ प्रवेश कर, व्याप ।

स्योन [सुख] दो प्रकार का होता है, सव्य [बायां] और दक्षिण [दायां] । इन्द्रियों से सेवनीय प्रकृतिजन्य सुख सव्य सुख है और आत्मा द्वारा सेवनीय ब्राह्म सुख दक्षिण सुख है। जिस सुख से शारीरिक उन्नति होती है, वह सव्य सुख है । जिस सुख से आत्मिक उन्नति होती है, वह दक्षिण सुख है । सव्य सुख अस्थिर और सीमित है । दक्षिण सुख शाश्वत और विशाल [व्यापक] है ।

देव अपने सुमित्र देवयाजकों का धारक और स्योन [सुखयिता] है । वह अपने चाहनेवाले प्रत्येक साधक को चाहता-दुलारता हुआ आत्मा के विशाल ब्राह्म सुख को व्यापता-विस्तारता है । देवयाजकों को देवयजन के लिये सर्वातिशय ब्राह्म स्योन की प्रत्यक्षतः अपेक्षा है । देवयजन किया ही इसलिये जा रहा है कि पृथिवी भर के सब निवासी विशाल और व्यापक दक्षिण स्योन के, ब्राह्म सुख के, भागी बन जायें ।

स्वन शब्दे । स्वान का अर्थ है शब्द करनेवाला, उपदेष्टा, प्रचारक । भ्राजृ दीप्तौ । भ्राज का अर्थ है दीप्ति अथवा प्रकाश करनेवाला । अंघारि=अंघ+अरि । अंघस् नाम पाप का है और अरि कहते हैं शत्रु को । अंघारि का अर्थ है पापों का शत्रु । जो पापकर्मों का शत्रु होता है, वह पुण्य धर्म का प्रस्थापक होता है । बम्भारि=बम्भ+अरि । बम्भ कहते हैं बन्धन को । बन्धनों के अरि को बम्भारि कहते हैं । हस्त नाम हाथ का है । सव्य हाथ हस्त है । दक्षिण हाथ सुहस्त है । दक्षिण हस्त में दक्षता होती है । सव्य हस्त सहारा देता है । कृशानु कृषि करनेवाला ।

सब देवयाजक समान नहीं होते। यद्यपि सभी देवयाजकों का लक्ष्य पृथिवी का दिव्यीकरण है, तथापि उनकी रुचि तथा क्षमता में स्वाभाविक भिन्नता होती है। देवयाजकों का एक स्वान वर्ग है, जो प्रवचन तथा वेदोपदेश में निष्णात है। वे प्रवचनों तथा वेदोपदेशों द्वारा पृथिवी का दिव्यीकरण करते हैं। दूसरा भ्राज वर्ग है, जो साधना और अभ्यास के द्वारा पृथिवी पर आत्मदीप्ति दीप्त करते हैं। तीसरा अंघारि वर्ग है, जो सामाजिक संशोधन के द्वारा मानव समाज में से पाप और अपराध का निराकरण करते हैं। चौथा बम्भारि वर्ग है, जो जनसम्पर्क द्वारा जन-जन को आसक्ति, विकार, व्यसन, वासना, आदि बन्धनों से मुक्त करते हैं। पांचवां हस्त वर्ग है, जो शिक्षण प्रशिक्षण द्वारा मानवों को दिव्यीकरण की साधना में सहारा देते हैं। छटा सुहस्त वर्ग है, जो अपनी आत्मदक्षता से जनों में दिव्यता का संस्थापन करते हैं। सातवां वर्ग कृशानु है। कृशानु नाम किसान का है, जो बीज-वपन द्वारा विस्तार करता है। देवयाजकों का जो वर्ग योजना और शैली का निर्धारण करके दिव्यीकरण का बीज-वपन करता है, कृशानु कहलाता है।

आत्मविनय के उपरान्त देवयाजक सातों वर्गों के देवयाजकों को सम्बोधन करता हुआ कहता है—स्वान ! भ्राज ! अंघारे ! बम्भारे ! हस्त ! सुहस्त ! कृशानो ! तुम सब ऐसी सोम्य शैली से कार्य करो कि (एते) ये, पृथिवी के ये सब मानव (वः सोम-क्रयणाः) तुम्हारे सोम के क्रय करनेवाले बन जायें, तुम्हारे दिव्यतारूपी सोम के ग्राहक होजायें। तुम (तान्) उन्हें / उनकी (रक्षध्वं) रक्षा करो, सावधानी के साथ उन्हें दिव्य पथ से पृथक् होने से बचाओ। तुम उनके साथ ऐसा सुष्ठु बर्ताव करो, प्रीतिपूर्वक उनकी ऐसी सुसेवा करो कि वे (वः) तुम्हें (मा दभन्) न दबायें, न सतायें, तिरस्कृत न करें। अपि तु वे तुम्हारा पूजन और सत्कार करें।

होकर मित्र हमारे प्रति आ,
तू धारक सन्मित्रों का है और सुखयिता,
सतत चाहता हुआ चाहनेवाले को तू,
व्याप आत्मा के विशाल और दक्षिण सुख को।
स्वान भ्राज अंघारे और बम्भारे,
हस्त सुहस्त कृशानो,
ये सब ही हैं सोम-क्रयकर्ता तुम्हारे,
उनकी रक्षा करो, तुम्हें वे नहीं सतायें॥

सूक्ति—**मित्रो न एहि॥**
मित्र तू हमारे प्रति आ॥

परि माग्ने दुश्चरितादबाधस्वा मा सुचरिते भज।
उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ अनु॥ (य० ४।२८)
परि मा अग्ने दुःचरितात् बाधस्व आ मा सु-चरिते भज।
उत्-आयुषा सु-आयुषा उत्-अस्थां अमृतान् अनु॥

पूर्व मन्त्र में जिस देव को मित्र और सुमित्रध कहा गया है, उसी को यहां अग्नि नाम से पुकारा गया है। अग्नि प्रकाशक और पावक होता है। अग्नि जहां अन्धकार को हटाकर प्रकाश करता है, वहां वह पवित्र भी करता है। प्रकाश और पूतीकरण का सम्बन्ध है। प्रकाश से ही और प्रकाश में ही पूतीकरण होता है।

चर गतौ धातु से चरित शब्द बना है। अन्तः बाह्य प्रत्येक गति और चेष्टा चरित में सम्मिलित है।

विचार का स्रोत मस्तिष्क की गति है। मन की गति से संकल्प की उत्पत्ति होती है। भावनाओं का मूल चित्त की गति ही है। पलकों की गति का नाम निमेष उन्मेष है। वाणी की गति से वचन बोला जाता है। मुख की गति के द्वारा खान पान होता है। करों की गति से कर्म होता है। पगों की गति का ही नाम चलना फिरना है। प्राण की गति ही श्वास प्रश्वास है। मुस्कराने में ओष्ठ और हंसने में सम्पूर्ण शरीर गति करता है।

सोचना विचारना, उठना बैठना, बोलना चालना, खाना पीना, हंसना मुस्कराना, शौच स्नान, संकल्प साधना, भाव भावना, विनोद उपहास, निमेष उन्मेष, चलना फिरना, करना धरना, श्वास प्रश्वास, व्यापार व्यवसाय, पढ़ना लिखना, दाम्पत्य विरक्ति—सब गतियां और चेष्टायें चरित के परिवार में सम्मिलित हैं।

आयु नाम जीवन का है। आयु तथा जीवन पर्यायवाची हैं। यथा चरित तथा आयु। जैसा जिसका चरित वैसा उसका जीवन। जिसका चरित सुचरित है, उसका जीवन सुजीवन है। जिसका चरित दुश्चरित है, उसका जीवन दुर्जीवन है। निकृष्ट चरित, निकृष्ट जीवन। उत्कृष्ट चरित, उत्कृष्ट जीवन।

देवयाजक को सदा स्मरण रखना चाहिये कि चरित की वाणी चर्म की वाणी से अधिक प्रभावशालिनी होती है। दिव्यीकरण में प्रवचन की अपेक्षा जीवन का कहीं अधिक महत्त्व है। निस्सन्देह देवयाजक का चरित और जीवन अतिशय उत्कृष्ट होना चाहिये। एतदर्थ उसे प्रकाशक पावक देव से अनवरत प्रार्थना करते रहना चाहिये—(अग्ने) प्रकाशस्वरूप! पवित्रकर्तः! (मा) मुझे (दुःचरितात्) दुश्चरित से (परि बाधस्व) सर्वतः रोकता-वर्जता रह, (मा) मुझे (सु-चरिते) सु-चरित में (आ भज) सर्वथा नियुक्त रख, ताकि मैं (अमृतान् अनु) अमृतों को अनुसरता हुआ, अमृतमय चरितों को अनुचरता हुआ (उत्-आयुषा) उत्कृष्ट आयु से, उच्च जीवन से तथा (सु-आयुषा) सु-आयु से, सुष्ठु जीवन से (उत्-अस्थां) उत्स्थ हुआ रहूं, ऊंचा उठा रहूं।

प्रकाश से पवित्रता का, पवित्रता से सुचरित का, सुचरित से जीवन की उत्कृष्टता का, उत्कृष्टता से सुजीवन का और सुजीवन से उच्चस्थता का सम्बन्ध स्पष्ट है। देवयाजकों के जीवन की उच्च स्थिति से ही प्रत्यक्षतः दिव्यीकरण की साधना संसिद्ध होगी।

अग्ने! मुझको वर्ज सर्वतः दुश्चरित से,
और नियुक्त रख मुझे सर्वतः सुचरित में।
ताकि अमृतों को अनुचरता हुआ,
रहूं उच्चस्थ उदायु और सु-आयु से॥

सूक्ति—परिमाग्ने दुश्चरिताद्बाधस्व॥
प्रभो! मुझे दुश्चरित से वर्ज॥
आ मा सुचरिते भज॥
मुझे सुचरित में नियुक्त रख॥

प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम्। येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु॥

[ऋ० ६. ५१. १६] (य० ४।२६)

प्रति पन्थां अपद्महि स्वस्ति-गां अनेहसम्। येन विश्वाः परि द्विषः वृणक्ति विन्दते वसु॥

पद गतौ। पद धातु का अर्थ है गति करना, पग चलाना, चलना।

स्वस्ति = सु-अस्ति, सु-अस्तित्व। हस्ती [जिन्दगी] शब्द वेद के अस्ति शब्द का ही

रूपान्तर है । अनेहस=अन्-एहस, नहीं पाप, निष्पाप । जिस पथ पर चलकर मनुष्य सु-अस्तित्व [सुन्दर सुष्ठु जीवन] से युक्त तथा पाप से मुक्त रहता है, उसी का नाम स्वस्तिगम अनेहस पन्थ [पथ] है । वह पन्थ अथवा पथ आत्मसाधना का ही पथ है, जिसका विशद वर्णन तथा शिक्षण यजुर्वेद के तृतीय अध्याय की व्याख्या में किया गया है ।

देवयाजक दुश्चरित से मुक्त और सुचरित से युक्त होकर उदायु [उत्कृष्ट जीवन] तथा स्वायु [सु-आयु, सुष्ठु-सुन्दर जीवन] से सम्पन्न है । यह जीवन-सम्पन्नता उन्हें यों ही प्राप्त नहीं होगयी है । इसके लिये उन्हें दीर्घ काल तक अनवरत साधना के उस पथ पर चलना पड़ा है, जो स्वस्तिगम और अनेहस है, जो सु-अस्तित्व का निष्पादक और निष्पापता का सम्पादक है और जिसपर चलने से देवयजन करनेवाला देवयाजक ही क्या, कोई भी मनुष्य, द्वेषों को त्यागकर उभय ऐश्वर्य प्राप्त करता और कराता है ।

दिव्य संसिद्ध देवयाजक इसी तथ्य को प्रकट करते हुए कह रहे हैं, "जीवन की उत्कृष्टता और सुष्ठुता से हम यों ही समलंकृत नहीं होगये हैं । एतदर्थ हमने (प्रति अपद्महि) प्रतिपदन किया है, हमने प्रत्येक पद-पग-क़दम रखा है, हम चले हैं, उस (स्वस्ति-गां अनेहसं पन्थां) स्वस्ति-गम निष्पाप पथ पर, (येन) जिससे, जिसपर चलने से, मनुष्य (विश्वाः द्विषः) सब द्वेषों को (परि वृणक्ति) परित्याग करता है और (वसु विन्दते) ऐश्वर्य प्राप्त करता है ।

पृथिवी के दिव्यीकरण में द्वेष बहुत बड़ी बाधा है । देवयाजक, द्वेषरहित होकर, जब संसार को द्वेषमुक्त करेंगे, तब ही पृथिवी के दिव्यीकरण का पथ प्रशस्त होगा । और द्वेष से मुक्त संसार तब होगा, जब देवयाजक स्वस्तिगम निष्पाप पथ पर आरूढ़ हुये जन जन को उस पथ पर चलायेंगे । द्वेषरहित होकर ही इस मही के मानव वसु प्राप्त करेंगे, भौतिक व आत्मिक ऐश्वर्य प्राप्त कर पायेंगे ।

सन्तत हम चलते आये हैं,
स्वतिगम निष्पाप सुपथ पर ।
जिससे परित्याग करता है,
मानव सब द्वेषों को निश्चय,
और ऐश्वर्य पाता है ॥

अदित्यास्त्वगस्यदित्यै सद आसीद ।
अस्तभ्नाद्द्यां वृषभो अन्तरिक्षममिमीत वरिमाणं पृथिव्याः ।
आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड्विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि ॥
(य० ४।३०)

अदित्याः त्वक् असि अदित्यै सदः आ-सीद ।
अस्तभ्नात् द्यां वृषभः अन्तरिक्षं अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः ।
आ-असीदत् विश्वा भुवनानि सम्राट् विश्वा इत् तानि वरुणस्य व्रतानि ॥

त्वच संवरणे-ढांपना-व्यापना, इस धातु से त्वच् अथवा त्वचा शब्द बना है । समस्त शरीर पर व्यापकर सम्पूर्ण शरीर को ढांपनेवाली होने से ही शरीर की खाल को त्वचा कहते हैं ।

वृषु सेचने। वृषभ सींचनेवाला। सींचनेवाला होने से ही मेघ वृषभ कहाता है। जीवन का सिंचन करनेवाला होने से आत्मा वृषभ है। और अखिल ब्रह्माण्ड का सिंचनकर्ता होने से परमात्मा वृषभ है ही।

जो सम्यक् राजता प्रकाशता है, उसे सम्राट् कहते हैं। यहां सम्राट् शब्द का प्रयोग परमात्मा के लिये हुआ है। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सम्यक् राज और प्रकाश रहा है।

वरुणो वै पाशविमोचकः। पाशों से मुक्त करनेवाला वरुण है। जो भी पाशों से मुक्त करे, वह वरुण है। वरुणो वै नाविकः। नौका को खेकर पार उतारनेवाला भी वरुण है। वरुण शब्द का प्रयोग यहां परमात्मा के लिये ही हुआ है। वह पाशों को खोलनेवाला और जीवन-नौका का खेनेवाला है। यह संसार वरुण की नौका है और वरुण ही इसका खेनेवाला है। आसक्ति, लेप, आदि पाशों से मुक्त करनेवाला भी वही है।

द्वेषों को लांघता हुआ और द्वेषजन्य वैरविरोधों का अतिक्रमण करता हुआ देवयाजक दिव्यीकरण की समुदात्त और सुविशाल योजना को कार्यान्वित करता चला जारहा है। कार्य की गुरुता और मार्ग की कठिनाइयों को देखकर वह जब तब सिहिर उठता है और अपने आत्मसंबल को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये वह अपने आपसे कहने लगता है— रे देवयाजक! तू (अदित्याः त्वक् असि) अखण्ड भूमि की त्वचा है। तू सम्पूर्ण पृथिवी पर व्यापकर उसे दिव्यता से ढांपने-व्यापने की क्षमता रखता है। (सदः) संस्थित-संस्थिर होकर (अदित्यै) अखिल पृथिवी के लिये (आ-सीद) आस्थित हो, डटा रह। सम्पूर्ण पृथिवी के दिव्यीकरण का जो व्रत तूने धारण किया है, उसकी संसिद्धि के लिये तू अन्त तक साधरत रहा चला जा।

और फिर परोक्ष में दृष्टि घुमाकर स्वात्मसंबल को बढ़ाने के लिये वह कहता है—रे देवयाजक! जो (वृषभः) वृषभ (द्यां अन्तरिक्षं अस्तभ्नात्) द्यौ और पृथिवी को थामे-सहारे हुए है और (पृथिव्याः वरिमाणं अमिमीत) पृथिवी के सुविस्तार को मापे हुये है, वह ही वृषभ पृथिवी के दिव्यीकरण की तेरी साध में तुझे सहारेगा और पृथिवी के विस्तृत विस्तार को मापने की तुझे क्षमता प्रदान करेगा।

वह फिर कहता है—रे देवयाजक! जो (सम्राट्) सम्राट् (विश्वा भुवनानि आ-असीदत्) समस्त भुवनों को अधिष्ठित किये हुये है, समस्त लोकों का अधिष्ठातृत्व कर रहा है, वह ही पृथिवी के दिव्यीकरण की तेरी साधना में तेरा अधिष्ठातृत्व करेगा।

वह पुनः कहता है—रे देवयाजक! अखिल ब्रह्माण्ड के (तानि विश्वा व्रतानि) वे सब व्रत, वे सब सृष्टि-नियम (वरुणस्य इत्) वरुण के ही हैं, वरुण के ही नियन्त्रण में संचालित होरहे हैं। वह वरुण ही, वह नियन्ता ही, तेरे व्रतों को पूरा करेगा।

तू है त्वचा सकल पृथिवी की,
संस्थित होकर इस पृथिवी के,
दिव्यीकरण के लिये डटा रह।
धारण किये हुये है वृषभ,
द्यौलोक और अन्तरिक्ष को,
थामे हुये वही पृथिवी के सुविस्तार को।
वह सम्राट सकल भुवनों को,
स्वयं अधिष्ठित किये हुये है,
उसी वरुण के हैं वे सारे व्रत चल रहे॥
सूक्ति—विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि॥
वे सारे व्रत वरुण के ही हैं॥

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु ।
हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ ॥
[ऋ० ५. ८५. २] (य० ४।३१)

वनेषु वि अन्तरिक्षं ततान वाजं अर्वत्सु पयः उस्रियासु ।
हृत्सु क्रतुं वरुणः विक्षु अग्निं दिवि सूर्यं अदधात् सोमं अद्रौ ॥

देवयाजक कहे चला जारहा है—जिस (वरुणः) वरुण ने (वनेषु अन्तरिक्षं वि ततान) वनों-जंगलों पर आकाश को विस्तारा-फैलाया है और (अदधात्) धारण-स्थापन किया है (अर्वत्सु वाजं) तीव्रगामियों में वेग को, (उस्रियासु पयः) गौओं में दुग्धरस को, (हृत्सु क्रतुं) हृदयों में कर्तृत्व-कर्मनिष्ठा को, (विक्षु अग्नि) प्रजाओं में अग्नि [जठराग्नि] को, (दिवि सूर्यं) आकाश में सूर्य को, (अद्रौ सोमं) मेघ [बादल]में सोम को, उसी वरुण ने मुझमें पृथिवी के दिव्यीकरण की प्रेरणा की है और वह ही मेरे द्वारा पृथिवी के इस देवयजन की सम्पूर्ति करायेगा ।

गौणवृत्ति से यहां पदार्थ-विज्ञान का एक तत्त्व प्रकाशित किया गया है । अद्रौ सोमः=मेघ में सोम । जिस जल या रस में चन्द्र की चन्द्रिका का विशेषांश होता है, उसे सोम कहते हैं । सोम में अमृत निहित होता है । सोमलता से निष्पादित सोम में जो गुण होते हैं, वे ही गुण मेघ [बादल] से बरसनेवाले जल में होते हैं । वृष्टि के जल को भूमि पर न गिरने देकर काच या धातु के पात्र में संचित करके बोतलों या अमृतबानों में भरकर रख लिया जाये और उसका विधिपूर्वक सेवन किया जाये तो सोम के सेवन का जैसा लाभ होता है ।

वरुण ने वनों पर है आकाश छाया,
स्थापन किया वेग तीव्रगामियों में,
गौओं में दुग्ध कर्मनिष्ठा हृदयों में,
जलों में अग्नि द्यौ में सूर्य को,
स्थापन किया सोम बादल में उसने ॥

सूर्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम् ।
यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता ॥ (य० ४।३२)

सूर्यस्य चक्षुः आ-रोह अग्नेः अक्ष्णः कनीनकम् ।
यत्र एतशेभिः ईयसे भ्राजमानः विपःचिता ॥

सूर्य शब्द का प्रयोग मन्त्र में देवयाजक ने स्वयं अपने लिये किया है । देवयाजक सूर्य के समान ज्ञान-प्रकाश से प्रकाश रहा है, आत्मतेज से जगमगा रहा है और अपने ज्ञानप्रकाश तथा आत्मतेज से पृथिवी की मानव-प्रजा के अन्धकार को हटाकर उसे दिव्यता से सम्पूरित कर रहा है ।

अग्नि शब्द का प्रयोग भी यहां देवयाजक ने स्वयं अपने लिये ही किया है । वह अग्नि के समान ज्ञापक, प्रज्ञापक, पावक और अग्रणी [आगे लेजानेवाला] है ।

एतश नाम है तीव्रगामी का । तीव्र गति होने से अश्व एतश है, सूर्य की रश्मियां एतश हैं । यहां एतश से तात्पर्य परमात्मा की उन दिव्य किरणों से है, जो प्रकाशमान लोकों को प्रकाशित कर रही हैं और देवयाजक के अन्तःकरण को जगमगा रही हैं ।

विपश्चितः शब्द का प्रयोग भी स्वयं देवयाजक के लिये हुआ है। विपश्चितः=वि [विविधतया, विशेषतया]-पः पन्यः [स्तुत्य]-चितः [प्रचेतना, प्रज्ञा, मेधा] है जिसकी वह मेधावी।

पूर्व मन्त्र में उल्लिखित वरुण को सम्बोधन करते हुये देवयाजक गहन आत्मीयता के साथ विनय कर रहा है—वरुण ! तू (सूर्यस्य चक्षुः) मुझ सूर्य का नेत्र है। तू ही मेरा पथ-प्रकाशक और नयनकर्ता है।

(एतशेभिः भ्राजमानः) रश्मियों से प्रकाशमान तू (यत्र) जहां, जहां कहीं, जब जब (विपश्चिता) मुझ मेधावी द्वारा (ईयसे) प्रार्था जाता है, वहीं वहीं, तब तब, तू (अग्नेः अक्षणः) मुझ प्रज्ञावान् अग्रणी की (कनीनकं आरोह) पुतली पर आरोहण कर, मेरी दृष्टि में दृश्यमान हो, मुझसे मुख समुख होकर मेरी प्रार्थना स्वीकार कर।

निस्सन्देह प्रार्थनायें मार्ग में से पर्वतों को हटा देती हैं। देवयाजक के मार्ग में जब जहां कोई विघ्न बाधा आये, वह अपने मार्ग के प्रशस्तीकरण के लिये वरुण से प्रार्थना करे। और वरुण तो पाशविमोचक अपि च नौका खेनेवाला है। वह देवयजन के पथ की हिमालय जैसी बाधाओं को भी दूर हटा देगा।

तू है चक्षु मुझ सूरि का,
कर आरोहण तू पुतली पर,
मुझ अग्नि के चक्षु की,
किरणों से प्रकाशमान तू,
जहां कि मुझ मेधावी द्वारा,
किया प्रार्थना तू जाता है ॥

उस्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रू अवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ।
स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम् ॥　　(य० ४।३३)
उस्रौ आ-इतं धूःसहौ युज्येथां अनश्रू अवीर-हनौ ब्रह्म-चोदनौ।
स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम् ॥

उस्रा नाम रश्मि का है। उस्रौ दो रश्मियां। एक रश्मि तो स्वयं देवयाजक है। दूसरी रश्मि कौन है? दूसरी रश्मि है देवयाजक की देवयजनी पत्नी। देवयाजक की पत्नी भी देवयाजक के समान ही रश्मिरूपा होनी चाहिये। देवयाजक यदि निकटतम रहनेवाली अपनी पत्नी को रश्मिरूपा न बना सका तो अन्यों का वह क्या दिव्यीकरण कर सकेगा।

धूःसह=धुर-सह, भार सहारनेवाला। धूःसहौ= दो धुर सहारनेवाले। एक गाड़ी में दो धुर होते हैं, जिन पर गाड़ी के दोनों पहिये घूमते हैं। पति और पत्नी साधना—शकट के दो धुर हैं। दोनों की सहसाधना से ही प्रत्येक क्षेत्र में पूर्ण संसिद्धि होती है। दोनों के संयुक्त देवयजन से ही नारी-समाज और नर-समाज का पूर्ण दिव्यीकरण होगा।

अनश्रु=अन्-अश्रु, नहीं अश्रु, अश्रुरहित, विषाद को प्राप्त न होनेवाला। अनश्रू=दो अश्रुरहित। अकेलापन कभी कभी विषाद का अवसर ला देता है। किन्तु जहां पति पत्नी के रूप में एक दूसरे को निष्ठापूर्वक हृदय से प्यार करनेवाले साथ साथ रहते, विचरते और साधना करते हैं, वहां अश्रु या विषाद का क्या काम। वहां तो सदा प्रसन्नता, शान्ति और तृप्ति रहती है।

अवीरहन्=अवीर-हन्, अवीरता का हनन करनेवाला। अवीरहनौ=दो अवीरहन। कोई

कैसा भी साहसी क्यों न हो, अकेलापन प्रायः अवीरता—हताशता का प्रभाव ला देता है। दो जीवनों के हार्दिक मेल से साहस और साधना अक्षुण्णतया बने रहते हैं।

ब्रह्मचोदन = ब्रह्म-चोदन, ब्रह्म-प्रेरक, ब्राह्मी स्थिति में स्थित रहकर जन-जन को दिव्यीकरण की प्रेरणा करनेवाला। ब्रह्मचोदनौ = दो ब्रह्म-प्रेरक। विकार-वासनाओं से रहित रहने पर ही पति पत्नी ब्राह्मी स्थिति में स्थित रह पाते हैं। देवयाजक दम्पती के लिये पृथिवी का सम्पूर्ण मानव-समाज यजमान है और प्रत्येक घर उनका अपना है। मानवसमाज के दिव्यीकरण के लिये देवयाजक और देवयाजिका को घर-घर में प्रवेश करके प्रत्येक परिवार से सम्पर्क स्थापन करना होगा।

वरुण की प्रार्थना से तरंगित होकर दोनों को आत्म-प्रेरणा होरही है—दोनों (धूःसहौ अनश्रू अवीर-हनौ ब्रह्म-चोदनौ उस्रौ) धुर-सह अश्रुरहित अवीर-हन ब्रह्म-प्रेरक रश्मियो! दोनों (आ-इतं) आओ, (युज्येथां) युक्त होजाओ, दिव्यीकरण में जुड़-जुट जाओ और (स्वस्ति) कुशल-पूर्वक (यजमानस्य) मानवसमाजरूपी यजमान के (गृहान् गच्छतं) गृहों को जाओ, सब घरों में प्रवेश करो।

धुर-सह अश्रुरहित अवीर-हन,
ब्रह्म-प्रेरक उभय रश्मियो!
आओ दोनों जुड़-जुट जाओ,
स्वस्तिपूर्वक जाओ घरों को,
मानव-यजमानस्य ॥

भद्रो मे ऽसि प्रच्यस्व भुवस्पते विश्वान्यभि धामानि ।
मा त्वा परिपरिणो विदन् मा त्वा परिपन्थिनो विदन् मा त्वा वृका अघायवो विदन् ।
श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ संस्कृतम् ॥ (य० ४।३४)

भद्रः मे असि प्र-च्यस्व भुवःपते विश्वानि अभि धामानि ।
मा त्वा परि-परिणः विदन् मा त्वा परि-पन्थिनः विदन् मा त्वा वृकाः अघ-यवः विदन् ।
श्येनः भूत्वा परा-पत यजमानस्य गृहान् गच्छ तत् नौ संस्कृतम् ॥

भुवःपति का अर्थ है भूमि का पति, सम्पूर्ण पृथिवी का रक्षक। पृथिवी के दिव्यीकरण की साध में रत देवयाजक निस्सन्देह पृथिवी का रक्षक है। वह उनकी अधर्म, नास्तिकता और पापाचार से रक्षा करके उनमें धर्म, आस्तिकता और सदाचार की प्रस्थापना करता है और इस प्रकार उन्हें दुःख से बचाकर सर्वप्रकारेण सुखी और आनन्दित करता है।

देवयजन में अपने देवयाजक पति का साथ देती हुयी देवयाजिका कहती है—(भुवःपते) भूमि के पालक! पृथिवी के रक्षक! तू (मे भद्रः असि) मेरा कल्याण है, मेरा कल्याणकर्ता है, देवयजन में मुझे अपना साथी बनाकर तूने मेरा बड़ा उपकार किया है। मैं कृत्य-कृत्य होगयी हूं। मेरा जन्म सफल होगया है।

अवसर विशेष पर देवयाजिका देवयजन यात्रा पर इधर जारही है और उसका पति उधर जारहा है। विदाई देती हुई वह सम्प्रेरणा कररही है—भुवस्पते! (अभि) सब ओर (विश्वानि धामानि) समस्त धामों को (प्र-च्यस्व) जा। समस्त भूमण्डल पर निर्भय होकर विचरता हुआ देवयजन कर।

और अब शुभ कामना करती है—भुवस्पते ! (त्वा परि-परिणः मा विदन्) तुझे उठायीगीरे न प्राप्त हों, (त्वा परि-पन्थिनः मा विदन्) तुझे बट-मार न प्राप्त हों, (त्वा अघायवः वृकाः मा विदन्) तुझे पापेच्छु भेड़िये [हत्यारे] न मिलें। तेरी यात्रा निर्विघ्न हो।

विदा होते-होते वह पुनः सम्प्रेरणा करती है—(श्येनः भूत्वा परा-पत) श्येन होकर झपट। श्येन के समान तीव्रगामी बनकर (यजमानस्य गृहान् गच्छ) मानवसमाजरूपी यजमान के गृहों को जा, सब गृहों में प्रवेश कर।

विदा होते-होते वह पुनः कहती है—भुवस्पते ! (नौ) हम दोनों का (तत् संस्कृतं) वह संस्कृत है, वह सं-कृत है, वह सु-कृत है, जन्म-जन्म का सु-संस्कार है कि हम दोनों देवयजन की दिव्य साध में रत हैं।

भुवस्पते ! तू भद्र मेरा है,
सब धामों को धा तू अभितः।
तुझे मिलें न उठायीगीरे,
तुझे प्राप्त बटमार न होवें,
तुझे मिलें न पापी हत्यारे।
बनकर श्येन झपट जा गृहों को,
मानव यजमानस्य।
यह है हम दोनों का संस्कृत ॥
सूक्ति—भद्रो मे ऽसि ॥
तू मेरा कल्याण है ॥
श्येनो भूत्वा परापत ॥
बाज बनकर झपट ॥

नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतं सपर्यत।
दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत ॥
[ऋ० १०. ३७. १] (य० ४।३५)
नमः मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महः देवाय तत् ऋतं सपर्यत।
दूरे-दृशे देव-जाताय केतवे दिवःपुत्राय सूर्याय शंसत ॥

देवयाजक की साध फल ला रही है। पृथिवी पर वह जहां भी जाता है, वहीं लोग उसे सस्वागत नमस्कार करते हैं—

१) तुझ (मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे नमः) मित्रता और वरणीयता दर्शानेवाले के लिये नमस्कार है।

२) तुझ (देवाय नमः) दिव्यता के पुञ्ज के लिये नमस्कार है।

३) तुझ (दूरे-दृशे नमः) दूर [दूर तक] दर्शानेवाले [दीर्घदर्शी] के लिये नमस्कार है।

४) तुझ (देव-जाताय नमः) दिव्यता के सम्पादक के लिये नमस्कार है।

५) तुझ (केतवे नमः) प्रज्ञापक-उद्बोधक के लिये नमस्कार है।

६) तुझ (दिवःपुत्राय नमः) दिव्यता के पुत्र-पुतले के लिये नमस्कार है।

७) तुझ (सूर्याय नमः) सूर्य के लिये, सूर्य के समान दिव्य प्रकाश पूरनेवाले के लिये, नमस्कार है।

जनता के अभिनन्दन और नमस्कार से अहंकार अथवा अहम्मन्यता को प्राप्त न होकर वह विनम्रतापूर्वक शालीनता के साथ प्रजा को प्रेरणा करता है—लोगो ! मेरा पूजन न करके (तत् महः ऋतं सपर्यत) उस महान् ऋत को सेवन करो और (तत् महः ऋतं) उस महान्

सत्य को ही (शंसत) शंसो, प्रशंसो, स्तुतो। वह दिव्य देव, जिसकी दिव्यता से यह सब द्योतित होरहा है, वह ही वह महान् सत्य है, जिसका तुम्हें सेवन करना चाहिये और जिसकी तुम्हें स्तुति करनी चाहिये। उसके स्थान में किसी अन्य का सेवन और स्तवन न करो।

नमस्कार है,
मित्र वरुण के दर्शयिता को,
देव दीर्घदर्शी प्रज्ञापक देवजात को,
दिव्य दिव्यता के पुतले को, सूर्य देव को।
सेवो तुम उस महत् सत्य को,
उसी को स्तुतो ॥

सूक्ति—तद्दतं सपर्यत ॥
उस सत्य को / का सेवन करो ॥

वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी
स्थो वरुणस्य ऋतसदन्यसि वरुणस्य ऋतसदनमसि वरुणस्य ऋतसदनमासीद ॥

(य० ४।३६)

वरुणस्य उत्-तम्भनं असि वरुणस्यं स्कम्भ-सर्जनी स्थः
वरुणस्य ऋत-सदनी असि वरुणस्य ऋत-सदनं असि वरुणस्य ऋत-सदनं आ-सीद ॥

देवयजन करते हुए कभी कहीं देवयाजिका पत्नी और देवयाजक पति साथ साथ होजाते हैं और कभी कहीं पृथक् पृथक् भ्रमण करते हैं। जब कहीं दोनों साथ साथ जाते हैं, तो जनता दोनों को साधुवाद कहती है—

१) तुम दोनों धन्य (स्थः) हो।

२) देवयाजक! तू (वरुणस्य) वरणीयता का (उत्-तम्भनं) उत्-स्तम्भ, आश्रय (असि) है। तू धन्य है कि तू पृथिवी पर वरणीयता की, दिव्यता की प्रस्थापना कररहा है।

३) देवयाजिके! तू (वरुणस्य) वरणीयता की (स्कम्भ-सर्जनी) स्कम्भ-संसर्जिका, आश्रय-रचयिनी (असि) है और है (वरुणस्य) वरणीयता की (ऋत-सदनी) ऋत-गृहा, ऋताचार-भूमि, सदाचार-भूमिका। तू धन्य है कि तू पृथिवी पर वरणीयता और ऋताचार, शोभनीयता और सदाचार, श्री और संयम, की व्याप्ति में अपने पति के साथ सहसाधना कररही है।

४) देवयाजक! तू (वरुणस्य) वरणीयता का (ऋत-सदनं) ऋत-सदन, ऋत-गृह, ऋताचार-स्थल, सदाचार-संस्थान, सत्य का पुञ्ज (असि) है। तू धन्य है कि तू ऋत की भित्ति पर स्थित होकर पृथिवी पर वरणीयता की संस्थापना करता फिररहा है।

देवयाजिके! (वरुणस्य) वरणीयता के (ऋत-सदनं आ-सीद) ऋत-सदन पर बैठ, ऋताचार की संस्थिति पर स्थित रह, सदाचार के धरातल पर संधृत रह। इसी धरातल पर संधृत हुई तू देवयजन में अपने पति का साथ दिये चली जा।

देवयाजक! तू भी (वरुणस्य) वरणीयता के (ऋत-सदनं आ-सीद) ऋताचार के धरातल पर आधृत-संधृत रह। इसी धरातल पर आधृत हुआ तू सतत सन्तत निरन्तर देवयजन किये चला जा।

तुम दोनों हो धन्य और वन्दनीय।
और तू है उत्तम्भ वरणीयता का।
वरणीयता की स्कम्भ-सर्जनी तू,
और तू है ऋत-सदनी वरणीयता की।
और ऋत-सदन तू है वरणीयता का।
स्थित संस्थित ऋतसदन पर तू रहना ॥

सूक्ति—वरुणस्योत्तम्भनमसि ॥
तू वरणीयता का उत्-स्तम्भ है ॥
वरुणस्य ऋतसदन्यसि ॥
तू वरणीता की ऋत-सदनी है ॥
वरुणस्य ऋतसदनमसि ॥
तू वरणीयता का ऋत-सदन है ॥
वरुणस्य ऋतसदनमासीद ॥
तू वरणीयता के ऋतसदन पर स्थित रह ॥

या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् ।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरो ऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्यान् ॥
[ऋ० १. ९१. १९] (य० ४।३७)

या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परि-भूः अस्तु यज्ञम् ।
गय-स्फानः प्र-तरणः सु-वीरः अवीर-हा प्र-चर सोम दुर्यान् ॥

गयस्फानः=गय-स्फानः । गय नाम गृह सन्तान और धन का है। गय नाम उसी घर का है, जिसमें सन्तान और धन है। स्फायी वृद्धौ। स्फानः=वृद्धि करता हुआ। दुर्य नाम उस घर का है, जहां दुः हो, दुःख हो। गय=सम्पन्न परिवार। दुर्य=असम्पन्न दीन परिवार।

देवयाजिका अपि च जनता देवयाजक के साहस और उत्साह को बढ़ाती हुई कहती है—

१) (सोम) चन्द्रमुख देवयाजक ! (या धामानि) जो धाम (हविषा) हवि से, धन धान्य से, सुखसाधन से (यजन्ति) संगत होरहे हैं, (ता विश्वा) वे सब (ते) तेरे हों ही, तेरे देवयजन के क्षेत्र में हों ही, किन्तु पृथिवी का प्रत्येक हविशून्य दुर्गम प्रदेश भी (ते यज्ञं परि-भूः अस्तु) तेरे यज्ञ के प्रति परि-सत्त हो, तेरे देवयजन की परिधि में आये। दिव्यीकरण के लिये तुझे पृथिवी के उन प्रदेशों में भी पहुंचना है, जहां कोई सुख सुविधा प्राप्त नहीं है और जहां मानव अमानुषी जीवन बिता रहे हैं।

(सोम) सुशोभन देवयाजक ! (सु-वीरः) सुवीरता से युक्त और (अवीर-हा) अवीरता का हनन करनेवाला, कायरता को प्राप्त न होनेवाला, तू, एक ओर (गय-स्फानः) सम्पन्न गहों—परिवारों को संवर्धित-समुन्नत करता हुआ और दूसरी ओर दीन दुखी घरों-परिवारों को दुःख से (प्र-तरणः) प्रकृष्टतया तारता हुआ (दुर्यान् प्र-चर) दुर्यों के प्रति प्रचरण-प्रगमन-सुसेवा कर।

केवल मंचप्रचार से नहीं, परिवार-परिवार की सुसेवा से सार्वभौम देवयजन सम्पूर्ण होगा।

देवयजन के मिशनरियों के लिये देवयजन-अध्याय के इस अन्तिम मन्त्र में सार्वभौम दिव्यीकरण की एक उदात्त प्रेरणा संनिहित है। हमें विश्व का आर्यकरण ही नहीं, दिव्यीकरण भी करना है। तदर्थ हमें पृथिवी के उस प्रत्येक धाम में पहुंचना है, जहां कैसा भी मानव या मानव-परिवार निवास करता है।

हवि से जो सम्पन्न धाम हैं, वे सब तेरे,
हो हविशून्य प्रदेश यज्ञपरिधि में तेरी।
करता हुआ तू, सोम, गयस्फन और प्रतरण,
प्रचर घर-घर में कर दिव्यीकरण प्रजा का ॥

वेद व्याख्या-ग्रन्थ

पंचम पुष्प



विद्यानन्द विदेह



यजुर्वेद-व्याख्या

पञ्चम पुष्प

पृथिवी के दिव्यीकरण की
परम्परा को चिरस्थायी
रखने के लिये

दिव्य दाम्पत्य

के निर्माण की
सुव्यवस्था



विद्यानन्द विदेह

मूल्य डेढ़ रुपया

प्रथम संस्करण ………… २०१८ वि : १९६१ ई०

२,०००

प्रकाशक : वेदसंस्थान, अजमेर

मुद्रक : आदित्य मुद्रणालय, अजमेर

वेदव्याख्याग्रन्थों पर प्राप्त कुछ सम्मतियां

चतुर्थ पुष्प तक में प्रकाशित सम्मतियों के अतिरिक्त प्राप्त कतिपय विशेष सम्मतियां यहां उद्धृत की जाती हैं—

[१]

चतुर्थ पुष्प मुझे प्राप्त हुआ। वेदों की जैसी व्याख्या सरल तथा सारगर्भित रूप में आप कररहे हैं, वैसी अन्यत्र मिलना कठिन है। निश्चय ही ईश्वरीय प्रेरणा आपके शुद्ध हृदय से होकर कार्य कररही है। इस ईश्वरीय कार्य से भारतीय जनता आपकी चिर ऋणी रहेगी। आप इस कार्य के लिये ईश्वरीय सहायता प्राप्त करेंगे।

वेदों का यह भाष्य जनता के जीवन में नव प्राण का संचार करता है। वेद ही भारतीय संस्कृति, दर्शन तथा सभ्यता के मूल हैं। अतः वेदों का उचित ज्ञान होना सबके लिये अनिवार्य है। इससे संस्कृति, सभ्यता तथा शान्ति एवं सम्पन्नता का मार्ग प्रशस्त होगा। इस कार्य में सफलता के लिये हम आपको बधाई देते हैं। ईश्वर का आशीर्वाद आपको प्राप्त हो।

श्री स्वामी शिवानन्द,
संस्थापक, योग-वेदान्त अरण्य अकादमी,
ऋषिकेश, उ० प्र०

[२]

विदेहकृत वेदव्याख्या का चतुर्थ पुष्प यजुर्वेद के चतुर्थ अध्याय का जनप्रिय, सुबोध तथा सरल भाष्य है। यह उतना ही उपयोगी तथा शिक्षाप्रद है, जैसे पहले तीन पुष्प हैं। श्री विदेह की व्याख्या की विशेषता है प्रकरण का निर्धारण और निर्वचन तथा वेदमन्त्रों के शब्दों का प्रकरण के साथ संगतिकरण। विदेह जी को इस प्रयास में असाधारण सफलता मिली है। पाण्डित्य-प्रदर्शन प्रायः नहीं के बराबर है। जो कुछ लिखा गया है, वह भली भांति समझ में आजाता है। ऐसी कृतियां पाठकों के ज्ञान को बढ़ाती हैं और वेद के लिये श्रद्धा उत्पन्न करती हैं।

—[पं०] गंगाप्रसाद उपाध्याय,
कला प्रेस, इलाहाबाद

[३]

तृतीय पुष्प मथुरा शताब्दी पर लिया और पढ़ा। यद्यपि इन मन्त्रों के अन्य भाष्य भी मैंने पढ़े थे। पर जो बात आपकी इन व्याख्याओं में है, वह अन्यत्र कहां। आपकी व्याख्यायें वेद के महत्त्व को बढ़ा रही हैं।

—मदनजित आर्य,
प्रधान, आर्यसमाज; फ़िरोज़पुर

[४]

चारों पुष्पों का पारायण किया। पढ़ते पढ़ते हृदय आनन्दविभोर होजाता है। भाषा ऐसी सरल और रोचक है कि साधारण से साधारण व्यक्ति भी समझ जाये और लाभ उठाये। काग़ज़ बहुत बढ़िया है। छपाई बहुत अच्छी है।

—बाबा ख़ुशीराम वेदी, बटाला

[५]

चतुर्थ पुष्प ध्यानपूर्वक पढ़ा। यजुर्वेद के चतुर्थ अध्याय की सुन्दर व्याख्या है। व्याख्या की भाषा और विचारों का प्रवाह बहुत ही आकर्षक है। श्री विदेह जी को बधाई।

—[पं०] गंगाप्रसाद (जयपुर)
भूतपूर्व प्रधान, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

[६]

वेद जैसा अत्यन्त जटिल विषय अत्यन्त सरल होता हुआ प्रत्यक्ष प्रतीत होता चलता है। मुझे अब तक विदेह जी के चारों वेदव्याख्या-पुष्पों को मनोयोग के साथ पढ़ने का सु-अवसर प्राप्त हुआ है। क्या कहना। एक से एक बढ़ चढ़ कर। जान पड़ता है कोई कुशल, मृदुला, सुमधुरा, सरला, सुस्नेहा, सुमनस्का विदुषी माँ स्वस्तन-सोम-कलशों द्वारा वेदामृत पान करा रही है। यदि ईशकृपा एवं जनता-जनार्दन का समुचित सहयोग मिलता रहा तो वह दिन दूर नहीं कि देव दयानन्द का दिव्य सन्देश सुमधुर फल प्रदान करता दृष्टिगत होगा।

—प्रि० किशोरीलाल,
इलाहाबाद

[७]

वेदव्याख्या का चतुर्थ पुष्प भी सुमधुर एवं आवास-स्निग्ध है। वेदनिहित ज्ञान को इसप्रकार से सर्वजनसुलभ करना एक अनूठी सी बात है। सरल अभिव्यक्ति के होने पर भी भाषास्रोत में सहज स्पष्टता, अजस्र प्रवाह एवं सरस सात्त्विकता है। मन्त्रार्थों की पृष्ठभूमि में मानों व्याख्याकार विदेह जी का सतत संदर्शन एवं सम्पर्क होता रहता है। व्याख्या पर एक ऐसी संदृश्य छाप है, जो कि घोष करती है कि व्याख्याकर्ता न केवल वाक्पति एवं विद्यामण्डित पण्डित ही है, अपि तु स्वाहुतिजन्य दिव्यता से भी ओत प्रोत है तथा प्रचेतक तत्त्वदर्शी के लक्षणों से युक्त है। तप:पूत विदेह जी के उदात्त व्यक्तित्व के संस्पर्श होजाने से मन्त्रार्थों में एक अभिप्रेरक एवं स्फूर्तिदायक ओज का समावेश होगया है। मन्त्रों की पूर्वापर संगति हो जाने से तो मन्त्रार्थमाला एक सुग्रथित मुक्तावलि सी प्रतीत होती है। किन्तु सभी मन्त्रों को पारस्परिक सम्बन्ध रूपी सूत्र में पिरोने के लिये कितनी दूरदृष्टि, अन्तर्दृष्टि एवं मनोयोग की आवश्यकता होती है। सचमुच ही यह स्तुत्य प्रयास वर्षों की अबाध साधना का फल है। विदेह जी ने हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्थान के प्रति अमर सेवा की है। मेरा हृदय श्रद्धानत है।

—प्रो० शिवानन्द शर्मा,
मेरठ

[८]

आपके वेदव्याख्याग्रन्थ के चारों पुष्प पढ़कर मुझे बहुत ही आनन्द प्राप्त हुआ। आपने मानवमात्र की और विशेषत: हिन्दु जाति की जो सेवा की है, वह बहुत ही प्रशंसनीय है। आप अपने ज्ञान का और भी विस्तार कर सकें, ऐसी भगवान् से प्रार्थना है।

श्री श्रीकृष्ण अग्रवाल,
अहमदाबाद

[९]

परमप्रिय सुहृद्वर मनीषिप्रवर श्री विद्यानन्द जी विदेहकृत चतुर्थ पुष्प के मनोहर घ्राणतर्पक सौरभ को सूंघकर मेरा मन प्रसन्न हुआ।

यजुर्वेद के चतुर्थ अध्याय के मन्त्रों की सुसंगत, क्रमबद्ध, मानवमंगलकारक व्याख्या को पढ़कर हृदय आनन्दविभोर और आत्मा प्रभुप्रेमरस में निमग्न हो गया।

व्याख्याकार ने देवयाजक और देवयाजिका का आदर्श चारु चरित्र चित्रण करके और पति पत्नी वर्ग को अनुकरणीय मानव-जीवन-निर्माण के उपाय बतलाकर दिव्य सुख तथा मोक्षानन्द का मार्ग दर्शाया है।

प्रभु के अजर अमर वेदरूप बृहत्तम काव्यरत्न की अनुपम शब्दालंकार और अर्थालंकार से परिपूर्ण, कलासौन्दर्यमयी भावच्छटा को प्रदर्शित करनेवाली, सर्वसाधारण शिक्षित नरनारीगण की समझ में आने योग्य, सरल हृदयंगम शैली से की हुई व्याख्या द्वारा "विदेह जी" ने जन-जन के हृदय में अपना आसन जमा लिया है और जमाते जायेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

मैं इस प्रकार की सुगम संगत व्याख्या के लिये आदरणीय बन्धु विद्यानन्द जी को हृदय से धन्यवाद देता हुआ परम पिता ओं प्रभु से इनकी दीर्घायु के लिये प्रार्थना करता हूं।

वेदार्थं तनुते सुसंगततया यो वेदतत्त्वार्थविद्—
यास्काचार्यनिरुक्तनिर्वचनिर्वक्ति मन्त्रावलीम्।
दिव्यं भावचयं चिनोति रसदं व्याख्यां वितन्वन्नृतं
विद्यानन्दविदेहदेवपदभाग् वन्द्यस्स विद्वद्वरैः ॥ १
पुष्पं चतुर्थं यजुरर्थसौरभं
समीक्ष्य तत् कस्य मनीषिणो मनः।
मोदाम्बुधौ मज्जति मित्र ! नामलं
योगिन् विचित्रा वृत्तिरस्ति ते श्रुतौ ॥ २
विश्वस्य दिव्यीकरणं यदि स्यात्
स्वर्गो भवेन्मानवजीवनं सत्।
वेदस्य शिक्षा शुभदा जनेभ्यः
प्रदर्शिता योगबलेन धीमत् ॥ ३

मुनि श्रीमन्मेधाव्रताचार्य आर्यकवीन्द्रः
योगाश्रम, दिव्य कुंज, कुसूर,
पो० ऑ० येवला, (जि० नासिक)

[१०]

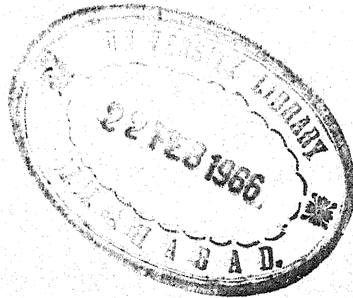
आचार्य विदेह जी तथा श्री अरविन्द जी की वेदव्याख्या से मैं जितना प्रभावित हुआ, उतना और किसी भी व्याख्याकार से नहीं। इन दोनों में भी श्री विदेह जी की व्याख्या अधिक सरल, सुगम तथा इसीलिये सर्वसाधारण की दृष्टि से भी अत्यधिक उपयोगी है। वेद के प्रति हमारी गयी हुई निष्ठा और श्रद्धा को लौटानेवाले इन दोनों ऋषियों के प्रति मैं सच्चे हृदय से नतमस्तक हूं।

—श्री कपिलदेव शास्त्री,
एम० ए०, साहित्याचार्य, व्याकरणाचार्य,
निरुक्ताचार्य

[११]

वेदव्याख्या-पुष्प का खूब अवलोकन किया। बहुत ही उत्तम रीति से व्याख्या की गयी है। अति प्रशंसनीय प्रयास है।

—[आचार्य] नन्दकिशोर शास्त्री,
एम० ए० मीमांसाचार्य,
प्रधानाचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता,
गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर



आत्म-निवेदन

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति ॥ (ऋ० १.१८.७)

जिसके बिना सिद्ध जन की भी नहीं साधना होती सिद्ध ।
प्रेर रहा है योग धारणाओं का मेरी वही प्रवृद्ध ॥

वेदव्याख्याग्रन्थ का यह पांचवाँ पुष्प पर्याप्त विलम्ब से प्रकाशित होरहा है । विलम्ब का विशेष कारण तो मेरी विदेश-वेदप्रचार-यात्रा ही है। पर स्थिति भी यह है कि जहां तक लेखन-कार्य का सम्बन्ध है, अभी मैं नितान्त अकेला हूं । सविता तथा वेदव्याख्याग्रंथों का लिखना, उनकी प्रेस-कॉपी तैयार करना, ग्रन्थों के अन्तिम प्रूफों का पढ़ना-सब कुछ स्वयं मुझे ही करना पड़ता है । निरन्तर वेदप्रचार-यात्रायें, प्रति दिन दोनों समय वेदोपदेश, कभी कभी एक दिन में दो से अधिक उपदेश भी, भारी पत्र-व्यवहार, मिलने जुलने वालों का मेरे समय पर आक्रमण, मुलाकातों की भरमार-ये सब बातें ऐसी हैं, जिनके द्वारा मेरे समय और मेरी शक्ति का बहुत बड़ा भाग अपहृत होजाता है । शारीरिक असुविधायें तथा वातावरणजन्य बाधायें भी मार्ग में हैं ही । उपकरणों का अभाव तो है ही, लेखन-कार्य में हाथ बटानेवाला भी अभी कोई नहीं मिला है । ये हैं वे परिस्थितियां, जिन्हें पग-पग पर परास्त करते हुए मुझे अपनी साधना के पथ पर चलना पड़ रहा है । मैं रुका एक क्षण के लिये भी नहीं हूं, न कभी रुकूंगा । "चरैवेति" मेरा सिद्धांत है । अपराजित हृदय से निरन्तर कार्य किये चले जाना मेरा स्वभाव है । सतत साधना मेरा आचार है । धैर्य मेरा आधार है ।

निरुद्ध स्रोत अब प्रवाहित होने लगे हैं। बन्द द्वार अब खुलने लगे हैं। वेदसंस्थान की दिव्य साध पर शीघ्र दिव्य फल लगेंगे । भविष्य अतिशय उज्ज्वल है । मैं पूर्ण विश्वास के साथ अपनी साध की साधना में संलग्न हूं । जिस प्रभु ने मुझे यह श्रेष्ठतम और गुरुतम कार्य सोंपा है, उसी को मेरी लाज है ।

प्रियतम ! तुमको मेरी लाज !!

वैशाख शु० २, सोमवार, २०१८,
१७ एप्रिल १९६१

प्रभु के आशीर्वाद और जन-जन के
प्यार से समलंकृत,
—विद्यानन्द विदेह

यजुर्वेद-व्याख्या

पांचवां अध्याय

दिव्य दम्पती

अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वातिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वाग्नये त्वा रायस्पोषसदे विष्णवे त्वा ।। (य० ५/१)

अग्ने: तनू: असि विष्णवे त्वा सोमस्य तनू: असि विष्णवे त्वा अतिथे: आतिथ्यं असि विष्णवे त्वा श्येनाय त्वा सोम-भृते विष्णवे त्वा अग्नये त्वा रायस्पोष-दे विष्णवे त्वा ।।

चतुर्थ अध्याय में पृथिवी के दिव्यीकरण की शिक्षा दी गयी है। इस पांचवें अध्याय में पृथिवी के दिव्यीकरण की संसिद्धि तथा उसके स्थायित्व के लिये आदर्श दिव्य दाम्पत्य की शिक्षा दी गयी है।

आज संसार दाम्पत्य के रहस्य और महत्त्व को भूलता चला जा रहा है। दाम्पत्य में जब आसुरी भावनायें प्रवेश कर जाती हैं, तो यह पृथिवी आसुरी माया से आच्छन्न होजाती है। जब दाम्पत्य में दिव्य भावनायें प्रवेश कर जाती हैं, तो यह पृथिवी दैवी सम्पदा से सम्पन्न होजाती है।

दाम्पत्य नाम दो शरीरों के मिलन का नहीं है, दो आत्माओं के मिलन का है। नर और नारी के रूप में मिलकर दो आत्मायें नारायण से मिलने के लिये दाम्पत्य में सुयुक्त होते हैं। पति और पत्नी के रूप में दो आत्माओं का मिलन परमात्म-मिलन की सुपावन भूमिका है।

वक्ष-सवक्ष होकर पति पत्नी के शरीर-संस्पर्श में आत्ममिलन की ही छटपटाहट है। ऊपर वक्ष है। वक्ष के भीतर हृदय है। हृदय आत्मा का अधिष्ठान है। दम्पती का सवक्ष मिलन क्या है, मानों वक्ष को चीरकर एक दूसरे के हृदय में प्रविष्ट होकर दोनों के आत्मा परस्पर संयुक्त और एकाकार होजाना चाहते हैं।

दाम्पत्य में हो प्रेम की पूर्ण जागृति होती है। उस जागृत प्रेम को यदि पवित्र धाराओं में प्रवाहित किया जाये तो इस भूमण्डल के सम्पूर्ण मानव-मण्डल को वंशानुवंश दिव्य किया और दिव्य रखा जा सकता है। दाम्पत्य प्रेम की पवित्र धारा जब परमात्मा की ओर प्रवाहित होती है तो वह भक्ति का रूप धारण कर लेती है, देश की ओर प्रवाहित होती है तो देशप्रेम का रूप धारण करती है, सन्तान की ओर प्रवाहित होती है तो वात्सल्य का रूप धारण करती है, गुरु जनों की ओर प्रवाहित होती है तो श्रद्धा का रूप धारण करती है, धर्म की ओर प्रवाहित होती है तो निष्ठा का रूप धारण करती है, विश्व की ओर प्रवाहित होती है तो विश्वप्रेम का रूप धारण करती है। शर्त यह है कि दाम्पत्य प्रेम पवित्र हो और वह पवित्र तब ही रह सकता है, जब दम्पती का जीवन साधनामय हो। दम्पती का जीवन साधनामय तभी रह सकता है, जब उनकी एक दूसरे के प्रति हार्दिक आस्था तथा आत्मिक निष्ठा हो।

पत्नी के प्रति अपनी आस्था तथा निष्ठा व्यक्त करता हुआ पति कहता है—

१) तू (अग्ने: तनू: असि) अग्नि की विस्तारयित्री है, तू प्रेमाग्नि का विस्तार करनेवाली है। मैंने (त्वा विष्णवे) तुझे सर्वव्यापक प्रभु की प्राप्ति के लिये वरण किया है। तेरा प्रेम मुझे विष्णु की प्राप्ति करानेवाला हो।

नारी प्रेमाग्नि की वह सुपावन चिंगारी है, जिसके प्रज्वलन से नारायण विष्णु भगवान् की प्राप्ति होती है। इश्क़े मजाज़ी से इश्क़े हक़ीक़ी का

यही राज़ है। नारी के प्रेम से नारायण की प्रीति सीखी जाती है, इसका यही रहस्य है।

२) तू (सोमस्य तनूः असि) सोम की विस्तारयित्री है, तू सोम्यता-प्रियता-मनोहरता का विस्तार करनेवाली है। मैंने (त्वा विष्णवे) तुझे विष्णु की प्राप्ति के लिये वरण किया है। तेरी सौन्दर्य-छवि मुझे विष्णु के सौन्दर्य पर रिझानेवाली हो।

नारी विष्णु भगवान् की वह मोहनी कृति है, जिसपर पति परवाने की तरह मोहित होता है। नारी का सौन्दर्य नारायण के सौन्दर्य की एक छटा मात्र है। नारी के सौन्दर्य की छटा-छवि पति को नारायण के सौन्दर्य की ओर आकृष्ट करनेवाली हो।

पति के प्रति अपनी आस्था तथा निष्ठा को व्यक्त करती हुई पत्नी कहती है—तू (अतिथेः आतिथ्यं असि) तू अतिथि का आतिथ्य है, तू मुझ अतिथि का आतिथ्य करनेवाला है। मैंने (त्वा विष्णवे) तुझे विष्णु के लिये, (त्वा श्येनाय) तुझे आत्मा के लिये, (त्वा सोम-भृते विष्णवे) तुझे सोमधारक विष्णु के लिये (त्वा अग्नये) तुझे प्रेमाग्नि के लिये, (त्वा रायस्पोष-दे विष्णवे) तुझे आत्मैश्वर्य की पुष्टि देनेवाले विष्णु के लिये वरण किया है।

विष्णु नाम सर्वव्यापक परमात्मा का है। श्यैङ् गतौ। श्येन का अर्थ है गति करनेवाला। सतत गति करनेवाला होने से आत्मा श्येन है। विष्णु निस्सन्देह सोम-भृत है, सोम्यता का धारक है।

नारी पति का वरण किस लिये करती है, यहां यह बड़ी उत्तमता के साथ चित्रित किया गया है। पत्नी अतिथि के रूप में पति के गृह में प्रविष्ट हुई। अतिथि पूज्य होता है। पूज्य अतिथि का आतिथ्य करना गृहस्वामी का पवित्र कर्तव्य है। पत्नी अपना आतिथ्य स्वयं बता रही है—मैं तेरा हाथ पकड़ कर तेरे गृह में इसलिये आई हूं कि तेरे आश्रय से मैं उस विष्णु को प्राप्त करूं, जो सोमधृत है और आत्मैश्वर्य की पुष्टि का देनेवाला है। मैंने तेरा आतिथ्य श्येन के लिये, आत्मोन्नति के लिये, स्वीकार किया है। मैंने तेरा आश्रय लिया है उस प्रेमाग्नि के प्रज्वलन के लिये, जिसके प्रकाश में आत्मा का उत्थान और विष्णु का सम्मिलन होता है।

तू है विस्तारिका अग्नि की,
तुझे विष्णु के लिये।
तू है विस्तारिका सोम की,
तुझे विष्णु के लिये।
तू तो है आतिथ्य अतिथि का,
तुझे विष्णु के लिये,
तुझे श्येन के लिये,
तुझे सोमधृत विष्णु के लिये,
तुझे अग्नि के लिये,
तुझे आत्मधन की पुष्टि के दाता विष्णु के लिये।

अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ उर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवा असि।
गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि
जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि॥ (य० ५/२)

अग्नेः जनित्रं असि वृषणौ स्थः उर्वशी असि आयुः असि पुरू-रवाः असि।
गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रै-स्तुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि
जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि॥

पत्नी कहे चली जारही है—तू (अग्नेः जनित्रं असि) अग्नि का जनक है, प्रेमाग्नि का प्रादुर्भावयिता है। तेरे सम्पर्क से ही मुझे प्रेम की प्रतीति हुई है। तू मेरे प्रेम का आदि स्रोत है।

पति कहता है—प्रिये ! तू (उर्-वशी असि) हृदय-वशयिनी है। तूने मेरे हृदय को अपने वश में कर लिया है।

पत्नी कहती है—प्रियतम ! तू मेरा (आयुः असि) जीवन है। तू मेरा जीवन सर्वस्व है। तू (पुरू-रवाः असि) बहु-शब्द है, बहु-श्रुत है। मैं (त्वा गायत्रेण छन्दसा मन्थामि) तुझे गायत्र की भावना से मथती हूं, (त्वा त्रै-स्तुभेन छन्दसा मन्थामि) तुझे त्रै-स्तवन की भावना से मथती हूं, (त्वा जागतेन छन्दसा मन्थामि) तुझे जागत भावना से विलोडती हूं।

"तू मेरा जीवन है", पत्नी के इस वाक्य में कितनी आत्म-निजता तथा पतिभक्ति गर्भित है।

"तू बहुश्रुत है", पत्नी के इन शब्दों में जहां पति के प्रति पूज्यता की भावना निहित है, वहां पति की योग्यता का भी संकेत है। बहुश्रुत पति ही पत्नी का पथप्रशस्तक बनकर उसे विष्णु की प्राप्ति करा सकता है और उसका आत्मोत्थान कर सकता है।

"मैं तुझे गायत्र की भावना से मथती हूं", यह एक रहस्यपूर्ण उक्ति है। प्राणो हि गायत्रः। प्राण ही गायत्र है। प्राण से ही जीवन है। प्राण से ही प्रियता है। प्रत्येक प्राणी को प्राण सर्वातिशय प्यारा है। इसी लिये जो सर्वातिशय प्रिय होता है, उसे प्राणप्रिय कहते हैं। पतिव्रता पत्नी अपने बहुश्रुत पति को प्राण की भावना से मथती है। दूध या दही को मथा जाने पर मक्खन निकलता है। मक्खन की प्राप्ति के लिये दूध अथवा दही को मथा जाता है, अन्तर्विलोडन किया जाता है। इसी प्रकार बहुश्रुत पति से ज्ञान-नवनीत पाने के लिये पति के अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर अन्तर्मथन अथवा अन्तःखोज करनी पड़ती है, पति के बाह्यकरण को नहीं अन्तःकरण को मथना होता है। ज्ञान ही मानवप्राणी का प्राण है, त्राण है।

पति के अन्तःकरण को टटोलने पर जब पत्नी को अपने बहुश्रुत पति से ज्ञान-नवनीत की उपलब्धि होती है, तब वह मनसा वाचा कर्मणा तीनों प्रकार से अपने पति का स्तवन करती है। इसी लिये उसने कहा है, "प्रियतम ! मैं तुझे त्रि-स्तवन की भावना से मथती हूं। तुझसे ज्ञान-नवनीत मथकर मैं तेरा तीनों प्रकार से स्तवन करती हूं।"

"मैं तुझे जागत भावना से विलोडती हूं", पत्नी का यह कहना दाम्पत्य आदर्श की पराकाष्ठा है। जगत् से जागत। जागत का अर्थ है जगत्-सम्बन्धी, सार्वभौम। ज्ञानी पति का आश्रय पाकर पत्नी जगत् में व्याप जाती है। ज्ञानी पति के सान्निध्य से पत्नी का व्यक्तित्व सार्वभौम हो जाता है। गृह की परिधियों का अतिक्रमण करके ज्ञानी दम्पती का दाम्पत्य जागत [सार्वभौमता] को प्राप्त करे, इसी में दाम्पत्य की प्रतिष्ठा है। पति पत्नी के संयोग से जगत् का कल्याण न हुआ, तो वह दाम्पत्य ही क्या।

जागत दम्पती को सम्बोधन करते हुए जगत् के मानव कह रहे हैं—तुम दोनों (वृषणौ स्थः) वृषण हो, वृष्टि करनेवाले हो, आनन्दघन हो, मानवसमाज में उत्तम गुण कर्म स्वभाव का प्राचुर्य करनेवाले हो।

तू है अग्नि का जनित्र,
और तू उर्वशी और आयु है।
तू है पुरू-रवा मथती हूं,
तुझे प्राण की भावना से।
मैं मन्थन करती हूं तुझको,
त्रि-स्तवन की भावना से।
मैं तुझको मन्थन करती हूं,
जागत की सुभावना से।
वर्षणशील हो तुम दोनों ही।।

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ ।
मा यज्ञं हिंसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥
[य० १२/६०] (य० ५/३)

भवतं नः स-मनसौ स-चेतसौ अ-रेपसौ ।
मा यज्ञं हिंसिष्टं मा यज्ञ-पतिं जात-वेदसौ शिवौ भवतं अद्य नः ॥

जागत दम्पती जिस किसी भी देश प्रदेश में प्रवेश करते हैं, सर्वजन सर्वत्र उनका स्वागत सत्कार करते हुये कहते हैं—

१) तुम दोनों (भवतं) होओ (नः) हमारे लिये (स-मनसौ) स-मन, (स-चेतसौ) स-चेत, (अ-रेपसौ) अरेप ।

२) तुम दोनों (भवतं) होओ (अद्य) आज (नः) हमारे लिये (जात-वेदसौ शिवौ) जात-वेद और कल्याणकारी ।

३) तुम दोनों (मा यज्ञं हिंसिष्टं) न यज्ञ को हिंसो, (मा यज्ञ-पतिं) न यज्ञ-पति को ।

समन=स-मन, मन-सहित, मनवाले, शुद्ध और सजीव मन से युक्त । शिव संकल्प से युक्त जो हैं, वे समन हैं ।

सचेत=स-चेत, चेतना-सहित, चेतनावान्, आत्मचेतना से युक्त, प्रबुद्ध, विवेकी ।

अरेप=अ-रेप, नहीं-रेप, रेपरहित । रेप का अर्थ है मल और निन्दा । निर्मल और अनिन्द्य का नाम अरेप है । जो निर्मल है, वही अनिन्द्य है । अनिन्द्य वही है, जो निर्मल है ।

जातवेद=जात-वेद, जात मात्र को जाननेवाला, बहुज्ञ, ज्ञानी । जो कुछ जात है, विद्यमान है, उस सबको जाननेवाला जात-वेद है ।

यद्यपि अद्य शब्द का अर्थ आज है, किन्तु इसका प्रयोग वेदों में सर्वत्र वर्तमान काल के लिये हुआ है । प्रत्येक भाषा में आज शब्द का प्रयोग वर्तमान काल में भी होता है, यथा—आज कौन है, जिसे धन से प्यार नहीं है । इस वाक्य में आज से तात्पर्य वर्तमान काल से है ।

जो दम्पती शिव संकल्प से युक्त, विवेकी, निर्मल और ज्ञानी हैं, वे ही मानवसमाज के लिये कल्याणकारी हो सकते हैं । दाम्पत्य जीवन विश्व के लिये शिव [कल्याणकारी] ही होना चाहिये, अशिव नहीं । इसी भाव से जन मानव के मुख से कहलाया गया है—तुम दोनों आज हमारे लिये समन, सचेत, अरेप, जातवेद और शिव होओ ।

"तुम दोनों न यज्ञ को हिंसो, न यज्ञपति को", इस सम्बोधन में यज्ञ से अभिप्राय जीवनयज्ञ से और यज्ञपति से तात्पर्य आत्मा से है । आत्मा ही जीवनयज्ञ का यज्ञपति है । दम्पती को चाहिये कि वे अपने अपने जीवन को सदा यज्ञीय बनाये रहें और अपने अपने आत्मा को अपने अपने जीवनयज्ञ का सदा यज्ञपति अर्थात् जीवनयज्ञ की रक्षा करनेवाला बनाये रहें । जीवन को अयज्ञीय बनाना जीवनयज्ञ की हिंसा है और आत्मा को अयज्ञीय विषयों में लगाना यज्ञपति की हिंसा है । दम्पती को न अपने जीवनयज्ञ की हिंसा करनी चाहिये, न अपने यज्ञपति की ।

दोनों होओ हमारे लिये,
समन सचेत अरेप ।
दोनों होओ हमारे लिये,
आज जातवित् मंगलकारी ।
हिंसो नहीं यज्ञ को यज्ञपति को ॥

सूक्ति—**मा यज्ञं हिंसिष्टं मा यज्ञपतिम् ॥**
न जीवनयज्ञ को हिंसो, न आत्मा को ॥

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपावा।
स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यं सदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा ॥
[अ० ४-३९-९] (य० ५/४)

अग्नौ अग्निः चरति प्रविष्टः ऋषीणां पुत्रः अभि-शस्ति-पावा।
स नः स्योनः सु-यजा यज इह देवेभ्यः हव्यं सदं अ-प्रयुच्छन् स्वाहा ॥

जागत दम्पति का अभिस्तवन करते करते जन-मानव पति को लक्ष्य करके कहने लगता है—(अग्निः अग्नौ प्रविष्टः चरति) अग्नि अग्नि में प्रविष्ट होकर चलता-विचरता है।

आत्मैवाग्निः। आत्मा ही अग्नि है। अग्निर्वै आयुः। अग्निर्वै जीवनम्। अग्नि निश्चय से आयु है। अग्नि निश्चय से जीवन है। दाम्पत्य-प्रेम वह सुपावन याग है, जिसमें एक आत्माग्नि दूसरे आत्माग्नि में प्रविष्ट होकर विचरता है, जिसमें आत्माग्नि ब्रह्माग्नि में प्रविष्ट होकर चलता है, जिसमें एक जीवन दूसरे जीवन में समाकर संचरण करता है। दाम्पत्य वह पारस्परिक आध्यात्मिक समर्पण है, जिसमें पति का आत्मा पत्नी को समर्पित होता है और पत्नी का पति को। दाम्पत्य वह आत्माहुति-याग है, जिसमें पति का जीवन पत्नी में आहुत होता है और पत्नी का पति में। इसी अनुभूति से अनुभूत होकर जनमानव ने कहा है—अग्नि अग्नि में प्रविष्ट होकर विचर रहा है। पति पत्नी में प्रविष्ट होकर रमण कर रहा है। पति का आत्मा पत्नी के आत्मा में प्रविष्ट होकर प्रगमन कररहा है। पति अपनी पत्नी के साथ जीवन-सन्ध होकर सर्वत्र जा आ रहा है। आत्मैक्य में ही सहगमन का आनन्द है। अग्नि अग्नि में प्रविष्ट होकर ही प्रज्वलन और प्रकाशन करता है।

जनमानव आदर्श दाम्पत्य के अभिनेता [पति] को पुनः सम्बोधन करते हुये कहते हैं—(अभि-शस्ति-पावा) अभिशस्ति से रक्षा करनेवाला (ऋषीणां स्योनः पुत्रः) ऋषियों का सुखकारी पुत्र (सः) वह तू (अप्रयुच्छन्) प्रमाद न करता हुआ, तत्पर हुआ (देवेभ्यः) देवों के लिये, दिव्यताओं की संव्याप्ति के लिये (सदं) सदा, सन्तत (हव्यं स्वाहा) हव्य होमता हुआ, सुविचार-हवि दान करता हुआ (नः) हमारे लिये (सु-यजा इह यज) सुयज्ञ से यहां यज्ञ कर, स्व सुजीवनयाग से देवयजन कर।

अभि का अर्थ है सर्वतः, सब प्रकार से, सब ओर से। शस्ति का अर्थ है हिंसा, विघ्न, बाधा। पावा का अर्थ है रक्षा करनेवाला। अभि-शस्ति-पावा का अर्थ है सब ओर से सब प्रकार की विघ्न-बाधाओं से रक्षा करनेवाला।

पुत्र का प्रयोग यहां उत्तराधिकारी के अर्थ में हुआ है।

देवेभ्यः का प्रयोग हुआ है यहां दिव्यताओं के लिये, दिव्यताओं की व्याप्ति के लिये।

दिव्य विचार ही वह हव्य है, वह सुपावन हवि है, जिससे पृथिवी के दिव्यीकरण-याग का सुनिष्पादन होता है।

जनमानव के उपर्युक्त सम्बोधन से दाम्पत्य के प्रत्येक नायक [पति] को निम्न सुप्रेरणायें प्राप्त होती हैं—

१) दाम्पत्य-नायक का कर्तव्य है कि वह आदर्श दाम्पत्य की साधना के मार्ग में सब ओर से आने-वाली सब प्रकार की विघ्नबाधाओं से रक्षा सुरक्षा करता हुआ दिव्यीकरण के पथ पर आरूढ़ रहे।

२) वह अपने आपको ऋषियों का सुखकारी उत्तराधिकारी सिद्ध करे। प्रत्येक वेदानुयायी उन ऋषियों का ऋणी है, जो वैदिक व्याख्यानों द्वारा वैदिक शिक्षाओं का साचार प्रचार करते चले आरहे हैं। दाम्पत्य-नायक का कर्तव्य है कि अपने दाम्पत्य

जीवन में वह उन ऋषियों का अनुगामी बनकर और उनके वैदिक विचारों तथा व्यवहारों से युक्त होकर वैदिकता का प्रसार करते हुये अपने को ऋषियों का सुखद उत्तराधिकारी सिद्ध करे। वैदिक दाम्पत्य एक दिव्य मिशन है, विलास-स्थल नहीं।

३) दाम्पत्य-नायक का कर्तव्य है कि दाम्पत्य के विविध कर्मों का सपत्नीक सुचारुता के साथ निर्वहन करता हुआ वह तत्परता के साथ यथावसर और यथास्थान पृथिवी के दिव्यीकरण के स्थायित्व के लिये सुविचारों की हवि होमता हुआ सतत सन्तत देवयजन करता रहे।

इन्हीं दिव्य प्रेरणाओं से ओत प्रोत रखने के लिये दाम्पत्य-नायक के प्रति जनमानव के मुख से कहलवाया गया है, "अभिशस्ति से सर्वतः रक्षा करनेवाला और ऋषियों का सुखद उत्तराधिकारी बनकर वह तू तत्परता के साथ दिव्यताओं की स्थायी संव्याप्ति के हेतु सुविचार-हव्य होमता हुआ यहां मानवसमाज में अपने जीवन-रूपी सुयज्ञ से हमारे लिये देवयजन करता रह"।

हो प्रविष्ट अग्नि में,
अग्नि विचर रहा है।
करता हुआ सुरक्षा रक्षा अभिशस्ति से,
ऋषियों का तू सुखद उत्तराधिकारी हो।
वह तू तत्पर हुआ दिव्यताओं के हेतु,
सन्तत हव्य होमता हुआ,
कर सुयज्ञ से यज्ञ यहां पर॥

सूक्ति—**अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः॥**
अग्नि अग्नि में प्रविष्ट होकर विचरता है।
अग्नि अग्नि में प्रविष्ट होकर प्रकाशता है॥
सुयजा यजेह॥
यहां सुयज्ञ से यज्ञ कर।
यहां जीवन-सुयज्ञ से देव-यजन कर॥

आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वन ओजिष्ठाय। अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपा अनभिशस्तेन्यमञ्जसा सत्यमुपगेषं स्विते मा धाः॥ (यo ५/५)

आ-पतये त्वा परि-पतये गृह्णामि तनू-नप्त्रे शाक्वराय शक्वने ओजिष्ठाय। **अनाधृष्टं असि अनाधृष्यं** देवानां ओजः अनभिशस्ति **अभिशस्ति-पाः** अनभिशस्तेन्यं अञ्जसा सत्यं उप-गेषं सु-इते मा धाः॥

जनमानव में अपने देवयाजक पति का प्रतिष्ठोपेत अभिस्तवन सुनकर पत्नी गदगद हो जाती है और उससे आत्मविनय करने लगती है—

१) मैं (त्वा गृह्णामि) तुझे ग्रहण कररही हूं (आ-पतये) पूर्ण-स्वामित्व के लिये, पूर्ण-रक्षण के लिये।

पति का अर्थ है स्वामी और रक्षा करनेवाला। स्वामित्व और रक्षण साथ साथ चलते हैं। वास्तविक अर्थों में पति अथवा स्वामी वही है, जो पत्नी के मान, सम्मान, सतीत्व, सत्त्व और आत्मा की रक्षा कर सके। वह नारी धन्य है, जिसे ऐसे देवयाजक पति का पतित्व तथा रक्षण, स्वामित्व तथा आश्रय, प्राप्त है, जो उसकी पूर्णतः रक्षा करता हुआ, उसे अपनी दिव्य साधना में अपनी सह-साधिका बनाये हुये है।

२) मैं (त्वा गृह्णामि) तुझे अपनारही हूं (परि-पतये) परि-स्वामित्व के लिये, परि-रक्षण के लिये।

परि का अर्थ है सब ओर, सब ओर से, सब प्रकार से, सर्वतः, अभितः। किसी एक पार्श्व में नहीं, जीवन के सभी पार्श्वों में पत्नी की सर्वतः सब प्रकार से रक्षा करना एक आदर्श पति का पुनीत कर्तव्य है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक,

पारिवारिक, सामाजिक, लौकिक, पारलौकिक—सभी पार्श्वों में पत्नी के जीवन के संवहन में उसकी पूर्ण रक्षा करनेवाला देवयाजक पति जिसे सम्प्राप्त है, निस्सन्देह वह पत्नी सुधन्य है।

३) मैं (त्वा गृह्णामि) तुझे शिरोधार्य कररही हूं (तनू-नप्त्रे) जीवन-नयन के लिये, जीवन-निर्वहन के लिये, जीवन-नौका खेने के लिये।

कितना सुन्दर है यह एक पतिपरायणा पत्नी का अपने देवयाजक पति के प्रति आत्मीय सम्बोधन। पति अपनी पत्नी का उन्नायक है, उसके जीवन की पतवार है, उसकी जीवन-नौका का खेवट [मल्लाह, नाविक] है। उसे अपनी पत्नी की जीवन-नौका को खेकर इस पार से उस पार पहुंचाना है।

४) मैं (त्वा गृह्णामि) तुझे आश्रय कररही हूं (शाक्वराय शक्वने) शाक्वर और शक्वन के लिये।

शाक्वर और शक्वन दोनों शब्द शक्तिवाची होते हुये भी उनके अर्थों में एक सूक्ष्म भेद है। शाक्वर नाम उस आध्यात्मिक शक्ति का है, जो आत्मसंबल का संवर्धन करती है। शक्वन नाम उस शारीरिक शक्ति का है, जिसके द्वारा शक्यता अथवा क्षमता का सम्पादन होता है। एक आदर्श पति अपनी पत्नी का वह प्रेरणाकेन्द्र तथा शक्तिकेन्द्र है, जिससे उसे [पत्नी को] निरन्तर प्रेरणा तथा शक्ति प्राप्त होती है।

५) मैं (त्वा गृह्णामि) तुझे थामरही हूं (ओजिष्ठाय) अतिशय-ओज के लिये।

शाक्वर और शक्वन के संयोग से जिस उमंग, उत्साह, साहस, पराक्रम, पुरुषार्थ, क्षमता और अदम्यता का क्षरण होता है, उसी का नाम ओज है। ओजिष्ठ का अर्थ है अतिशय उमड़ता हुआ ओज। एक ओजिष्ठ [अतिशय ओजस्वी] पति अपनी सहधर्मिणी का वह उमड़ता हुआ ओज-स्रोत है, जिससे वह निरन्तर ओजिष्ठा बनी रहती है।

६) केवल मेरा ही नहीं, तू (देवानां) देवों का, दिव्य पथ के पथिकों का (अनाधृष्टं) अधर्षणीय, प्रगल्भ, अदम्य, (अनाधृष्यं) अनाधृष्य, अधर्ष्य, प्रगल्भ्य, अदमनीय, (अनभिशस्ति) निर्बाध (अभिशस्ति-पाः) विघ्नबाधाओं से रक्षा करनेवाला (अनभिशस्तेन्यं) निर्विघ्नता के साथ नयन करने वाला, निर्विघ्नतया अपने साथ लेचलनेवाला (ओजः) ओज (असि) है।

तू ओजिष्ठ है। तेरा ओज साधारण ओज नहीं है। तेरा ओज वह ओज है, जो दिव्यपथगामियों को प्रगल्भता के साथ दिव्य पथ पर अग्रसर करता रहता है और उन्हें निराश व हताश नहीं होने देता है।

७) तेरे ओज से ओजित होकर मैं (अञ्जसा) व्यक्तता-स्पष्टता के साथ (सत्यं उप-गेषं) सत्य को प्राप्त करूं, सत्य के निकट पहुंचूं, सत्य का साक्षात्कार करूं।

एक आदर्श पति के सान्निध्य से पत्नी उस सत्य का साक्षात्कार करती है, जो अखिल सत्ता का संजीवन है और जिसकी प्राप्ति मानव-जीवन का चरम और परम लक्ष्य है।

८) प्रियतम! (मा सु-इते धाः) मुझे सु-इत पर स्थापन कर, मुझे सुपथ पर आरूढ़ रख।

पत्नी को अपनी सहचारिणी बनाकर उसे सुपथ पर आरूढ़ रखना पति का पुनीत कर्तव्य है।

तुझे कररही हूं ग्रहण मैं,
रक्षण परिरक्षण के हेतु,
जीवननयन आत्मसंबल शक्ति के हेतु,
और उमड़ते हुये ओज अतिशय के हेतु।
तू है देवों का प्रगल्भ, प्रगल्भ्य,
और निर्बाध विघ्नहारी सुरक्षक,
पथप्रदर्शक और आगे लेजानेवाला ओज।
करूं सत्य का मैं संदर्शन,
स्पष्टता के साथ,
रख मुझको आरूढ़ सुपथ पर॥

सूक्ति—अञ्जसा सत्यमुपगेषम्॥
मैं स्पष्टता के साथ सत्य प्राप्त करूं।
स्विते मा धाः॥
मुझे सुपथ पर स्थापित रख।

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूरियँ सा मयि यो मम तनूरेषा सा त्वयि ।
सह नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिः ॥
(य० ५/६)

अग्ने व्रत-पाः त्वे व्रत-पाः या तव तनूः इयं सा मयि या-उ मम तनूः एषा सा त्वयि ।
सह नौ व्रत-पते व्रतानि अनु मे दीक्षां दीक्षा-पतिः मन्यतां अनु तपः तपःपतिः ॥

अपनी आत्मविनय को धारावाहित रखती हुई पत्नी कहे चली जारही है—

१) (अग्ने व्रतपते) प्राज्ञ व्रतपते ! तू (व्रत-पाः) व्रतों की रक्षा करनेवाला है, (त्वे) तुझमें (व्रत-पाः) व्रतों का पालन करने कराने वाला है, व्रतों के पालन करने कराने की क्षमता है ।

व्रत शब्द के दो प्रसिद्ध अर्थ हैं सुकर्म और नियम । ये दोनों अर्थ व्रत के पूरक हैं । व्रत का वास्तविक अर्थ है सुकर्म करने की प्रतिज्ञा । सुकर्म की प्रतिज्ञा के निर्वहन के लिये सुनियम अथवा सुनियमों का निर्धारण किया जाता है । व्रत में सुकर्म और सुनियम का समावेश है । दाम्पत्य एक सुपावन संस्था है और उसके निर्वहन के लिये वेदों में सुनियमों का विधान किया गया है । दाम्पत्य के सुष्ठु निर्वहन की दम्पती ने प्रतिज्ञा की है और उस प्रतिज्ञा के सुनिर्वहन के लिये निर्धारित नियमों के पालन करने और कराने का उत्तरदायित्व पत्नी की अपेक्षा पति पर कहीं अधिक है । इसी सुबोध से अपने पति को प्रबुद्ध करने के लिये पत्नी ने अपने पति से आत्मविनय की है, "प्राज्ञ व्रतपते ! तू व्रतों की रक्षा करनेवाला है और तुझमें व्रतों के पालन करने कराने की क्षमता है ।

२) (तव या इयं तनूः) तेरी जो यह जीवनी है (सा मयि) वह मुझमें है, (मम या-उ एषा तनूः) मेरी जो-कि यह जीवनी है (सा त्वयि) वह तुझमें है ।

पत्नी और पति के दो आकारों की एकाकारता का, दो जीवनियों में एक जीवन का, यह एक सजीव चित्रण है । दाम्पत्य प्रेम की यह पराकाष्ठा है । आत्मा परमात्मा में प्रविष्ट है और परमात्मा आत्मा में । तेरी जो यह जीवनी है वह मुझमें प्रविष्ट है और मेरी जो यह जीवनी है वह तुझमें प्रविष्ट है । तू मुझमें है, मैं तुझमें हूं—

तुझे मुझसे मोहब्बत है मुझे तुझसे मोहब्बत है ।
तू मेरे दिल में रहता है मैं तेरे दिल में रहती हूं ॥

सचमुच दाम्पत्य-प्रेम वह सुपावन संस्थिति है, जिसमें भागवत भावना का सम्भाव है—

मेरा भगवान् तू है और मैं हूं भगवती तेरी ।
तू मेरा भक्त है प्रियतम तो मैं हूं भक्तिनी तेरी ॥

३) (नौ व्रतानि सह) हम दोनों के व्रत सह हैं ।

सह का अर्थ है साथ साथ । यहां सह से तात्पर्य सहकार, सहयोग या सहसाधना से है । दाम्पत्य में पत्नी तथा पति दोनों के व्रत समान हैं । उन व्रतों की सार्थक सिद्धि तब ही हो पाती है, जब दोनों के दो आकार एकाकार होकर सहसाधना करते हैं ।

इतना कहते कहते पत्नी गद्गद् होजाती है । भावातिरेक से उसके पलक मुंद जाते हैं, उसके ओष्ठ बन्द होजाते हैं और वह मन ही मन कामना करने लगती है—

१) (दीक्षा-पतिः मे दीक्षां अनु मन्यतां) दीक्षा-पति मेरी दीक्षा को अनुमाने ।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति (य०१९/३०)—मनुष्य व्रत से दीक्षा को प्राप्त होता है । व्रतधारण का नाम ही दीक्षा है । पति अपनी पत्नी का दीक्षा-पति है, दीक्षा देनेवाला पति है । पति अपनी पत्नी को दाम्पत्य के सुव्रतों की दीक्षा देता है । पत्नी से दाम्पत्य धर्म के व्रत धारण करानेवाला होने से पति दीक्षा-पति है । पति अपनी पत्नी का व्रतपति भी है और दीक्षापति भी । अत एव पति को चाहिये कि दीक्षापति होने के नाते

पत्नी की दीक्षा का सदा अनुमान, अनुज्ञान, ध्यान रखे और सतर्कता के साथ धारित व्रतों के पालन में पत्नी का निरन्तर पथप्रदर्शक रहे ।

२) (तपःपतिः मे तपः अनु मन्यतां) तपःपति मेरे तप को अनुमाने ।

व्रतों के अनवरत पालन के लिये जिस उत्कट साधना, कठोर परिश्रम, सुष्ठु जितेन्द्रियता तथा अविकल आत्मसंयम की आवश्यकता होती है, उसी के लिये यहां तप शब्द का प्रयोग हुआ है । तपःपतिः का अर्थ है तप की रक्षा करनेवाला । पति का कर्तव्य है कि वह अपने और अपनी पत्नी के तप की अनवरत रक्षा करता रहे । पत्नी में तप की मात्रा स्वभावतः पति की अपेक्षा कहीं अधिक होती है । वह पति ही है, जो अपने तप को भंग करके पत्नी के तप को भंग करता है । पति को चाहिये कि वह अपनी पत्नी के तप की रक्षा का सदा अनुमान, अनुज्ञान, ध्यान रखे और सावधानी के साथ स्वयं तपःपूत रहता हुआ धारित व्रतों के पालन में अपनी पत्नी को भी नितराम तपःपूत रखे ।

प्राज्ञ व्रतपते,
तू है व्रतपा तुझमें व्रतपा,
जो यह तेरी तनू वह मुझमें,
मेरी जो यह तनू वह तुझमें ।
सह-साधित व्रत हम दोनों के,
दीक्षापति अनुमाने मेरी दीक्षा,
तपःपति अनुमाने मेरे तप को ॥

अंशुरंशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधनविदे ।
आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्व ॥
आप्याययास्मान्त्सखीन्त्सन्या मेधया स्वस्ति
ते देव सोम सुत्यामशीय । एष्टा रायः प्रेषे भगाय
ऋतमृतवादिभ्यो नमो द्यावापृथिवीभ्याम् ॥ (य० ५।७)

अंशुः-अंशुः ते देव सोम आ-प्यायतां इन्द्राय एकधन-विदे ।
आ तुभ्यं इन्द्रः प्यायतां आ त्वं इन्द्राय प्यायस्व ।
आ-प्यायय अस्मान् सखीन् सन्या मेधया स्वस्ति ते
देव सोम सुत्यां अशीय । आ-इष्टाः रायः प्र-इषे भगाय
ऋतं ऋतवादिभ्यः नमः द्यावापृथिवीभ्याम् ॥

अपनी आत्मविनय को जारी रखती हुई पत्नी कहरही है—

१) (देव सोम) ! (ते अंशुः-अंशुः) तेरा अंशु-अंशु (एकधन-विदे इन्द्राय) एकधन-प्रापक इन्द्र के लिये (आ-प्यायतां) आप्यायन करे, वृद्धि करे ।

अंशु नाम किरण, कोंपल और अंकुर का है । अंशु शब्द में अंश का भाव अन्तर्निहित है । एक किरण सूर्य के प्रकाश का एक सूक्ष्मतम अंश है । चन्द्र की एक रश्मि चन्द्रिका का एक सूक्ष्मतम अंश है । कोंपल भी वृक्ष का संक्षिप्त अंश है और अंकुर वृक्ष का अतिशय संक्षिप्त आकार । अंशु शब्द का प्रयोग यहां ज्ञानकिरण अथवा विज्ञानरश्मि के अर्थ में हुआ है ।

द्युति, देवत्व तथा दिव्यता से युक्त जो हो, उसे देव कहते हैं । देव शब्द का प्रयोग यहां द्युति, देवत्व और दिव्यता से युक्त पति के लिये हुआ है ।

अंशु-पुञ्ज [किरण-पुञ्ज] होने से सूर्य सोम है । अंशु-पुञ्ज [रश्मि-पुञ्ज] होने से चन्द्रमा सोम

है। ज्ञानकिरणों और विज्ञानरश्मियों से युक्त पति के लिये यहां सोम शब्द का प्रयोग किया गया है।

धनों का धन एकधन वह परमात्मा है। उस एकधन की स्वयं प्राप्ति करनेवाला तथा अन्यों को उसकी प्राप्ति करानेवाला आत्मा एकधनविद् इन्द्र है।

"मैं एकधनविदिन्द्र हूं। मेरा आत्मा उस एकधन की प्राप्ति का अभिलाषी है। दिव्य देव! अंशुपुञ्ज! तेरे ज्ञान की एक-एक किरण मेरे आत्मा में उस ज्ञान की वृद्धि करे और तेरे विज्ञान की एक-एक रश्मि मेरे आत्मा में उस विज्ञान की प्रवृद्धि करे, जिससे मुझे उस एकधन की सम्प्राप्ति होजाये। तेरा प्रत्येक अंशु मुझ एकधनविदिन्द्र के लिये उस एकधन की वृद्धि करानेवाला हो।

२) मेरा (इन्द्रः) आत्मा (तुभ्यं) तेरे लिये, तेरे प्रति (आ-प्यायतां) आप्यायन करे, बढ़े, प्रवृत्त रहे और (त्वं) तू मेरे (इन्द्राय) आत्मा के प्रति (आ-प्यायस्व) आप्यायन कर, बढ़, प्रवृत्त रह। मेरा आत्मा आत्मीयता के साथ तेरे प्रति अनुरक्त रहे और तू आत्मीयता के साथ मेरे आत्मा के प्रति अनुरक्त रह। आत्मोन्नति के लिये मैं तेरे प्रति अपनी आस्था की सतत वृद्धि करती रहूं और तू मेरे प्रति प्रीतिमान रह।

३) (देव सोम)! केवल मुझे ही नहीं, अपने (अस्मान् सखीन्) हम सखाओं को, हम सब आत्मीयों को (स-न्या मेधया) स-नयनकर्त्री मेधा के द्वारा (आ-प्यायय) बढ़ा, प्रेर, प्रवृत्त कर। तू स-नयन, अग्र-नयन, करनेवाली मेधा से युक्त है। अपनी अग्रनयनकर्त्री मेधा के द्वारा तू हमें उस एकधन की प्राप्ति के लिये आप्यायन-प्रेरणा-प्रवृत्त कर।

४) मैं (प्र-इषे भगाय) प्राभिलषित सौभाग्य के लिये (ते) तेरी (सुत्यां) निष्पत्ति में, व्युत्पन्नता में (आ-इष्टाः रायः) अभीष्ट आत्मैश्वर्यों को (स्वस्ति) सुस्थिति के साथ (अशीय) सेवन करूं, भोगूं, प्राप्त रहूं।

भौतिक ऐश्वर्यों का सेवन अभिलषित सौभाग्य है तो आत्मिक ऐश्वर्यों का सेवन प्राभिलषित सौभाग्य है। जहां एक सुपत्नी की यह अभिलाषा होती है कि वह अपने पति की निष्पत्ति में भौतिक ऐश्वर्यों के सेवन का सौभाग्य प्राप्त करे, वहां उसकी यह प्राभिलाषा भी होती है कि वह अपने पति की व्युत्पन्नता में ईश्वरीय परमैश्वर्यों के संसेवन का सौभाग्य भी सम्प्राप्त करे।

५) (ऋतवादिभ्यः ऋतं) ऋतवादियों के लिये निष्ठा और (द्यावापृथिवीभ्यां नमः) द्यौ और पृथिवी के लिये नमस्कार।

ऋत शब्द का अर्थ वही है, जो अंग्रेज़ी में राइट [Right] शब्द का है। ऋताचार अथवा ठीक और सही आचार का नाम ऋत है। जो ऋताचार की शिक्षा देते हैं और ऋताचार का प्रतिपादन तथा प्रचार करते हैं, उन्हें ऋतवादी कहते हैं। ऋतवादिभ्यः शब्द का प्रयोग यहां ऋताचारी आचार्यों के लिये हुआ है।

द्यौ प्रतीक है द्युति का तो पृथिवी प्रतीक है सहन धारण पोषण की। द्यौ पिता, पृथिवी माता। पिता द्यौस्थानी है, माता पृथिवीस्थानी। पिता द्यौ के समान द्युति-ज्योति-ज्ञान का प्राप्त करानेवाला होता है और माता पृथिवी के समान सहन धारण पोषण करनेवाली होती है।

अपने देवयाजक पति का अभिनन्दन करती हुयी पत्नी कह रही है, "उन ऋतवादियों के प्रति मैं अपनी ऋतमयी निष्ठा व्यक्त करती हूं, जिनसे तूने ऋताचार की प्राप्ति की है और उन माता पिता के प्रति मैं श्रद्धानत हूं, जिनका तू अंशुपुञ्ज पुत्र है"।

देव सोम,
तव अंशु-अंशु,
करे आप्यायन संवर्धन,
इन्द्र एकधनवित् के लिये।
तेरे लिये इन्द्र आप्याये,
तू आप्याय इन्द्र के लिये।

देव सोम,
अग्रनयनकर्त्री मेधा से,
हम सखाओं को आप्यायन कर।
प्राभिलषित सौभाग्य के लिये,
तेरी निष्पत्ति में भोगूं,
मैं अभीष्ट आत्मैश्वर्यों को।
करती हूं मैं व्यक्त स्वनिष्ठा,
तेरे ऋताचार्यों के प्रति,
श्रद्धानत होती हूं तेरे पिता और माता के लिये

सूक्ति—ऋतमृतवादिभ्यः ॥
आचार्यों के लिए निष्ठा ॥
नमो द्यावापृथिवीभ्याम् ॥
नमस्कार पिता माता के लिये ॥

या ते अग्ने ऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा।
उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं वचो अपावधीत्स्वाहा।
या ते अग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा।
उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं वचो अपावधीत्स्वाहा।
या ते अग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा।
उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं वचो अपावधीत्स्वाहा ॥
(य० ५।८)

या ते अग्ने अयःशया तनूः वर्षिष्ठा गह्वरे—स्था।
उग्रं वचः अप-अवधीत् त्वेषं वचः अप—अवधीत् स्वाहा।
या ते अग्ने रजःशया तनूः वर्षिष्ठा गह्वरे—स्था।
उग्रं वचः अप-अवधीत् त्वेषं वचः अप—अवधीत् स्वाहा।
या ते अग्ने हरि-शया तनूः वर्षिष्ठा गह्वरे—स्था।
उग्रं वचः अप-अवधीत् त्वेषं वचः अप—अवधीत् स्वाहा ॥

अपने देवयाजक पति के प्रति अपनी आत्मविनय का उपसंहार करती हुई पत्नी प्रेमविभोर होकर अपने पति के प्रति अपने प्रेमोद्गार प्रकट करती है—

१) (अग्ने) प्रकाश-पुञ्ज ! (ते या अयःशया वर्षिष्ठा गह्वरे-स्था तनूः) तेरी जो अयःशया वर्षिष्ठा गह्वर-स्थित जीवनी है, उसने (उग्रं वचः अप-अवधीत्) उग्र वचन दूर मार गिराया है, (त्वेषं वचः अप-अवधीत्) तीक्ष्ण वचन मार भगाया है। मैं तुझपर (स्व-आ-हा) स्व को बलिहारूं, बलि जाऊं, बलिहारी हूं।

अय नाम सौने का है। सौने के लिये दो शब्दों का प्रयोग होता है, एक सुवर्ण और दूसरा स्वर्ण। सुवर्ण उस सौने को कहते हैं, जिसका वर्ण [रङ्ग] सु [सुन्दर] होता है, किन्तु भीतर से खोटा होता है। स्वर्ण उस सौने को कहते हैं, जो देखने में तो सु [सुन्दर] होता ही है, भीतर से भी अर्ण [निर्मल जल, अच्छी आबवाला, खरा] होता है। अयः का अर्थ स्वर्ण है, सुवर्ण नहीं। अयःशया का अर्थ है स्वर्ण में शयन-निवास करनेवाली, स्वर्णिम।

वर्षिष्ठा का अर्थ है अतिशय वर्षा करनेवाली। गह्वर कहते हैं गहन गुहा को। गह्वरे-स्था का अर्थ

है गहन गुहा में स्थित रहनेवाली। गहन गुहा से तात्पर्य यहां गहन आशय से है।

वह नारी धन्य है, जिसे ऐसा देवयाजक पति मिला है, जिसकी जीवनी स्वर्णिम है, मानव-प्रजा के लिये दिव्यताओं की अतिशय वर्षा करनेवाली है और गहनाशया है और जिसने अपनी स्वर्णिम वाणी से मानव समाज में से उग्र और तीक्ष्ण वाणी को निर्मूल कर दिया है। जिसकी जीवनी स्वर्णिम, वर्षिष्ठा तथा गहनाशया होती है, उसकी वाणी इतनी स्वर्णिम होती है कि उसके प्रभाव से परिवार-परिवार और समाज-समाज में से उग्र और तीक्ष्ण वदन [भाषण] का सर्वथा निर्मूलन होजाता है, उसके प्रभाव से जन-जन की वाणी स्वर्णिम होजाती है। स्वर्णिम, वर्षिष्ठ, गहनाशया तथा हितभाषी पति पर तो पत्नी बलिहारी होती ही है। स्वर्णिम जीवनी की स्वर्णिम वाणी में इतना प्यार, इतनी मधुरता और इतना कल्याण निहित होता है कि उसपर पत्नी ही क्या, सारा मानव समाज न्योछावर होता है।

२) (अग्ने) ज्योतिःपुञ्ज! (ते या रजःशया वर्षिष्ठा गह्वरे-स्था तनूः) तेरी जो रजःशया वर्षिष्ठा गहनाशया जीवनी है, उसने (उग्रं वचः अप-अवधीत्) उग्र वचन दूर मार गिराया है, (त्वेषं वचः अप-अवधीत्) तीक्ष्ण वचन मार भगाया है। मैं तुझपर (स्व-आ-हा) बलिहारी हूं।

रजस् नाम ज्योति का है। रजःशया का अर्थ है ज्योति में शयन-निवास करनेवाली, ज्योतिर्मयी। जिसकी जीवनी ज्योतिर्मयी, वर्षिष्ठा तथा गहनाशया होती है, उसकी वाणी इतनी ज्योतिर्मयी होती है कि उसके प्रभाव से परिवार और समाज में उग्र और तीव्र वचन का निर्मूलन होजाता है, उसके प्रभाव से जन-जन की वाणी ज्योतिर्मयी होजाती है। ज्योतिर्मयी जीवनी की ज्योतिर्मयी वाणी में इतनी मोहकता होती है कि उसपर केवल पत्नी ही नहीं, जनमानव न्योछावर होता है।

३) (अग्ने) ज्ञान-पुञ्ज! (ते या हरि-शया वर्षिष्ठा गह्वरे-स्था तनूः) तेरी जो हरि-शया वर्षिष्ठा गहनाशया जीवनी है, उसने (उग्रं वचः अप-अवधीत्) उग्र वचन दूर मार गिराया है, (त्वेषं वचः अप-अवधीत्) तीक्ष्ण वचन मार भगाया है। मैं तुझपर (स्व-आ-हा) बलिहारी हूं।

हरि का अर्थ है हरण करनेवाला। जो अपने सौजन्य और सौन्दर्य से अन्यों के हृदयों का हरण करता है, वह हरि है। हरि से तात्पर्य यहां हरणशीलता अथवा प्रियता से है। हरि-शया का अर्थ है हरणशीलता में शयन-निवास करनेवाली, अतिशय प्रिया, प्रियतमा। जिसकी जीवनी हरण-शीला, वर्षिष्ठा तथा गहनाशया होती है, उसकी वाणी इतनी मनोहारिणी होती है कि उसके प्रभाव से सर्वत्र उग्र और तीक्ष्ण वदन का निराकरण होजाता है। हरणशीला जीवनी की मनोहारिणी वाणी में इतनी प्रमुग्धता होती है कि उसपर केवल पत्नी ही नहीं, विश्व-समाज न्योछावर होता है।

अग्ने! तेरी जो स्वर्णिम,
वर्षिष्ठा गहनाशया तनू है,
उग्र वचन को मार गिराया,
तीक्ष्ण वचन को मार भगाया,
जाऊं मैं बलिहारी।
अग्ने! तेरी जो ज्योतिर्मय,
वर्षिष्ठा गहनाशया तनू है,
उग्र वचन को मार गिराया,
तीक्ष्ण वचन को मार भगाया,
जाऊं मैं बलिहारी।
अग्ने! तेरी जो अति प्यारी,
वर्षिष्ठा गहनाशया तनू है,
उग्र वचन को मार गिराया,
तीक्ष्ण वचन को मार भगाया,
जाऊं मैं बलिहारी॥

तप्तायनी मे ऽसि वित्तायनी मे ऽस्यवतान्मा नाथितादवतान्मा व्यथितात् । विदेदग्निर्नभो नामाग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि यो ऽस्यां पृथिव्यामसि यत्ते ऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि यो द्वितीयस्यां पृथिव्यामसि यत्ते ऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि यत्ते ऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे। अनु त्वा देववीतये ॥ (य० ५/९)

तप्त-अयनी मे असि वित्त-अयनी मे असि अवतात् मा नाथितात् अवतात् मा व्यथितात् । विदेत् अग्निः नभः नाम अग्ने अङ्गिरः आयुना नाम्ना आ-इहि यः अस्यां पृथिव्यां असि यत् ते अनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा आ-दधे विदेत् अग्निः नभः नाम अग्ने अङ्गिरः आयुना नाम्ना आ-इहि यः द्वितीयस्यां पृथिव्यां असि यत् ते अनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा आ-दधे विदेत् अग्निः नभः नाम अग्ने अंगिरः आयुना नाम्ना आ-इहि यः तृतीयस्यां पृथिव्यां असि यत् ते अनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा आ-दधे । अनु त्वा देव-वीतये ॥

अपनी सुशोभना पत्नी द्वारा की गयी विनय और प्रशस्ति से गदगद होकर पति कहता है—

१) देवि ! तू (मे तप्त-अयनी असि) मेरी तप्त-अयनी है ।

अयन नाम गृह, शरण और छाया का है। तप्त-अयनी का अर्थ है तप्त सन्तप्त को शरण देनेवाली। पत्नी वह सुन्दर सुभूति और सुप्रिय विभूति है, जिसकी शीतल छाया में पति को ताप सन्ताप से सुत्राण मिलता है, जिसके आश्रय से पति को आत्म-आराम और अन्तःशान्ति मिलती है, जिसके सहवास में पति को आत्म-आनन्द की अनुभूति होती है और जिसकी निकटता में पति को सतत विश्राम और सन्तत सन्तोष मिलता है ।

२) तू (मे वित्त-अयनी असि) मेरी वित्त-अयनी है ।

वित्त नाम धन का है। वित्त-अयनी का अर्थ है धन-गृहा, धन का आगार, सम्पदा, सम्पत्ति ।

पत्नी न केवल अपने पति की जीवन-संगिनी तथा तप्त-अयनी है, अपि तु अपने पति की वह वह अमूल्य सम्पदा है, जिसके सामने विश्व की अखिल सम्पदायें नगण्य और हेय हैं ।

३) (मा नाथितात् अवतात्) मुझे सन्ताप से बचा, (मा व्यथितात् अवतात्) मुझे व्यथा से बचा।

तप से ताप सन्ताप तो होता ही है। फिर देवयजनकर्ता पति के तप का तो ठिकाना ही क्या है। और जब पृथिवी का देवयजन अथवा दिव्यीकरण करते हुये, स्वयं उनकी ही ओर से, जिनकी हितकामना से वह यह दिव्य तप और सुदिव्य श्रम कररहा होता है, उसकी साधना के मार्ग में रोड़े अटकाये जाते हैं, तो उसके हार्दिक सन्ताप और उसकी मानसिक व्यथा की कोई सीमा नहीं रहती। हृदय की इस सन्तप्त और मन की इस व्यथित अवस्था में देवयजनी पत्नी का वह सुन्दर सुकोमल स्पर्श, उसकी स्नेहस्निग्ध मोहक मुस्कान की वह सान्त्वनामय सुस्मिति, उसके स्वरीले कण्ठ के वे मधुरिमामय शीतल वचन पति के सन्ताप का शमन और उसकी व्यथा का उपशमन करने में अचूक उपचार का काम करते हैं। सचमुच एक सुयोग्य पत्नी अपने पति के ताप, सन्ताप और व्यथा की सुनिश्चित चिकित्सा है।

अपने देवयाजक पति के प्रेमपूर्ण वचनों से स्नेहसिक्त होकर पत्नी उसके प्रति अपनी हृदयनिहित गहन भावनाओं का व्यक्तिकरण करती है—

१) (अङ्गिरः अग्ने)! (यः) जो तू (अस्यां पृथिव्यां असि) इस पृथिवी पर है, (ते यत् अनाधृष्टं यज्ञियं नाम) तेरा जो अधर्षणीय यज्ञीय नाम है, मैं (त्वा तेन आ-दधे) तुझे उससे धारण करती हूं। तुझे (नभः नाम अग्निः विदेत्) आकाश प्रसिद्ध अग्नि जाने। (आयुना नाम्ना आ-इहि) आयु और नाम के साथ आ।

अङ्गिरस् का अर्थ है अङ्ग अङ्ग में रमनेवाला, जीवन में सरसता का संचार करनेवाला। अग्नि शब्द का प्रयोग हुआ है यहां प्रेमाग्नि के लिये। पतिपरायण पत्नी के लिये पति वह प्रेमाग्नि है, जो पत्नी के अङ्ग अङ्ग में रमरहा है और जो उसके जीवन में सरसता का संचार कररहा है।

"जो तू इस पृथिवी पर है, इस पृथिवी पर तू कहीं भी क्यों न हो, तेरा जो अधर्षणीय और यज्ञीय नाम है, मैं उस नाम से तुझे अपने हृदय में सदा धारण किये रहती हूं। एक क्षण को भी मैं तुझे कभी नहीं भूलती हूं"। पत्नी का यह कथन स्पष्ट और हृदयग्राही है। पर उसका यह कहना कि "नभ नाम अग्नि तुझे जाने", व्याख्या की अपेक्षा रखता है। यह एक वैदिक ईड [ईडियम, मुहावरा] है।

नभ नाम अग्नि, आकाश में प्रसिद्ध अग्नि, यह सूर्य है। नभ नाम अग्नि तुझे जाने–इसका आशय है, "सूर्य तुझे जाने, तेरी यशःसुगन्धि सूर्य तक पहुंचे"।

"तू इस पृथिवी पर देवयजन करता हुआ चाहे जहां विचर। मैं कामना करती रहती हूं कि तू जब भी लौटकर मेरे पास आये, आयु और नाम के साथ आ, संजीवन और प्रसिद्धि के साथ आ, सजीवता और कीर्ति के साथ आ। तू जब भी आये, नवीन जीवन और नूतन यश के साथ आ"।

२) (अंगिरः अग्ने)! (यः) जो तू (द्वितीयस्यां पृथिव्यां असि) दूसरी पृथिवी पर है, (ते यत् अनाधृष्टं यज्ञियं नाम) तेरा जो प्रगल्भ यज्ञीय नाम है, मैं (त्वा तेन आ-दधे) तुझे उससे धारण करती हूं। तुझे (नभः नाम अग्निः विदेत्) आकाश प्रसिद्ध अग्नि जाने। (आयुना नाम्ना आ-इहि) आयु और नाम के साथ आ।

दूसरी पृथिवी यह अन्तरिक्ष है। "तू चाहे इस भूमि पर हो, चाहे अन्तरिक्ष में वायुयान से यात्रा कररहा हो, तेरा जो प्रगल्भ और यज्ञीय नाम है, मैं उस नाम से तुझे सदा स्मरण करती रहती हूं"।

"सूर्य तुझे जाने। तेरे यश की धवल रश्मियां अन्तरिक्ष में सूर्यवत् व्यापें"।

"तू भूमि पर या अन्तरिक्ष में देवयजन करता हुआ कहीं भी विचर। मैं कामना करती हूं कि तू जब जब लौटकर मेरे निकट आये, आयु और नाम के साथ आ, नूतन जीवन और नूतन नाम के साथ आ"।

३) (अंगिरः अग्ने) ! (यः) जो तू (तृतीयस्यां पृथिव्यां असि) तृतीय पृथिवी पर है, (ते यत् अनाधृष्टं यज्ञियं नाम) तेरा जो अदम्य यज्ञीय नाम है, मैं (तेन) उससे (देव-वीतये) देव-वीति के लिये (त्वा आ-दधे) तुझे आधारती हूं, (त्वा अनु-दधे) तुझे अनुधारती हूं। तुझे (नभः नाम अग्निः विदेत्) आकाश प्रसिद्ध अग्नि जाने। (आयुना नाम्ना आ-इहि) आयु और नाम के साथ आ।

तीसरी पृथिवी यह द्यौलोक है। देव-वीति का अर्थ है दिव्यताओं की व्याप्ति, दिव्यताओं का प्रकाशन। आ का अर्थ है पूर्णतया। अनु का अर्थ है पीछे, एक के पश्चात् एक, अनुसरण, अनुकरण, अनुकूलता, निरन्तर।

"तू चाहे भूमि पर हो, चाहे अन्तरिक्ष में हो और चाहे दिव्य-यानों द्वारा द्यौलोक में विचर रहा हो, तेरा जो अदम्य और यज्ञीय नाम है, मैं उस नाम से तुझे निरन्तर अपने हृदय में आधारित और अनुधारित रखती हूं। एक क्षण को भी मैं तुझे कभी नहीं भूलती हूं। मैं इस विचार से सदा प्रफुल्लित और हर्षित होरही होती हूं कि तेरे दिव्य जीवन द्वारा तीनों लोकों में दिव्यताओं की व्याप्ति और दिव्यताओं का प्रकाशन होरहा है। तेरे चारु स्मरण से मेरे अपने जीवन में भी दिव्यताओं का प्रस्थापन तथा अनुस्थापन होता है"।

"सूर्य तुझे जाने। तेरे यश की कान्त किरणें द्यौ तक फैलें"।

"तू भूमि पर, या अन्तरिक्ष में या द्यौ में देवयजन करता हुआ कहीं भी विचर। मैं कामना करती हूं कि तू जब जब लौटकर मेरे निकट आये, आयु और नाम के साथ आ"।

भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ का प्रयोग यहां वास्तव में अतिशयता सर्वातिशयता के अर्थ में हुआ है।

देवि,
तू है तप्त-अयनी मेरी,
तू है वित्त-अयनी मेरी,
बचा मुझे सन्ताप ताप से,
बचा मुझे तू अथा व्यथा से।
अंगिर अग्ने,
जो तू यदि इस पृथिवी पर है,
तेरा जो यह अनाधृष्ट यज्ञीय नाम है,
उसी नाम से तुझे धारती हूं हृदय में,
नभ प्रसिद्ध यह अग्नि जाने तुझको,
जब आये तब आयु नाम के साथ सदा आ।
अंगिर अग्ने,
जो तू यदि द्वितीय पृथिवी पर है,
तेरा जो यह अनाधृष्ट यज्ञीय नाम है,
उसी नाम से तुझे धारती हूं हृदय में,
नभ प्रसिद्ध यह अग्नि जाने तुझको,
जब आये तब आयु नाम के साथ सदा आ।
अंगिर अग्ने,
जो तू यदि तृतीय पृथिवी पर है,
तेरा जो यह अनाधृष्ट यज्ञीय नाम है,
देव-वीति के लिये उसीसे
तुझे धारती हूं निरन्तर,
तुझे धारती हूं अनु-सन्तत,
नभ प्रसिद्ध यह अग्नि जाने तुझको,
जब आये तब आयु नाम के साथ सदा आ॥

सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व
सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धस्व
सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्व॥ (य० ५/१०)

सिंही असि सपत्न-साही देवेभ्यः कल्पस्व
सिंही असि सपत्न-साही देवेभ्यः शुन्धस्व
सिंही असि सपत्न-साही देवेभ्यः शुम्भस्व॥

सिंही का अर्थ है हिंसा, हनन अथवा नाश करनेवाली।

पाप्मा वै सपत्नः। सपत्नो वा अभिमातिः। पाप, पापी, अभिमान, अभिमानी—ये चार प्रसिद्ध अर्थ हैं सपत्न शब्द के। जो इन चारों का सहन-निराकरण करती है, उसे सपत्न-साही कहते हैं। पाप ही पापी है और अभिमान ही अभिमानी है। मनुष्य पापी नहीं है, पाप ही मनुष्य को पापी बनाता है। मनुष्य अभिमानी नहीं है, अभिमान ही मनुष्य को अभिमानी बनाता है। पाप और अभिमान में पतन निहित है।

कल्प का अर्थ है असमर्थ को समर्थ बनाना, अशक्त को सशक्त करना, कायाकल्प करना।

पृथिवी के दिव्यीकरण की साध की संसिद्धि के लिये यह आवश्यक है कि देवयाजक दिव्य पथ पर चलता हुआ देवों से, दिव्यताओं से, दिव्य गुणों से सदा युक्त रहे। देवयजन करते हुये जब देवयाजक का पग पग पर मान, सम्मान और पूजन होने लगता है तो उसमें अहंकारजन्य अभिमान के अंकुरित होने की सम्भावना होती है। अभिमान के अंकुरित होते ही पाप अंकुरित होने लगता है। पाप और अभिमान दोनों सहचारी हैं। पाप और अभिमान देवयजन के मूल पर कुठाराघात करके देवयाजक को देवयजन के अयोग्य और असमर्थ कर देते हैं। इतना ही नहीं। अभिमान और पाप वह मल है, जो देवयाजक के दिव्य जीवन को सर्वथा अपवित्र और अशुद्ध कर देता है। अपवित्र और अशुद्ध होकर देवयाजक शोभनीय न रहकर अशोभनीय होजाता है।

अपने प्रति व्यक्त की गयी अपनी पत्नी की स्नेहसिक्त प्रिय पावन भावनाओं से रोमांचित होकर देवयाजक पति अपनी पत्नी से निवेदन करता है—

१) देवि! तू (सपत्न-साही सिंही असि) सपत्न-साही सिंही है, पाप और अभिमान का निराकरण करने वाली सिंही है, तू पाप और अभिमान का निराकरण और विनाश करनेवाली है। देवयजन के दिव्य पथ पर चलते हुये यदि मुझमें पापी अभिमान कभी प्रविष्ट होजाये तो उसका निराकरण और निर्मूलन करके तू (देवेभ्यः) देवों के लिये, दिव्यताओं से युक्त रखने के लिये, मुझे (कल्पस्व) समर्थ कर, समर्थ करती रह। यदि कभी कहीं मेरा स्खलन हो तो मुझे संभालकर मेरी दिव्यताओं की रक्षा करती रहना।

२) देवि! तू (सपत्न-साही सिंही असि) पाप अभिमान का निराकरण और विनाश करनेवाली है। पाप अभिमान के अंकुरित होने से यदि कभी मुझमें मलिनता आजाये तो तू मेरी साधनाजन्य (देवेभ्यः) दिव्यताओं की रक्षा के लिये, मुझे (शुन्धस्व) शुद्ध कर, शुद्ध करती रहना।

३) देवि! तू (सपत्न-साही सिंही असि) पापी अभिमान का निराकरण और विनाश करनेवाली है। पापी अभिमान के अंकुरित होने पर यदि कभी मुझमें अशोभनीयता आजाये तो तू मेरी साधनाजन्य (देवेभ्यः) दिव्यताओं की रक्षा के लिये, मुझे शोधकर (शुम्भस्व) शोभनीय कर, शोभनीय करती रहना।

सिंही है तू सपत्न-साही,
कर समर्थ तू मुझे,
दिव्यताओं के लिये।
सिंही है तू सपत्न-साही,
कर तू मुझको शुद्ध,
दिव्यताओं के लिये।
सिंही है तू सपत्न-साही,
शोभनीय कर मुझे,
दिव्यताओं के लिये॥

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निः सृजामि ॥ (य० ५/११)

इन्द्र-घोषः त्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु प्र-चेताः त्वा रुद्रैः पश्चात् पातु मनःजवाः त्वा पितृभिः दक्षिणतः पातु विश्व-कर्मा त्वा आदित्यैः उत्तरतः पातु इदं अहं तप्तं वाः बहिःधा यज्ञात् निःसृजामि ॥

पूर्व मन्त्र में देवयाजक पति ने अपनी पत्नी का अभिनन्दन करते हुये कहा था, "देवि, तू सपत्नसाही सिंही है। दिव्यताओं के लिये तू मुझे सदा समर्थ रख, मुझे शुद्ध रख, मुझे शोभनीय रख"। अपने हृदय-सम्राट् के मुख से अपने प्रति ऐसे आस्थापूर्ण सुवचनों को सुनकर पत्नी गहन आत्मीयता के साथ प्रबल प्रेरणा करती है—

१) (इन्द्र-घोषः त्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु) इन्द्र-घोष तुझे वसुओं द्वारा सामने से रक्षा करे।

इन्द्र नाम इन्द्रियों के स्वामी आत्मा का है। घोष का अर्थ है ध्वनि, आवाज़। यह जो अन्तर्ध्वनि है, अन्तःकरण में जो यह दृढ़तासूचक ध्वनि उठती है या आत्मघोष होता है, उसी का नाम इन्द्रघोष है।

वसु नाम धन का है, उस धनका, उस वस्तु-समूह का, जीवन के सुष्ठु निर्वहन में जिसकी आवश्यकता होती है। वसु का प्रयोग यहां उन आत्मवसुओं के लिये हुआ है, जिन्हें निर्मल विचार और विमल भावना कहते हैं। ये ही वह वसु हैं, जो पाप और अभिमान से बचाकर देवयाजक की दिव्यताओं की रक्षा करते हैं।

"देव, देवयजन करता हुआ तू जहां कहीं भी विचर रहा हो, निर्मल विचारों और विमल भावनाओं के वसुओं से वासित सुवासित तेरा आत्मघोष तेरी दिव्यताओं की रक्षा करता हुआ तेरे आगे आगे तेरी रक्षा करता हुआ चले। तेरा आत्मघोष ही तेरा वह अमोघ साधन है, जो आत्मवसुओं द्वारा पाप और अभिमान से बचाकर तेरी दिव्यताओं की रक्षा करता हुआ, तुझे समर्थ, शुद्ध और शोभनीय रखता हुआ, तुझे देवयजन के पथ पर अग्रसर रखेगा"।

२) (प्र-चेताः त्वा रुद्रैः पश्चात् पातु) प्र-चेता तुझे रुद्रों द्वारा पीछे से रक्षा करे।

प्र प्रकृष्टतया, चेता चेतानेवाला। आत्मविवेक और आत्मप्रचेतना से युक्त निर्मल चित्त ही वह प्रचेता है, जो देवयाजक को पाप और अभिमान से बचाकर उसकी दिव्यताओं की रक्षा करता है।

रुद्र=रुत्+द्र। रुत् रोग। द्र दीर्ण करनेवाला, नाश करनेवाला। रुद्र रोगों को दूर करनेवाला। रुत् नाम शारीरिक रोगों का नहीं है, पापजन्य विकार-वासना-रूपी अन्तःरोगों का है। चित्त की निर्मल समाहित सुवृत्तियां ही वह रुद्र हैं, जो अन्तःरोगों का निराकरण करते हैं।

"देव, देवयजन करता हुआ तू जहां कहीं भी हो, निर्मल समाहित सुवृत्तियों से प्रचेतित तेरा निर्मल चित्त तेरी दिव्यताओं की रक्षा करता हुआ पीछे से तेरी रक्षा करे। तेरा निर्मल चित्त ही तेरा वह पृष्ठपोषक साधन है, जो निर्मल समाहित सुवृत्तियों द्वारा पाप और अभिमान से बचाकर तेरी दिव्यताओं की रक्षा करता हुआ, तुझे समर्थ शुद्ध और शोभनीय रखता हुआ, तेरी पृष्ठ को पुष्ट करेगा"।

३) (मनःजवाः त्वा पितृभिः दक्षिणतः पातु) मनःजवा तुझे पितरों द्वारा दक्षिण से बचाये।

मन:जवा मनोजवा। जवा का अर्थ है वेगवाला। मनोजवा का अर्थ है वेगवान् मन, बलवान् मन।

पितर: का अर्थ है रक्षा करनेवाले। मन के शुद्ध शिव संकल्प ही हैं वे पितर, जो पाप और अभिमान से देवयाजक की रक्षा करते हैं।

"देव, देवयजन करता हुआ तू कहीं भी क्यों न हो, शुद्ध शिव संकल्पों से युक्त समाहित तेरा वेगवान् बलवान् मन तेरी दिव्यताओं की रक्षा करता हुआ दायीं ओर से तेरी रक्षा करे। तेरा वेगवान् बलवान् मन तेरा वह दक्ष साधन है, जो शुद्ध शिव संकल्पों द्वारा पाप और अभिमान से बचाकर तेरी दिव्यताओं की रक्षा करता हुआ, तुझे समर्थ शुद्ध शोभनीय रखता हुआ, तेरे दक्षिण हस्त की दक्षता को अक्षुण्ण रखेगा"।

४) (विश्व-कर्मा त्वा आदित्यै: उत्तरत: पातु) विश्व-कर्मा तुझे आदित्यों द्वारा उत्तर से रक्षा करे।

सब कर्मों को कुशलता के साथ करने की क्षमता से जो युक्त होता है, उसे विश्व-कर्मा कहते हैं। सात्त्विक बुद्धि और सर्वत: सुविकसित मेधा से युक्त मस्तिष्क ही वह विश्वकर्मा है, जो पाप और स्खलन से देवयाजक की रक्षा करता है।

आदित्य नाम सूर्य तथा सूर्यकिरण का है। सात्त्विक सुविकसित मस्तिष्क की ज्ञानरश्मियां ही वे किरण हैं, जो पापासक्ति और विषयासक्ति से देवयाजक की उत्तरोत्तर रक्षा करती हैं।

"देव, देवयजन करता हुआ तू कहीं भी क्यों न विचर रहा हो, ज्ञानरश्मियों से सुरश्मित तेरा मस्तिष्क तेरी दिव्यताओं की रक्षा करता हुआ बायीं ओर से तेरी रक्षा करे। तेरा प्रज्ञावान् मस्तिष्क तेरा वह श्रेष्ठतर साधन है, जो ज्ञान-रश्मियों द्वारा पापासक्ति और विषयासक्ति से बचाकर तेरी दिव्यताओं की रक्षा करता हुआ, तुझे समर्थ शुद्ध और शोभनीय रखता हुआ, तेरे उत्तर हस्त की उत्तरता को समुन्नत रखेगा"।

५) (अहं) मैं (इदं बहि:धा तप्तं वा:) इस बहि:धा तप्त जल को (यज्ञात् नि:सृजामि) यज्ञ से बाहर निकालती हूं।

यज्ञ शब्द का प्रयोग यहां पृथिवी के दिव्यी-करणरूपी उस देवयजन के लिये हुआ है, देवयाजिका पत्नी का देवयाजक पति जिसका अनुष्ठान कर रहा है।

"तप्त जल" एक वैदिक ईड [ईडियम, कहावत] है, जिसका प्रयोग कठिनाइयों के अर्थ में होता है। अंग्रेज़ी में "Hot waters" इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

बहि:धा बाह्य-धा। बाह्य अवलम्ब कितने भी सबल और सम्पन्न क्यों न हों, होते हैं निराधार और अविश्वसनीय ही। बाह्य सहयोग और साधनों का यथावसर उपयोग उपादेय और सहायक होता है। पर देवयाजक के देवयजन का प्रमुख आश्रय और आधार होना चाहिये उसका अपना आत्मघोष और उसके अपने आत्मवसु, उसका अपना चित्त और उसके अपने चित्त की वृत्तियां, उसका अपना मन और उसके अपने मन के संकल्प, उसका अपना मस्तिष्क और उसके अपने मस्तिष्क की रश्मियां। बाह्य साधनों पर सर्वश: अवलम्बित रहनेवाला व्यक्ति प्राय: अपने को तप्त जल में, कठिन कठिनाइयों में, पाता है। आज के सहयोगी कल विरोधी बन सकते हैं और उनसे प्राप्त होनेवाले साधनों से देवयाजक सर्वथा वञ्चित हो सकता है। ऐसे अवसर आते हैं, जब परिवार परिजन और मित्र तो क्या, पति का पत्नी और पत्नी का पति भी साथ छोड़ देता है, ममतामयी माता भी मुंह फेर लेती है। ऐसे विकट प्रसंगों पर उपर्युक्त अन्त:स्थ साधन-चतुष्टय ही देवयाजक के काम आते हैं।

अपने पति को देवयजन में दृढ़ीभूत करती हुई प्रिया ने इसी भाव से कहा है, "प्रियतम, मैं तेरे इस देवयजन-याग में से बाह्य-आश्रय-रूपी तप्त जल को निकालकर बाहर करती हूं। जीवनसंगिनी और

सहधर्मिणी के रूप में मेरा यह परम पुनीत कर्तव्य है कि तुझे समर्थ, शुद्ध और शोभनीय रखती हुई मैं तेरी और तेरी दिव्यताओं की रक्षा करूं। फिर भी मैं तेरा साथ दूं या न दूं। मेरा जीवन संसार में हो या न हो। देवयजन के पथ पर तुझे अपनी राह जाना ही है। और इस पथ पर बाह्य सहयोग और बाह्य साधनों की अपेक्षा अपने अन्तःस्थ साधन-चतुष्टय पर अधिक भरोसा रखना"।

इन्द्रघोष वसुओं सहित,
रक्षा तेरी करे सामने।
चित्त चित्तवृत्तियों सहित,
रक्षा तेरी करे पृष्ठ से।
मनोवेग संकल्पों सहित,
रक्षा तेरी करे दायें से।
मस्तिष्क ज्ञानरश्मियों सहित,
रक्षा तेरी करे बायें से।
और इस बहिधा तप्त वारि को,
मैं निकाल बाहर करती हूं देवयजन से॥

सिंह्यसि स्वाहा सिंह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा सिंह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा सिंह्यसि सुप्रजावनो रायस्पोषवनिः स्वाहा सिंह्यस्यावह देवान्यजमानाय स्वाहा भूतेभ्यस्त्वा॥ (य० ५/१२)

सिंही असि स्वाहा सिंही असि आदित्य-वनिः स्वाहा सिंही असि ब्रह्म-वनिः क्षत्र-वनिः स्वाहा सिंही असि सुप्रजा-वनिः रायस्पोष-वनिः स्वाहा सिंही असि आ-वह देवान् यजमानाय स्वाहा भूतेभ्यः त्वा॥

वीर पत्नी की पूर्व मन्त्रस्थ प्रबल प्रेरणाओं से प्रभावित होकर पति कहता है—

१) देवि! तू सचमुच (सिंही असि) सिंही है, मैं तुझपर (स्व-आ-हा) स्व सर्वस्व सुहुत करता हूं, न्योछावर होता हूं।

सिंही शब्द का प्रयोग यहां सिंहिनी के अर्थ में हुआ है। सिंहिनी सदा सिंह के साथ रहती है और भय उपस्थित होने पर आगे बढ़कर सिंह की और अपने बच्चों की रक्षा करती है।

"देवि! तू सचमुच सिंही है, सुवीरा है। तुझमें पाप और अभिमान से, भय और स्खलन से, मेरी रक्षा करने की शक्ति है। तेरी प्रबल प्रेरणाओं से मुझमें धीरता और ध्रुवता का प्रस्थापन हुआ है। मैं तुझपर बलिहारी जाता हूं"।

तू सिंही है प्रिये सुवीरा,
जाऊं मैं तुझपर बलिहारी॥

२) देवि! तू (आदित्य-वनिः सिंही असि) आदित्य-सेविनी सिंही है, मैं तुझपर (स्वाहा) बलिहारी जाऊं।

आदित्य-वनि का अर्थ है आदित्य का सेवन करनेवाली। आदित्य के दो प्रसिद्ध अर्थ हैं सूर्य और रश्मि। सूर्य रश्मिपुञ्ज है। रश्मियों के समूह का ही नाम है सूर्य। रश्मियों को सूर्य से अलग कर दिया जाये तो सूर्य सूर्य न रहकर कार्बन का एक कृष्ण पिण्ड मात्र रह जाये।

देवयाजक की वीराङ्गना पत्नी न केवल सिंहिनी अथवा सुवीरा ही है, अपितु आदित्य-सेविनी भी है, सूर्य के समान रश्मिमयी भी है, अपनी ज्ञानरश्मियों से विश्व को आलोकित करनेवाली भी है। अपनी सिंही और आदित्यवनि प्रिया पर प्रमुग्ध होकर अनायास ही देवयाजक के मुख से प्रसरित होता है—"देवि! तू सुवीरा है और है तू ज्ञानरश्मियों से मुझे आलोकित करके अपनी प्रबल प्रेरणाओं से मुझमें ध्रुवता और धीरता का प्रस्थापन करनेवाली। प्रिये! मैं तुझपर बलि जाऊं"।

३) देवि! तू (ब्रह्म-वनिः क्षत्र-वनिः सिंही असि) ब्रह्म-सेविनी क्षत्र-सेविनी सिंही है, मैं तुझपर (स्वाहा) बलि जाऊं।

दो ही सम्पत्तियां हैं, ब्रह्म-सम्पत्ति और क्षत्र-सम्पत्ति। ब्रह्म-सम्पत्ति का सेवन किया जाता है आत्मा के द्वारा और क्षत्र-सम्पत्ति का सेवन किया जाता है शरीर के द्वारा। ब्रह्म-सम्पत्ति के सेवन से आत्मिक पूर्णता की सिद्धि होती है और क्षत्र-सम्पत्ति के सेवन से शारीरिक सम्पूर्णता की। दो ही बल हैं, ब्रह्मबल और क्षत्रबल। ब्रह्मोपासना द्वारा ब्रह्मबल का सम्पादन होता है और जीवन-साधना द्वारा क्षत्रबल का। ब्रह्मबल और क्षत्रबल के समन्वय से ही उस ध्रुवता और अच्युतता [धीरता] की प्राप्ति होती है, जिसका उल्लेख अगले मन्त्र में किया गया है। ब्रह्म और क्षत्र के समन्वय से ही मानव जीवन में पूर्णता परिपूर्णता का निष्पादन होता है।

देवयाजक की सुवीरा पत्नी न केवल आदित्य-सेविनी ही है, अपितु ब्रह्मसेविनी और क्षत्रसेविनी भी है।

"देवि ! तू न केवल सुवीरा और ज्ञानरश्मियों से सुरश्मित है, अपितु ब्रह्म और क्षत्र से भी समन्वित है। अपनी आत्माभा और जीवनप्रभा से मुझे सुभासित करके अपनी सुप्रेरणाओं से मुझमें ध्रुवता और धीरता की प्रस्थापना कर। प्रिये ! मैं तुझपर बलि जाऊं"।

४) देवि ! तू (सुप्रजा-वनिः रायस्पोष-वनिः सिंही असि) सुप्रजा-सेविनी तथा आत्मैश्वर्य की पुष्टि का सेवन करनेवाली सिंही है, मैं तुझपर (स्वाहा) बलि जाऊं।

वनन, संसेवन अथवा सुसेवा द्वारा प्रजा को सु, शुभ, श्रेष्ठ, सुशोभनीय बनानेवाली होने से देवयाजक की पत्नी सुप्रजावनि है। रायस्पोषवनिः रायःपोष-वनिः, आत्मैश्वर्य के पोष का सेवन करनेवाली होने से उसे रायस्पोषवनि कहा गया है।

देवयाजक की सुवीरा, आदित्यसेविनी, ब्रह्म-सेविनी तथा क्षत्रसेविनी पत्नी प्रजा को शोभनीय बनानेवाली तथा आत्मैश्वर्य के पोष [पुष्टि] की साधना करनेवाली भी है। आदित्य, ब्रह्म और क्षत्र की व्याप्ति तथा आत्मैश्वर्य की सुपुष्टि से प्रजा निस्सन्देह सुप्रजा बनती है।

५) देवि ! तू (सिंही असि) सिंहिनी है, सुवीरा है, मैं तुझपर (स्वाहा) बलि जाऊं, तू मुझ (यजमानाय) यजमान के लिये, मुझ देवयाजक के लिये (देवान् आ-वह) देवों को आवहन कर, दिव्यतायें प्राप्त कराती रह, दिव्यताओं का संचार करती रह।

६) मैंने (त्वा) तुझे (भूतेभ्यः) भूतों के लिए, सब प्राणियों के हित के लिये, प्राणीमात्र के दिव्यीकरण के लिये, अपनी जीवन-संगिनी बनाया है।

देवयाजक पत्नी का वरण और उसका संगती-करण देवयजन के लिये किया करते हैं, भोग विलास के लिये नहीं।

सिंही और सुवीरा है तू,
मैं तुझपर बलि जाऊं।
तू सिंही आदित्यवनि है,
मैं तुझपर बलि जाऊं।
तू सिंही है ब्रह्मसेविनी क्षत्रसेविनी,
मैं तुझपर बलि जाऊं।
सिंही है तू और सुवीरा,
सुप्रजा की सेवन-कर्त्री,
आत्म-ऐश्वर्य की पुष्टि का,
सदा सुसेवन करनेवाली,
मैं तुझपर बलि जाऊं।
सिंही है तू और सुवीरा,
मैं तुझपर बलि जाऊं।
करा दिव्यतायें प्राप्त तू,
मुझ यजमान देवयाजक को।
वरण किया है मैंने तुझको,
सकल प्राणियों के हित-हेतु॥

ध्रुवो ऽसि पृथिवीं दृंह ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं
दृंहाच्युतक्षिदसि दिवं दृंहाग्नेः पुरीषमसि ॥
(य० ५/१३)

ध्रुवः असि पृथिवीं दृंह ध्रुव-क्षित् असि
अन्तरिक्षं दृंह अच्युत-क्षित् असि दिवं
दृंह अग्नेः पुरीषं असि ॥

अपने पति के मुख से की गयी अपनी प्रशस्ति और विनय को सुनकर पत्नी सकुचा जाती है और उसे प्रबल प्रेरणा करने लगती है—

१) तू (ध्रुवः असि) ध्रुव है, (पृथिवीं दृंह) पृथिवी को व्याप।

यद्वै स्थिरं यत्प्रतिष्ठितं तद् ध्रुवम्—जो स्थिर और प्रतिष्ठित [सं-स्थित] है, वह ही ध्रुव है। ध्रुवो ऽयमात्मा—ध्रुव यह आत्मा है। शरीर ध्रुव नहीं है, क्योंकि वह एक अस्थिर और अस्थायी निवास-स्थान है। आत्मा ही ध्रुव है, क्योंकि वह स्थिर है और देह-सदन में प्रतिष्ठित है।

पृथिवी तनूरियम्—पृथिवी है यह तनू, यह पार्थिव देह, यह भौतिक शरीर। पृथिवी से तात्पर्य यहां पृथिवी-व्यापी अथवा सार्वभौम जीवन से है। देवयाजक का जीवन संकोच अथवा कृपणता का जीवन नहीं है, सार्वभौम सार्वजनिक जीवन है।

दृह वृद्धौ। दृह धातु का अर्थ है वृद्धि करना, फैलना, व्यापना।

"प्रियतम! तू ध्रुव है। तू अजर, अमर और शक्तिपुञ्ज है, सक्षम आत्मा है। अपनी आत्मशक्ति, आत्मक्षमता और आत्मसाधना से तू अपने जीवन को सम्पूर्ण पृथिवी पर व्याप"।

जीवन क्या है? इस सम्प्रश्न का एक शब्द में उत्तर है "व्याप्ति"। व्याप्ति का ही नाम जीवन है। व्याप्ति जीवन है। संकोच मृत्यु है। फिर देवयाजक को तो देवयजन करना है, सम्पूर्ण पृथिवी का दिव्यीकरण करना है। उसे तो सम्पूर्ण पृथिवी पर अपने जीवन को व्यापना ही चाहिये।

मानव-योनि कर्मयोनि है। मानव-जीवन क्रतुमय हैं। दिव्य क्रतु, दिव्य कर्म अथवा दिव्य साधना व्याप्ति का प्रथम साधन है। क्रतुना दृंहते। क्रतु, कर्तृत्व, कर्म अथवा साधना द्वारा ही व्यापा जाता है। "तू ध्रुवात्मा है। ध्रुव होकर पृथिवी को व्याप। आत्म-अवस्थित होकर और अपने क्रतु द्वारा व्यापकर पृथिवी पर दिव्यता की व्याप्ति कर", देवयाजक की आदर्श पत्नी की यह कितनी सारगर्भित और अन्तःस्पर्शी सुप्रेरणा है।

२) तू (ध्रुव-क्षित् असि अन्तरिक्षं दृंह) ध्रुव-क्षित् है, अन्तरिक्ष को व्याप।

क्षि निवासगत्योः। ध्रुवता के साथ जो निवास और गति करता है, उसे ध्रुव-क्षित् कहते हैं। देवयाजक का आत्मा साधारण आत्मा नहीं है, साधना-सम्पन्न आत्मा है। इसी लिये पत्नी ने उसे ध्रुव-क्षित् कहा है। ध्रुवता के साथ शरीर में निवास करके ध्रुवता के साथ गति-साधना करने से ही देवयाजक की दिव्य साध फलवती होगी।

यस्मिन्नन्तरीक्षन्ते तदन्तरिक्षम्—जिसके अन्दर ईक्षण [दर्शन] करते हैं, वह अन्तरिक्ष है। छिद्र-मिवेदमन्तरिक्षम्—छिद्र के समान है यह अन्तरिक्ष। समष्टि सृष्टि में यह आकाश अन्तरिक्ष है, जिसमें सूर्य चन्द्र आदि लोक लोकान्तर दिखाई पड़ते हैं। व्यष्टि में, मानव व्यक्ति में, यह अन्तःकरण ही वह अन्तरिक्ष है, जिसमें आत्मा का, परमात्मा का, सत्य का, तत्त्व का, दर्शन होता है। अन्तरिक्ष का प्रयोग यहां अन्तःकरण अथवा हृदय के अर्थ में हुआ है।

अन्तःकरण या हृदय प्रेममय और भावनामय है। व्याप्ति का दूसरा साधन है मानव का हृदय। मानव-हृदय प्रेम और भावना का आगार है। जिस हृदय में अखिल विश्व के लिये प्यार है और जिसकी भावना में अखिल विश्व का कल्याण है, वह विश्व के लिये मंगल कामना करता है और वह ही अपनी सुसेवा अथवा अपने सुक्रतु द्वारा विश्व का हित सम्पादन करता है। "तू ध्रुवात्मा है। तेरा ध्रुवात्मा ध्रुवता के साथ तेरे शरीर में निवास कररहा है। ध्रुवक्षित्-ध्रुवनिवासी होकर तू अपने अन्तःकरण को व्याप। ध्रुवक्षित् होकर अपने प्रेम और अपनी भावना द्वारा व्यापता हुआ तू पृथिवी पर दिव्यता की व्याप्ति कर", देवयाजक की साधनाशील पत्नी की यह कितनी भावपूर्ण सुप्रेरणा है।

३) तू (अ-च्युत-क्षित् असि दिवं दृंह) अच्युत-क्षित् है, द्यौ को व्याप।

जो कभी च्युत न हो, जिसका कभी पतन न हो, उसे अच्युत कहते हैं। जो अच्युतता के साथ निवास करता है, उसे अच्युत-क्षित् कहते हैं। देवयाजक का आत्मा वह साधनासम्पन्न आत्मा है, जो देहसदन में ध्रुवता के साथ निवास करता हुआ कभी कदापि पतन को प्राप्त नहीं हो सकता।

द्योतन्ते नक्षत्राणि यस्यां सा द्यौः। जिसमें नक्षत्र जगमगाते हैं, वह द्यौ है। देवयाजक का दिव्य मस्तिष्क ही वह द्यौ है, जिसमें दिव्य विचार-रूपी नक्षत्र जगमगाते हैं।

जिसका द्यौ दिव्य चिन्तनों से, जिसका मस्तिष्क दिव्य विचारों से, द्योतित रहता है, उसका कभी पतन नहीं होता। मनुष्य के अपने चिन्तन, मानव के अपने विचार, ही उत्थान और पतन का कारण होते हैं। मलिन विचार और अश्लील चिन्तन पतन का कारण होते हैं। निर्मल विचार और विमल चिन्तन उत्कर्ष और उत्थान का कारण होते हैं। देवयाजक का द्यौ वह दिव्य द्यौ है, जिसमें सदा सर्वदा निर्मल विचार और दिव्य चिन्तन जगमगाते रहते हैं।

मनुष्य के जैसे विचार होते हैं, वसा ही उसका चिन्तन होता है। जैसा वह चिन्तन करता है, वैसे ही उसके विचार होते हैं। मानव जाति के दिव्यीकरण में विचार और चिन्तन का महत्त्व प्रत्यक्ष है। विचार और चिन्तन के अनुरूप ही मानव जाति का जीवन बनता है। मनुष्यों को जैसे विचार मिलते हैं, वैसा ही उनका चिन्तन होता है। उनके विचार और चिन्तन जैसे होते हैं, वैसे ही उनके जीवन होते हैं।

"तू अच्युतात्मा है। अच्युतता के साथ देहसदन में निवास करता हुआ तू अपने द्यौ को व्याप। अच्युत-क्षित् होकर अपने द्यौ के दिव्य विचारों और दिव्य चिन्तनों को व्यापता हुआ तू सम्पूर्ण पृथिवी पर दिव्यता की व्याप्ति कर। अपने दिव्य विचारों तथा चिन्तनों को सर्वत्र सर्वतः प्रसारता हुआ तू अपने द्यौ से सम्पूर्ण पृथिवी का दिव्यीकरण कर", देवयाजक की चिन्तनशीला भार्या की यह कितनी गहन और गम्भीर सुप्रेरणा है।

४) तू (अग्नेः पुरीषं असि) अग्नि का प्रेरक है।

अग्नि शब्द का प्रयोग यहां दिव्यताग्नि के अर्थ में हुआ है।

"तू दिव्यताग्नि का प्रज्वलनकर्ता है। तू दिव्यता का प्रेरक और प्रसारक है। अपने जीवन, अपने हृदय और अपने मस्तिष्क की व्याप्ति से तू दिव्यता का प्रसार किये जा। अपने क्रतु, अपने प्रेम और अपनी भावना से तथा अपने विचार और चिन्तन से दिव्यता की व्याप्ति करता हुआ तू पृथिवी का दिव्यीकरण किये चला जा", देवयाजक की संजया जीवनसंगिनी की यह कितनी सुन्दर सुप्रेरणा है।

ध्रुव है प्रिय तू,
व्याप पृथिवी को।
ध्रुवक्षित् है तू,

व्याप अन्तरिक्ष को।
अच्युतक्षित् है तू,
व्याप द्यौ को।

दिव्यताग्नि का प्रेरक है तू॥
सूक्ति—अग्नेः पुरीषमसि।
तू दिव्यताग्नि का प्रेरक है॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहा॥ (य० ५/१४)

[ऋ० ५-८१-१, य० ११/४, ३७/२]

युञ्जते मनः उत युञ्जते धियः विप्राः विप्रस्य बृहतः विपःचितः। वि होत्रा दधे वयुन-वित् एकः इत् मही देवस्य सवितुः परि-स्तुतिः स्वाहा॥

विप्रः मेधाविनाम्। एते वै विप्रा यदृषयः। विप्र नाम मेधावि का है, उस योगस्थ मेधावि का, जो वि-प्रता के साथ, विशेष प्रकृष्टता के साथ, नितान्त उत्कृष्टता के साथ अपने मन और अपनी धारणाओं को समाहित करके आत्मना प्रकृति और प्रकर्ता [ब्रह्म] का स्पष्ट साक्षात् दर्शन करते हैं।

प्रजापतिर्वै विप्रः। विप्र नाम प्रजापति का है, जो अखिल जीवों का स्वामी है। ब्रह्म वै विप्रः। ब्रह्म निश्चय से विप्र है, जो अन्तर्यामीरूप से वि-प्रकृष्टता के साथ अखिल ब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता और अधिपति है।

विपः अंगुलिनाम। चित् चेतानेवाला। अंगुलि से संकेत अथवा प्रेरणा की जाती है। अंगुलि प्रतीक है संकेत और प्रेरणा का। विपश्चित् का अर्थ है अन्तःसंकेत अथवा अन्तःप्रेरणा द्वारा चेतानेवाला, अन्तःप्रेरक, अन्तर्यामी।

वयुनम् प्रशस्य नाम, प्रज्ञानाम। वयुन का अर्थ है प्रशंसनीय और प्रज्ञा। वयुनवित् अथवा वयुनावित् का अर्थ है प्रशंसनीयता के साथ प्रज्ञानपूर्वक सब कुछ जाननेवाला, सर्वज्ञ।

वयुन नाम गति और चेष्टा का भी है। वित् का अर्थ है जाननेवाला। वयुनवित् अथवा वयुनावित् का अर्थ है ब्रह्माण्ड की प्रत्येक गति और चेष्टा को जाननेवाला, सर्वज्ञ।

ब्रह्माण्ड का प्रसविता, रचयिता और प्रेरक होने से परमात्मा का नाम सविता है।

होत्रेति यज्ञनाम। होत्र नाम यज्ञ का है। होत्र से तात्पर्य यहां सृष्टिरूपी यज्ञ से है।

स्तुति और समादर से प्रायः अहंकार का अंकुर अंकुरित होने लगता है और यदि उस अंकुर को अंकुरित होते ही निर्मूल न किया जाये तो वह वटवृक्ष की तरह साधक के जीवन पर छा जाता है और उसकी साधना को नष्ट भ्रष्ट कर देता है।

देवयाजक ने समादरपूर्वक अपनी देवयाजिका पत्नी का स्तवन किया है और पत्नी ने भी समादरपूर्वक अपने पति का स्तवन किया है। जनता भी दोनों का सत्कार और स्तवन कर रही है। सत्कार और स्तवन से समादृत होते हुये अहंकार के शमन के लिये दोनों अपने अपने मन को समाहित और अपनी अपनी धारणाओं को एकाग्र करके प्रभु की मही महिमा का चिन्तन करते हैं—

१) (विप्राः) योगस्थ मेधावी जन, मेधावी योगी जन (मनः युंजते) मन को समाहित करते हैं (उत) और (धियः युंजते) धारणाओं को युक्त करते हैं।

२) मन को समाहित और धारणाओं को युक्त करके वे देखते हैं कि वह (वयुनावित् एकः इत्) सर्वज्ञ एक ही (होत्रा) होत्राणि, होत्रों, यज्ञों, सृष्टियों, को (वि-दधे) धारण कररहा है।

३) (बृहतः विपश्चितः विप्रस्य सवितुः देवस्य) महान् अन्तर्यामी विप्र सविता देव की (परि-स्तुतिः) परिस्तुति,महिमा (मही) महती है।

४) हम उसकी महिमा पर (स्वाहा) बलि जायें।

एक सच्चा देवयाजक अपनी कृति और अपनी साधना पर लेशमात्र भी अहंकार नहीं करता हैं। न ही एक सच्ची देवयाजिका अपनी कृति व साधना पर तनिक भी अभिमान करती है। सच्चे विप्र, सच्चे देवयाजक, सच्ची देवयाजिका, तो अपने मन और अपनी धारणाओं को समाहित रखते हुये उस महिमामय की मही महिमा का अवलोकन करते रहते हैं कि किस प्रकार वह एक ही समस्त सृष्टियों का संचालन कररहा है। अपने अन्तरतम में वह साक्षात् अनुभव कररहे होते हैं कि उस सर्वधारक और सर्वसंचालक देव की सुप्रेरणा तथा कृपा से ही उनके देवयजन का संचालन होरहा है, उसी के प्रसाद और प्रकाश से पृथिवी के दिव्यीकरण की उनकी साधना फलवती होरही है।

विप्र समाहित करते मन को,
और धारणाओं को।
वयुनावित् वह एक अकेला,
धारण और संचालन करता,
सकल सृष्टियों संसृतियों का।
बृहत् विपश्चित् विप्र,
देव सविता की,
महिमा मही, मही महिमा है।
बलि जाऊं,
उसकी महिमा पर॥

सूक्ति—**युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्राः॥**
विप्र मन को समाहित और धारणाओं को युक्त करते हैं॥
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक॥
एक सर्वान्तिर्यामी सृष्टियों को धारण कररहा है॥
मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥
मही देव सविता की महिमा॥

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे स्वाहा॥ (य० ५/१५)
[ऋ० १-२२-१७, सा० २२२, १६६९, अ० ७-२६-४]
इदं विष्णुः वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
सं-ऊढं अस्य पांसुरे स्वाहा॥

विश प्रवेशने धातु से विष्णु शब्द सिद्ध होता है। विष्णु का अर्थ है प्रवेश करनेवाला, व्यापनेवाला, प्रविष्ट, व्यापक। जो जिसमें प्रविष्ट है, वह उसका विष्णु है। सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा सौरमण्डल में प्रविष्ट और व्यापक है। सूर्य सौरमण्डल का विष्णु है। प्रेम के कारण कोई किसी के हृदय में प्रविष्ट है, वह उसका विष्णु है। प्रेमी भक्तों के हृदयों में प्रेमरूप से प्रविष्ट होने के कारण परमेश्वर विष्णु है। अखिल ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट-व्यापक होने से परमात्मा विष्णु है। पूर्व मन्त्र में कथित देव सविता यहां विष्णु नाम से कथित है।

क्रमु पादविक्षेपे। क्रम का अर्थ है पग चलाना, क़दम रखना, डग भरना, क्रमपूर्वक किसी कार्य को करना। वि-चक्रमे का अर्थ है विक्रमण किया, विविधतया विविध ओर सब ओर पादविक्षेप किया, यथाक्रम सम्पादन किया।

पद्यते गम्यते यत् तत् पदम्। जिससे चला जाता है, उसे पद कहते हैं। गमन-साधन होने से पद नाम

पैर का है। पद या पाद नाम चतुर्थ भाग का भी है। यहां पद का प्रयोग गति के अर्थ में हुआ है।

समूढ=सं+ऊढ, सम्यक् ऊढ, गुह्य, गोपनीय, अन्तर्निहित, अज्ञेय।

पांसु नाम उन आग्नेय, चमकीले रजों, रेणुओं, कणों या अणुओं का है, जो अन्तरिक्ष में व्यापे हुये निरन्तर गति करते रहते हैं और जिन्हें आकाशकण या ईथर कहते हैं। पांसु जिसमें व्यापकर गति करते हैं, उसे पांसुर कहते हैं। पांसुर=पांसु+र, पांसु जिसमें रमण करते हैं वह, अन्तरिक्ष, आकाश।

प्रभु की मही महिमा के चिन्तन को जारी रखते हुए दोनों पुनः कहते हैं—

१) (विष्णुः) विष्णु ने (इदं) इसको, इस सृष्टि को, इस ब्रह्माण्ड को (पांसुरे) अन्तरिक्ष में, आकाश में (त्रे-धा) तीन प्रकार से (वि-चक्रमे) विक्रमण किया हुआ है, (नि-दधे) नितराम-धारण किया हुआ है।

२) (अस्य पदं सं-ऊढं) इसका पैर समूढ है, इसकी गति गहन-अज्ञेय हैं।

३) हम उसकी महिमा पर (स्वाहा) बलि जायें।

जब कोई किसी भवन का निर्माण करता है तो वह कभी इधर जाकर स्थित होता है कभी उधर जाकर, कभी इधर जाता है कभी उधर, कभी इधर दौड़ता है कभी उधर, कभी इधर गति करता है कभी उधर। भवन के बन जाने पर भी वह भवन के अन्दर बाहर ऊपर नीचे जाता आता है। भवन के जीर्ण क्षीण होजाने पर उसके पुनर्निर्माण में वह फिर इधर उधर नीचे ऊपर गति करता है।

अखिल ब्रह्माण्ड की नितान्त प्रलय कभी नहीं होती, किन्तु इस ब्रह्माण्ड में अनेक सूर्य, अनेक सौरमण्डल, अनेक लोकलोकान्तर सदा बनते, स्थित रहते और बिगड़ते रहते हैं। सूर्यों, सौरमण्डलों और लोकलोकान्तरों की रचना, स्थिति और प्रलय का क्रमचक्र अनवरत चलता रहता है। रचना स्थिति और प्रलय के इस त्रि-धा चक्र को चालू रखने में विष्णु को भी विक्रमण अथवा गमन करना होता है। एतदर्थ विष्णु तीन प्रकार से विगमन करता है–सर्वव्याप्ति, सर्वज्ञता और अन्तःप्रेरणा। यही विष्णु का त्रेधा विक्रमण है।

विष्णु अपनी सर्वव्याप्ति, सर्वज्ञता तथा अन्तःप्रेरणा द्वारा किस प्रकार गति करता हैं, यह नितान्त रहस्यमय है, सर्वथा अज्ञात है। उसकी इस लीला पर भक्त जन, साधक जन बलिहारी जाते हैं।

"जिस महिमामय विष्णु ने अपनी सर्वव्याप्ति, सर्वज्ञता और अन्तःप्रेरणा के द्वारा इस ब्रह्माण्ड को आकाश में धारित संचालित किया हुआ हैं, जिसकी गति अतिशय गहन है, उसी की महती कृपा और सुरक्षा से हमारा देवयजन अग्रसर होरहा है, उसीके प्रसाद और प्रकाश से पृथिवी के दिव्यीकरण की हमारी साध संसिद्ध होरही है। उसकी इस अज्ञेय गहन गति पर हम बलिहारी जाते हैं"।

किया विक्रमण त्रि-प्रकार से,
इसे विष्णु ने।
अन्तरिक्ष में किया हुआ है,
धारण इसको।
गति विष्णु की अति गहन है,
बलि जायें उसकी महिमा पर॥

इरावती धेनुमती हि भूतं सूयवसिनी मनवे दशस्या।
व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो
मयूखैः स्वाहा॥ (य० ५/१६)

[ऋ० ७-९९-३]

इरा-वती धेनु-मती हि भूतं सू-यवसिनी मनवे दशस्या।
वि-अस्कभ्नाः रोदसी विष्णो एते दाधर्थ पृथिवीं अभितः
मयूखैः स्वाहा॥

विष्णु की मही महिमा का चिन्तन करते हुये अब दोनों विष्णु को सम्बोधन करते हैं—विष्णो ! तू (एते रोदसी) इन द्यौ भूमि को (वि-अस्कभ्नाः) थामे हुए है। तू ही (पृथिवीं) पृथिवी को (मयूखैः) मयूखों—धारणाकर्षणसाधनों द्वारा (अभितः) सर्वतः (दाधर्थ) धारण किये हुये है। तेरी इस अद्भुत लीला पर हम तुझपर (स्वाहा) बलि जायें।

मयूख नाम किरण, शोभा, शिखा और आकर्षण का है। विष्णु की महिमा को देखिये कि न केवल हमारी इस पृथिवी को अपि तु द्यौ में दिखाई देनेवाले असंख्य लोकलोकान्तरों को भी बिना किसी आधार के धारणाकर्षणसाधनों द्वारा वह आकाश में सर्वतः अधर धारे हुये है।

और विष्णु का साक्षात् स्तवन करके अब वे स्वयं द्यौ भू को सम्बोधन करने लगते हैं—(रोदसी) द्यौ भूमे ! तुम दोनों (हि) निश्चय से (मनवे) मनुष्य-मात्र के लिये (इरा-वती) अन्न-वती, (धेनु-मती) गौ-मती, (सू-यवसिनी) सु-यवसिनी तथा (दशस्या) दानशीला (भूतं) होओ।

सम्पूर्ण पृथिवी के दिव्यीकरण के यजन के याजक दम्पती स्वभावतः ही मनुष्यमात्र के लिये मंगल कामना किया करते हैं। उपर्युक्त शब्दों में उन्होंने वैसा ही किया हैं।

इरा नाम अन्न का है और धेनु नाम है गौ का। यवस कहते हैं घास को, भूसे को। देवयाजक पति और देवयाजिका पत्नी ने यहां मनुष्य मात्र के लिये एक बड़ी ही शुभ कामना की है। मनुष्य मात्र के सुख के लिये पृथिवी अन्न-सम्पदा तथा गोसम्पदा से सम्पन्न रहे। गौ के लिये पृथिवी यवस आदि चारे से भरपूर भरी रहे। मनुष्य और मनुष्येतर गौ आदि प्राणियों के लिये द्यौ और भूमि दोनों सुखसाधनों की वृष्टि करनेवाली हों। भूमि अन्न गौ और यवस से सम्पन्न रहे और द्यौ से जलों की सुवृष्टि होती रहे। मानव की वास्तविक पुष्टि के लिये अन्न और गौ की और पशु की पुष्टि के लिये यवस की मोती मूंगा, चांदी सौना, रत्न जवाहरात से भी अधिक उपादेयता हैं।

पृथिवी के दिव्यीकरण की साध के साथ साथ पृथिवी-वासी मानवों की भौतिक सम्पन्नता की साध भी संसिद्ध की जानी परमावश्यक है। भौतिक सम्पन्नता के बिना आध्यात्मिक सम्पन्नता सम्पादन करना सर्वथा असम्भव होता है। भूखे क्या दिव्यता की साधना करेंगे और भूखों से क्या दिव्यता की साधना करायी जा सकती हैं। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही साधों की सहसाधना होनी चाहिये। इसी भावना को सजीव और सजग रखने के लिये देवयजनकर्ता दम्पती ने कहा है, "विष्णो ! अपने जिन गुह्य धारणाकर्षण साधनों द्वारा तू द्यौ और भू को धारण किये हुये है, अपने उन्हीं साधनों द्वारा तू पृथिवी के देवयजन की हमारी साध को निर्वहन करा। हम तेरी मही महिमा पर बलिहारी जाते हैं। तेरी महती कृपा से जहां एक ओर हमारा पृथिवी का देवयजन सफल हो, वहां उसकी सफलता के लिये हमारी पृथिवी पर विपुल धनैश्वर्य, प्रचुर गौ अश्व आदि सम्पदा और अक्षय अन्न तथा यवस भी हो"।

द्यौ भूमे, तुम निश्चय होओ,
मनुष्यमात्र के लिये अन्नवती,
धेनुमती सु-यवसा दोनों।
विष्णो, तू थामे हुए है,
इन द्यौ और भूमि दोनों को।
तू ही धारण किये हुये है,
पृथिवी को अभितः मयूखों से॥

देवश्रुतौ देवेष्वा घोषतं प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम्। स्वं गोष्ठमा वदतं देवी दुर्ये आयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टमत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः॥

(य० ५/१७)

देव-श्रुतौ देवेषु आ-घोषतं प्राची प्र-इतं अध्वरं कल्पयन्ती ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम्। स्वं गो-स्थं आ-वदतं देवी दुर्ये आयुः मा निःवादिष्टं प्रजां मा निःवादिष्टं अत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः॥

विष्णु के स्तवन तथा द्यौ भू के सम्बोधन से अनुप्राणित होकर इस मन्त्र से दोनों ने सम्मिलित आत्मसम्बोधन किया है।

आत्मसम्बोधन से जहां सम्बोधनकर्ता में धैर्य और आत्मबल की वृद्धि होती है, वहां उसमें कर्तृत्व, कार्यक्षमता तथा सहनशक्ति का विकास विस्तार भी होता है और साथ ही निश्चल परमात्मपरायणता की सिद्धि भी होती है।

कार्य जितना शिव, सुन्दर और सुमहान् होता है, उसकी संसिद्धि के मार्ग में कठिनाइयां भी उतनी ही कठिन होती हैं और साधक का विरोध भी उतना ही तुमुल होता है। फिर पृथिवी का देवयजन तो उदात्तोदात्त और महतो महान् अनुष्ठान है। उसके मार्ग की कठिनाइयों और विरोधों का तो कहना ही क्या। अतः अपने धैर्य को स्थिर रखने, अपने आत्मबल को जगाने और अपने निश्चय को निश्चल बनाये रहने के लिये देवयाजक और देवयाजिका आत्मसम्बोधन करते हुये वक्षस्थलों पर दक्षिण हस्त रखकर अपने स्वयं के प्रति कहते हैं—

१) (देव-श्रुतौ)! दोनों (देवेषु आ-घोषतं) दिव्य जनों में आघोष करो।

श्रुत [सुननेवाले] कई प्रकार के होते हैं। कोई अश्रुत होते हैं, जो सुनते ही नहीं हैं, जो अन्तःकर्ण से नितान्त बहरे होते हैं, ये अन्तःश्रवणशून्य होते हैं। कोई अश्रुत श्रुत होते हैं, जो सुने को असुना करते रहते हैं, ये आत्महनोजन हैं। कोई अकृत श्रुत होते हैं, जो सुनते तो हैं पर करते नहीं हैं, ये कृपण जन हैं। कोई कृत श्रुत होते हैं, जो जितना सुनते हैं, उतना करते हैं, ये आर्य जन हैं। कोई बहुकृत बहुश्रुत होते हैं, जो बहुत सुनते हैं और बहुत करते हैं, ये धीर जन हैं। कोई देवश्रुत होते हैं, जो दिव्य श्रवण करते हैं और दिव्यीकरण करते हैं, इनके अन्तःकरण दिव्य देव की दिव्य प्रेरणाओं से निरन्तर प्रप्रेरित होते रहते हैं और उनसे अनुप्रेरित रहते हुए वे अनवरत दिव्य घोषणायें करते रहते हैं और उन दिव्य घोषणाओं को कार्यरूप में परिणत करते रहते हैं।

घोष का अर्थ है घोषणा करना, आह्वान करना। घोषणा का प्रयोजन आह्वान, आकरण अथवा बुलाना ही होता है। जब हम जनता में किसी के व्याख्यान की घोषणा करते हैं तो उसका तात्पर्य यही होता है कि सर्वजन व्याख्यान सुनने के लिये आयें।

पृथिवी के दिव्यीकरण की सुमहान् साध केवल एक ही देवश्रुत दम्पती के द्वारा पूर्णतया संसिद्ध नहीं हो सकती। देवयाजक दम्पती के अन्तःकरण में तरंगें उठ रही हैं कि देवजनों में देवयजन की घोषणा करते हुये वे आह्वान करें कि देवजन, दिव्य नारियां और दिव्य नर, आयें और पृथिवी

पर किये जारहे उनके देवयजन में अपना दिव्य भाग सम्प्रदान करें।

दिव्य दम्पती के अन्तःकर्णों में अन्तर्घोष उठ रहा है देवों और देवियों को आहूत करने के लिये, देवजनों का आह्वान करने के लिये और वे आत्मघोष करने लगते हैं—

दोनों चलो, दिव्य देवों में, देवयजन की करो घोषणा।
और आह्वान करो देवों का देवयजनसम्पादनहेतु ॥

२) (देवश्रुतौ)! (प्राची) प्राची (कल्पयन्ती) कल्पयित्री है, समर्थयित्री है, दोनों उसके प्रति (प्र-इतं) प्रगमन करो, चलते रहो।

प्राची नाम पूर्व दिशा का है। दिशा केवल एक ही है और वह है प्राची। शेष तीन दिशायें प्राची की अपेक्षा से हैं। जिधर सूर्य उदय होता है, उस दिशा का नाम प्राची है। उदय होते हुए सूर्य की ओर मुख करके खड़े होने पर सामने प्राची, दायें हाथ की ओर दक्षिण, पृष्ठ की ओर पश्चिम और बायें हाथ की ओर उत्तर है। शेष तीनों दिशायें प्राची की उपदिशायें हैं।

प्राची में सूर्य उदय होता है। उदीयमान सूर्य प्रकाश का प्रसार करता है, उत्कर्ष और प्रचेतना का विस्तार करता है, कर्तृत्वशक्ति और कर्मसामर्थ्य का संचार करता है। प्राची उदय, प्रकाश और प्रगति की दिशा है। प्राची की ओर प्रगमन करने का अर्थ है प्राची का अनुगमन करना। देवयजनशील दम्पती के अन्तःकर्णों में अन्तर्घोष गूंज रहा है—

प्राची दिशा कल्पयित्री है,
दोनों चलो उसी की ओर।
रहते हुए उदित ओजोमय,
करो प्रकाशित शुभ्र प्रकाश,
पूरो प्रकर्ष और प्रचेतना,
करो सतत शक्ति-संचार ॥

"हम दोनों प्राची की ओर ही प्रगमन करते रहें, सूर्य के समान उदित रहते हुए पृथिवी पर प्रकाश और प्रगति पूरते चले जायें, जन-जन में प्रकाश और प्रचेतना का संचार करते हुए पृथिवी का कल्प करते चले जायें। हम दोनों न रुकें, न ठिठकें, न प्रतीक्षा करें—देवयजन के पथ पर अनवरत चलते चले जायें"।

३) (देवश्रुतौ)! दोनों (यज्ञं अध्वरं ऊर्ध्वं नयतं) यज्ञ को अध्वर ऊर्ध्व लेजाओ।

यज्ञ शब्द का प्रयोग यहां पृथिवी के देवयजन के लिये हुआ है।

ध्वृ हूर्छने कौटिल्ये वा। ध्वर का अर्थ है कुटिल। अध्वर का अर्थ है अकुटिल, निश्छल, सत्यनिष्ठ।

ऊर्ध्व का अर्थ है उच्च, ऊंचा, उत्कृष्ट, उत्कर्ष।

देवयाजक दम्पती के अन्तःकर्णों में आत्मघोष होरहा है—"दोनों पृथिवी के देवयजन का सत्यनिष्ठा के साथ अनुष्ठान करते हुए उसे उत्कर्ष प्राप्त कराओ। सत्यनिष्ठा और उत्कृष्टता के साथ पृथिवी का देवयजन किये चले जाओ, इस विश्वास के साथ कि सत्यनिष्ठा तथा उत्कृष्टता के साथ की गयी साधना कभी निष्फल नहीं जाती। साधना किये चले जाओ। समय आयेगा जब सफलता तुम्हारा चरण-चुम्बन कर रही होगी।"

४) (देवश्रुतौ)! दोनों (मा जिह्वरतं) कुटिलता न करो, शिथिलता न करो, निष्ठा भंग न करो।

साधकों अथवा देवयाजकों के जीवनों में ऐसे अवसर आते हैं, जब उनकी साधना का पथ दीर्घ से दीर्घतर और दीर्घतम होता चला जाता है। सफलता के कोई लक्षण दिखाई नहीं देते। न सहयोगी मिल रहे होते हैं, न सहयोग मिल रहा होता है। न साधक उपलब्ध होरहे होते हैं, न साधन प्राप्त हो रहे होते हैं। साधक अपने को जीवन के अन्तिम छोर पर खड़ा पाते हैं और लक्ष्य की सिद्धि असम्भव प्रतीत होती है। ऐसी परिस्थितियों में भी सच्चे साधक अपनी साधना में शिथिलता नहीं आने देते हैं। ऐसे विकट प्रसंग में भी वे अपने अनुष्ठान में कदापि निष्ठाच्युत नहीं होते हैं।

ऐसा भी होता है, जब साधना की सिद्धि की धुन में साधक कुटिलता के मार्ग पर चल पड़ते हैं, ढोंग और आडम्बर में फंस जाते हैं। ऐसा भी होता है कि साधना के पथ पर उग्र वैर विरोध का सामना होने पर जैसे के साथ तैसा बनने की कुटिल भावना जागृत होजाती है। ऐसा भी होता है जब याजक साधनों के लिये अनुचित उपायों का आश्रय लेने लगते हैं। यह सब कुटिलता है, आत्मशिथिलता है, निष्ठाभङ्ग है, भ्रष्टता है। साधकों और याजकों को स्मरण रखना चाहिये कि पवित्र साधना की सिद्धि के लिये साधन और सहयोग अतिशय पवित्र ही होने चाहियें।

देवश्रुत दम्पती के अन्तः में अन्तर्ध्वनि उठरही है—"साधना-पथ पर अविचलता के साथ चले चलो। हमें कुटिलों के साथ कुटिलता नहीं करनी है, कुटिलता पर साधुता से विजय प्राप्त करनी है। सिद्धि कितनी भी दूर क्यों न हो, हमें साधना में शिथिलता नहीं आने देनी है। मार्ग कितना भी कण्टकाकीर्ण क्यों न हो, हमें अपनी निष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखना है। साधनहीनता कितनी भी क्यों न हो, हम निकृष्ट नीतियों और अपावन साधनों का अवलम्ब कदापि न करेंगे"।

५) (दैवश्रुती)! दोनों (स्वं गो-स्थं आ-वदतं) अपने गो-स्थ को बोलो, अपने गो-स्थ के प्रति आवदन करो।

गोष्ठ=गो+स्थ, गो-स्थान। जहां गौयें निवास करती हैं, उस स्थान को गोष्ठ कहते हैं। प्राणो हि गौः। इद्रियाणि वै गावः। प्राण से जीवन-दुग्ध का दोहन किया जाता है, अतः प्राण गौ है। इन्द्रियों से विषय-दुग्ध का दोहन किया है, अतः इन्द्रियां गौ हैं। सूर्य से प्रकाश का दोहन होता है, अतः सूर्य गौ है। चन्द्रमा से चन्द्रिका का दोहन होता है, अतः चन्द्रमा गौ है। ब्रह्म से आनन्द का दोहन किया जाता है, अतः ब्रह्म गौ है। आत्मा से चेतना का दोहन किया जाता है, अतः आत्मा गौ है। इस प्रकार गौयें अनन्त हैं और गोष्ठ भी अनन्त हैं। गोष्ठ से तात्पर्य यहां मानव के जीवन-गोष्ठ से है, जिसमें प्राण तथा इन्द्रियरूपी गौयें निवास करती हैं। प्राण से इन्द्रियों का इन्द्रियत्व है, किन्तु स्वयं प्राण का अनुप्राणन इन्द्र [आत्मा] के आश्रय से होता है। शरीर गोष्ठ है, इन्द्रियां गौ हैं, इन्द्र गोपाल है।

आ का अर्थ है समन्तात्, चारों ओर से, सब ओर से। वदन का अर्थ है बोलना, आवाज़ लगाना। जगाने और सजग सावधान करने के लिये आवदन किया जाता है। रात्रि में चौकीदार या पुलिस-मैन सब ओर घूम-घूम-कर सबको सजग सावधान करने के लिये बार बार आवदन किया करता है, आवाज़ लगाया करता है। आवदन करने से जहां अन्य लोग सजग सावधान होते हैं, वहां आवदनकर्ता स्वयं भी जागता रहता है। चौकीदार आवदन नहीं करता है तो उसे निद्रा घेर लेती है। निद्रा के वशीभूत होकर वह स्वयं सोजाता है। उसके सोजाने पर जनता भी अचेत होजाती है। चोरियां होजाती हैं।

देवश्रुत दम्पती आत्मसजगता के लिये सदा आत्मावदन करते रहें, आत्मावदन करते हुए सदा स्वयं सजग और सावधान रहें और जन-जन को चेताते रहें। अन्यथा पृथिवी के देवयजन का अनुष्ठान नष्ट भ्रष्ट होजायेगा।

सन्तत सतत निरन्तर दोनों,
आत्म-आवदन करते रहना।
अपना जीवन-गोष्ठ सर्वदा,
रखना सजग सतर्क सुपावन॥

६) दोनों अपने (दुर्ये) गृह में (देवी) दिव्यता [रखो], (आयुः मा निःवादिष्टं) जीवन मत नष्ट करो, (प्रजां मा निःवादिष्टं) प्रजा को मत नष्ट करो।

दुर्य नाम गृह का है। यहां इस शब्द का प्रयोग जीवन-गेह के अर्थ में हुआ है। पृथिवी के दिव्यी-

करण की धुन में देवयाजक और देवयाजिका कहीं अपनी स्वयं की आत्मदिव्यता को न गंवा बैठें। यह ठीक है कि आत्मसाधना के द्वारा उन्होंने अपने जीवन को दिव्य बना लिया है। किन्तु वे जानते हैं कि आत्मसाधना में यदि शिथिलता आगयी तो उनकी आत्मदिव्यता का लोप होजायेगा और उनकी सुपावन साध धरी रह जायेगी। अपनी आत्मसाधना के विषय में सजग साभ्यास रहते हुये उन्हें अपने जीवन में दिव्यता का सदा संचार करते रहना चाहिये, अन्यथा उनका स्वयं का जीवन तो नष्ट होगा ही, जन-जीवन भी भ्रष्ट होजायेगा। इसी भाव से देवश्रुत दम्पती सदा सर्वदा आत्मघोष करते रहते हैं—

सदा दिव्यता का संचारण,
निज जीवन में करते रहना।
जीवन-गेह निरन्तर अपना,
दिव्य दीप्ति से द्योतित रखना।
नष्ट न जीवन अपना करना,
भ्रष्ट न जन-जीवन को करना॥

७) दोनों (अत्र पृथिव्याः वर्ष्मन् रमेथां) यहां पृथिवी के वर्ष्म में रमण करो।

वर्ष्म नाम शरीर या देह का है। अत्र का प्रयोग पृथिवी के लिये हुआ है। अत्र से तात्पर्य है "यहां पृथिवी पर"। "पृथिवी पर पृथिवी के देह में रमण करो, रमणीयता के साथ विचरो", इस आत्मघोष में एक प्रिय सुकोमल रहस्य अन्तर्निहित है। देवयाजक और देवयाजिका का ही नहीं, हम सबका देह पृथिवी का वर्ष्म है, पृथिवी का पार्थिव पुतला है। इसमें जो कुछ है, वह सब पृथिवी के तत्त्वों से बना है। हमारे शरीर में जितने तत्त्व हैं, वे सब पृथिवी के अन्न [खाद्यों] और जल [पेयों] से प्राप्त होते हैं। देवश्रुत दम्पती कहरहे हैं—"पृथिवी हमारी माता है और हम पृथिवी माता के देह [पुतले, पुत्र] हैं। हम पृथिवी पर, किसी एक देश प्रदेश में नहीं, सम्पूर्ण पृथिवी पर, रमणीयता के साथ रमण करते हुये, पृथिवी माता का, पृथिवी माता के पुत्र-पुत्रियों का, दिव्यीकरण करते रहें।"

दोनों देवश्रुतो,
आघोष करो देवों में,
प्राची दिशा कल्पयित्री है,
दोनों चलो उसी की ओर।
पृथिवी के इस देवयजन का,
अनुष्ठान किये जाओ तुम,
निष्ठा उत्कृष्टता के साथ।
करो न निष्ठा भङ्ग कदापि,
करते रहो आवदन सन्तत,
अपने जीवनरूप गोष्ठ को।
अपने जीवनगेह देह में,
सदा दिव्यता रहो बनाये,
करो न जीवन नष्ट,
न करना भ्रष्ट प्रजा को।
रमण करो दोनों पृथिवी पर,
पृथिवी के रमणीय देह में॥

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा॥

[ऋ० १-१५४-१, अ० ७-२६-१] (य० ५/१८)

विष्णोः नु कं वीर्याणि प्र-वोचं यः पार्थिवानि वि-ममे रजांसि। यः अस्कभायत् उत्-तरं सध-स्थं वि-चक्रमाणः त्रेधा उरु-गायः विष्णवे त्वा॥

पूर्व मन्त्र में दिव्य दम्पती ने जो तरंगपूर्ण आत्मसम्बोधन किया है, उससे तरंगित हुई तरंगों को सुरक्षित रखने के लिये वे दोनों विष्णु की मही महिमा का चिन्तन और स्तवन करते हुए उसके प्रति अपना आत्मसमर्पण करते हैं।

देवयाजक कहता है, देवयाजिका कहती है—

१) मैं उस (विष्णोः) अन्तर्यामी के (वीर्याणि) पराक्रमों को तथा (कं) आनन्द को (नु) निरन्तर, प्रति क्षण (प्र-वोचं) प्रकथन-गुणगान किया करूं, (त्रेधा वि-चक्रमाणः) तीन प्रकार से विचक्रमण करते हुए (यः) जिसने (पार्थिवानि रजांसि) पार्थिव-भौतिक लोकों को (वि-ममे) निर्मित किया है, (यः उरु-गायः) जो बहु-गीय (उत्-तरं सध-स्थं) उत्-तर सह-स्थ को (अस्कभायत्) थामे-सहारे हुए है।

२) मेरे आत्मन्! मेरे जीवन्! मैं (त्वा) तुझे (विष्णवे) विष्णु के लिये, विष्णु के प्रति [सदा प्रार्पित-समर्पित रखूं]।

लोक दो प्रकार के हैं—(१) उत्-लोक और (२) उत्-तर लोक। उत् का अर्थ है उच्च, उत्कृष्ट। उत्-तर का अर्थ है उच्चतर उत्कृष्टतर। जिन लोकों में मनुष्य और पशु पक्षि आदि प्राणी निवास करते हैं और जहां प्राणियों के जीवनोपयोगी पदार्थ होते हैं, उन लोकों को उत्-लोक, पार्थिव रज अथवा पार्थिव लोक कहते हैं। जो लोक सूर्य के समान आग्नेय प्रकाशक लोक हैं, उन्हें उत्-तर सधस्थ, उत्-तर सह-स्थान, ज्योतिर्मय लोक अथवा प्रकाशक लोकों का समूह कहते हैं।

जैसाकि मन्त्र १५ की व्याख्या में व्याख्यात किया जा चुका है, सर्वव्याप्ति, सर्वज्ञता तथा अन्तःप्रेरणा—ये तीन विष्णु के विचंक्रमण अथवा विक्रमण हैं, जिनके द्वारा वह पार्थिव तथा ज्योतिर्मय लोकों का रचन और धारण, संसृजन और संचालन, निर्माण और संधारण किया करता है।

उरु=बहुत, सब। गायः=गीयः। जो बहुत गाया-स्तुता जाता है, जिसकी महिमा का गान बहुजन सर्वजन सर्वजीव करते हैं, उसी विष्णु के लिये उरुगायः विशेषण का प्रयोग हुआ है। वह विष्णु उरु-गीय है। समस्त जीव, समस्त लोक, अखिल सृष्टियां उरुगाय विष्णु की महिमा का, उसके पराक्रम का, साक्षात् सुगान गुणगान कररहे हैं।

जो उरुगाय विष्णु इस अनन्त, असीम और अपार ब्रह्माण्ड का और ब्रह्माण्डस्थ सकल लोक-लोकान्तरों का संसृजन और संधारण कररहा है, उसके पराक्रमों का क्या ठिकाना है। उसके विविध असंख्य पराक्रमों का जितना प्रकथन तथा गुणगान किया जाये, उतना ही थोड़ा है। और उस आनन्द-मय विष्णु ने इस सृष्टि में अपने आनन्द का भी तो संचार किया हुआ है। ऐसा क्यों न हो। आनन्दस्वरूप की रचना में आनन्द की व्याप्ति का होना स्वाभाविक है। उस आनन्दस्वरूप विष्णु की सर्वव्याप्ति के कारण सबमें सर्वत्र आनन्द ओतप्रोत है।

कण-कण में रमरहा है, आनन्दमय वह विष्णु।
कण-कण में इसलिये ही, आनन्द का क्षरण॥
जलचर पशु व पक्षी, आनन्द से हैं गाते।
आनन्दमय प्रभु का, आनन्दगान करते॥

पृथिवी के दिव्यीकरण की साध तब ही पूरी होगी, जब देवयजनकर्ता आनन्द-वृत्ति के साथ निरन्तर संव्यापक क्रम, विक्रम, पराक्रम करेगा। इसी भावना से भावित होकर देवयाजिका कहरही है, देवयाजक कह रहा है—जिस आनन्दस्वरूप परम पराक्रमी विष्णु के व्यापक पराक्रमों के आश्रय से यह अखिल सृष्टिक्रम चल रहा है, उसी के अवलम्ब और आश्रय से पृथिवी के देवयजन का मेरा यह सत्र संचालित रहेगा और एक दिन सम्पूर्ण भी होगा। उसके अनवरत गुणगान से मुझमें उस आनन्द-वृत्ति का तथा उन पराक्रमों का संप्रवेश होगा कि मेरा यह दिव्य यज्ञ पूरा हो सके। मैं उसके प्रति पूर्णतया समर्पित होती / होता हूं।

समर्पण महा विज्ञान है। जो जिसके प्रति समर्पित होता है, वह तद्रूप होजाता है। कोयला अग्नि में समर्पित होकर अग्निरूप होजाता है। आनन्दी और पराक्रमी विष्णु को समर्पित होकर देवयाजक आनन्दमय और पराक्रमशाली होगया है, देवयाजिका आनन्दमयी और पराक्रमशालिनी होगयी है। वे संसिद्धि के निकट से निकटतर और निकटतम होते चले जारहे हैं।

स्तुता करूं सदा विष्णु के,
पराक्रम अपि च आनन्द,
करते हुए विचक्रमण त्रेधा।
जिसने निर्मित किया,
पार्थिव सब लोकों को,
जो बहु-गीय सहारे हुए,
है सधस्थ उत्तर को।
मेरे जीवन ! मेरे आत्मन् !
सदा समर्पित रखूं तुझे मैं,
विष्णु के प्रति ॥

सूक्ति—**विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचम् ॥**

मैं निरन्तर विष्णु के पराक्रमों को
प्रकथन किया करूं ॥

दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या महो वा विष्ण उरोरन्तरिक्षात् ।
उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्र यच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा ॥
[अ० ७-२६-८] (य० ५/१९)

दिवः वा विष्णो उत वा पृथिव्याः महः वा विष्णो उरोः अन्तरिक्षात् ।
उभा हि हस्ता वसुना पृणस्व आ प्र यच्छ दक्षिणात् आ उत सव्यात्
विष्णवे त्वा ॥

सचिन्तन और सस्तवन विष्णु के प्रति अपने अपने जीवन को प्रार्पित करने के उपरान्त देवयाजिका विष्णु से प्रार्थना करती है, देवयाजक विष्णु से विनय करता है—

१) (विष्णो) हृदयरम ! तू (वा दिवः) चाहे द्यौ से, (उत वा महः पृथिव्याः) और चाहे महती पृथिवी से, (वा उरोः अन्तरिक्षात्) चाहे विशाल अन्तरिक्ष से (उभा हि हस्ता) दोनों ही हाथ (वसुना) ऐश्वर्य से (आ पृणस्व) पूरदे, भरदे।

२) (विष्णो) अन्तर्यामिन् ! (दक्षिणात् उत सव्यात्) दायें से और बायें से, दोनों ओर से (आ प्र-यच्छ) सम्पूर्णतया प्रदान कर, भर भर दे।

३) मेरे आत्मन् ! मेरे जीवन् ! मैं (त्वा) तुझे (विष्णवे) विष्णु के प्रति [सदा प्रार्पित-समर्पित रखूं]।

पृथिवी के देवयजन की, पृथिवी के दिव्यीकरण की, सुमहान् और व्यापक साध अमित साधनों की अपेक्षा रखती है। उस साध की संसिद्धि के लिये असंख्य संसिद्ध जनों की और अतुल धनैश्वर्यों की आवश्यकता होगी। कहां से आयेंगे इतने जन और इतना धन ?

पृथिवी के देवयजन की दिव्य साध विष्णु-प्रेरित साध है। स्वयं विष्णु ही अपनी इस दिव्य साध की संसिद्धि के लिये अपनी अन्तर्व्यापिनी प्रेरणा से सर्वसाधन सम्प्रदान करेगा। विष्णु के दानों को कौन रोक सकता है। वह जब देता है तो द्यौ से दिव्यता बरसती है, अन्तरिक्ष से ऐश्वर्य बरसता है और पृथिवी में से सम्पदायें सम्प्रवाहित होती हैं। उसकी जब कृपा होती है तो साधक के मस्तिष्करूपी द्यौ से दिव्यविचाररूपी ऐश्वर्य प्रवाहित होते हैं,

उसके अन्तःकरणरूपी अन्तरिक्ष से दिव्यभावनारूपी ऐश्वर्य क्षरित होते हैं और उसकी देहरूपी पृथिवी से पार्थिव ऐश्वर्यों का सुसम्पादन होता है।

देवयाजिका उसके काम के लिये उभय साधनार्थ उसीसे याचना कररही है, देवयाजक उसकी साध के लिये उसीसे जन धन की कामना कररहा है—

"विष्णो ! द्यौ से, अन्तरिक्ष से, पृथिवी से— तीनों लोकों से हमें ऐश्वर्य प्रदान करता रह। हमारे दोनों हाथ ऐश्वर्यों से भरपूर भरता रह। हमारे एक हाथ में आध्यात्मिक ऐश्वर्य भरता रह और दूसरे हाथ में भौतिक ऐश्वर्य। जन और धन—उभय सम्पदाओं से हमें सुसम्पन्न रख"।

"विष्णो ! आत्मिक बल तेरा दक्षिण हस्त है और विज्ञानबल तेरा सव्य हस्त है। श्रेय तेरा दायां हाथ है और प्रेय तेरा बायां हाथ है। अपने दोनों हाथों से हमें उभय सम्पदायें सम्प्रदान करता रह"।

"मेरे आत्मन् ! मेरे जीवन ! तू विष्णु के प्रति समर्पित रह। उसका काम वह स्वयं पूरा करायेगा"।

॥ मनुआ तू क्यों करे गुमान ॥
आप संभालेंगे निज कारज,
मंगलमय भगवान ॥
ईश बसे हैं रे सब जग में,
स्मरण रख हर आन ॥
शरणागत हो सकल कर्म कर,
चिन्ता तज नादान ॥
देह-द्वन्द्व से ऊपर उठकर,
कर "विदेह" का ध्यान ॥
हृदयरम ! चाहे तो द्यौ से,
और चाहे महती पृथिवी से,
चाहे सुविशाल अन्तरिक्ष से,
वसु से दोनों हाथ पूरदे।
अन्तर्यामिन् ! सम्प्रदान करता रह सन्तत,
दक्षिण से भी अपि च सव्य से।
मेरे जीवन ! मेरे आत्मन् !
सदा समर्पित रखूं तुझे मैं,
विष्णु के प्रति ॥
सूक्ति—**उभा हि हस्ता वसुना पृणस्व ॥**
दोनों ही हाथ ऐश्वर्य से भरदे ॥

प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥
[ऋ० १-१५४-२, अ० ७-२६-२-३] (य० ५/२०)
प्र तत् विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगः न भीमः कु-चरः गिरि-स्थाः।
यस्य उरुषु त्रिषु वि-क्रमणेषु अधि-क्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥

विष्णु से प्रार्थना करते करते अब दोनों भावनिमग्न होकर विष्णु की महिमा का चिन्तन करने लगते हैं –(भीमः कु-चरः गिरि-स्थाः मृगः न) भीम, कु-चर और गिरि-स्थ सिंह के समान (वीर्येण) वीर्य से, वीर्य के कारण (प्र-स्तवते) प्रकृष्टतया स्तुता जाता है (तत् विष्णुः) वह विष्णु, (यस्य उरुषु त्रिषु वि-क्रमणेषु) जिसके विशाल-व्यापक तीन विक्रमणों में (विश्वा भुवनानि) समस्त लोक (अधि-क्षियन्ति) अधि-निवास कररहे हैं, संस्थित हैं।

जिससे भय लगता है, जिससे भयभीत होते हैं, उसे भीम कहते हैं।

जो निर्बाध चरण, विचरण, गमन करता है, जिसकी गति का कोई निरोध या विरोध नहीं कर सकता, उसे कुचर कहते हैं।

गिरि नाम पर्वत का है। गिरि-स्था: गिरिष्ठा:। गिरि में स्थित, पर्वत पर निवास करनेवाला जो होता है, उसे गिरिष्ठ या गिरिष्ठा कहते हैं।

मृग शब्द का प्रयोग यहां सिंह [बबर शेर] के लिये हुआ है, जो अनपवादत: पर्वतीय गहन जंगल में निवास करता है।

वैदिक वाङ्मय में वीर्य नाम पराक्रम अथवा प्रबल पुरुषार्थ का है। वीर्य नाम एक शारीरिक धातु का भी है, जिसके रक्षण और वर्धन से अतुल पराक्रम और प्रबल पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। मृग सहज-ब्रह्मचारी और अमोघ-वीर्य होता है। इसी कारण वह अतिशय पराक्रमी होता है। अपने पराक्रम के कारण ही वह भीम है और कुचर है और उसी कारण वह पर्वतीय जंगलों में निर्भयता के साथ निवास करता है।

विष्णु के वीर्य का, पराक्रम का, तो ठिकाना ही क्या है। मृग का पराक्रम उसके पराक्रम के सामने क्या उपमा रखता है। वह वह अद्वितीय पराक्रमशाली है कि सर्वव्याप्ति, सर्वज्ञता तथा अन्त:प्रेरणा रूपी अपने तीन विशाल-व्यापक विक्रमणों द्वारा वह अखिल ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों को अपने भीतर धारण कररहा है। इस अनन्त असीम सृष्टि के सकल भुवन उसके सहज पराक्रम से उसमें ऐसे निवास कररहे हैं, जैसे माता के गर्भ में शिशु।

वह विष्णु अपने अनन्त अपार पराक्रम से ऐसा भीम है कि उसके व्याप्तिरूप भय से अखिल ब्रह्माण्ड अनुशासित हुआ स्वयमेव गति कररहा है।

कुचर भी वह इतना है कि कौन है, जो उसकी निर्बाध सर्वव्यापक गति का निरोध या विरोध कर सके।

और यह ब्रह्माण्ड है वह पर्वत, वह पर्वतीय जंगल, जिसमें विष्णु भगवान् बसे-व्यापे हुए हैं।

"जो अनन्त-वीर्य विष्णु अपने अनन्त पराक्रम के कारण सर्वत्र स्तुता जाता है, जिसके विशाल-व्यापक तीन विक्रमणों में समस्त लोक संसृजित और संस्थित रहते हैं, उसी के आश्रय और अवलम्ब से हमारा सार्वभौम देवयजन निस्सन्देह संसिद्ध होगा। इसमें संशय क्या!"

स्तुता जाता है वह विष्णु,
अपने पराक्रम के कारण,
भीम कुचर गिरि-वासी मृग-सम।
जिसके तीन उरु विक्रमणों में,
सारे भुवन होरहे संस्थित ॥

सूक्ति—**प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण ॥**
स्तुता जाता है वह विष्णु, पराक्रम के कारण ॥

विष्णो रराटमसि विष्णोः श्नप्त्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि
विष्णोर्ध्रुवोऽसि। वैष्णवमसि विष्णवे त्वा ॥
(य०५/२१)

विष्णोः रराटं असि विष्णोः श्नप्त्रे स्थः विष्णोः स्यूः असि
विष्णोः ध्रुवः असि। वैष्णवं असि विष्णवे त्वा ॥

विष्णु के पराक्रम के चिन्तन से देव-यजनशील दम्पती में विष्णुत्व का संचार होगया है। उनमें विश्वासात्मक एक दिव्य संबल का उदय हुआ है। अपने संबल को तोलती हुई देवयाजिका कहती है और अपने संबल को तोलता हुआ देवयाजक कहता है—

१) तुम दोनों (विष्णोः श्नप्त्रे स्थः) विष्णु के निर्मल दर्पण हो।

ष्णा शौचे। श्नप्त्र शब्द का जन्म ष्णा अथवा स्ना धातु से हुआ है, जिसका प्रयोग शौच के अर्थ में, मल को हटाकर निर्मल करने के अर्थ में, होता है।

स्नान तथा स्नात शब्दों का जन्म भी स्ना धातु से हुआ है। मनुष्य जल से अपने शरीर के मल को हटाकर अपने शरीर को निर्मल करता है, इसीसे उसे स्नान करना कहते हैं। जलप्रयोग से निर्मल हुए को स्नात कहते हैं।

इसी स्ना धातु से स्नातक और स्नातिका शब्द बने हैं। ब्रह्मचर्यपूर्वक आत्मसाधना के आश्रय से विद्यारूपी जल में स्नान करके कुमार कुमारी जब विद्यास्नात होते हैं, आत्मसाधना और विद्यास्नान से जब वे निर्मल होजाते हैं, तब वे स्नातक स्नातिका कहलाते हैं।

वैदिक वाङ्मय में श्नप्त्र शब्द का अर्थ है निर्मल दर्पण। श्नप्त्रे का अर्थ है दो निर्मल दर्पण।

मन्त्र में पठित श्नप्त्रे शब्द का प्रयोग निष्णात [नि-स्नात, नितान्त-निर्मल] मस्तिष्क [दिमाग़] और निष्णात हृदय [दिल] के लिये हुआ है।

दर्पण जब समल होता है, तो उसमें द्रष्टा को न तो अपने निज स्वरूप का दर्शन होता है, न अन्य के स्वरूप का। समल दर्पण जब निर्मल होजाता है, तब उसमें स्व पर के स्वरूप का सहज दर्शन होता है। मस्तिष्कदर्पण तथा हृदयदर्पण—दोनों दर्पणों के निर्मल होजाने पर आत्मा आत्म-अवस्थित होकर आत्मदर्शन और विष्णु का साक्षात्कार करता है।

२) मेरे मस्तिष्क ! तू (विष्णोः रराटं असि) विष्णु का प्रकाशक है। और, मेरे हृदय ! तू (विष्णोः स्यूः असि) विष्णु का दर्ज़ी है।

राट, रराट, ललाट आदि शब्द राजृ धातु के वंशज हैं, जिसका अर्थ है दीपना, प्रकाशना। रराट का अर्थ है प्रकाशक। निर्मल मस्तिष्क वह रराट है, वह प्रकाशक है, जो विष्णु के स्वरूप का प्रकाशन करता है, विष्णु के स्वरूप का बोध कराता है।

स्यू का अर्थ है सींनेवाला, वस्त्र के दो टुकड़ों को सींकर एक करनेवाला, युक्त संयुक्त करनेवाला। निर्मल हृदय वह स्यू है, जो अपने भीतर आत्मा को परमात्मा के साथ सीं देता है, आत्मा को परमात्मा के साथ युक्त करदेता है।

मस्तिष्क अधिष्ठान है बुद्धि, प्रज्ञा अथवा ज्ञान का और हृदय अधिष्ठान है स्नेह और श्रद्धा का। बुद्धि की निर्मलता से विष्णु के स्वरूप का ज्ञान होता है। हृदय की निर्मलता से हृदय में स्थित आत्मा को आत्म-अवस्थिति की प्राप्ति होती है। आत्म-अवस्थिति की सिद्धि होने पर आत्मा आत्म-दर्शन तथा विष्णु का साक्षात्कार करता है। परिणामस्वरूप साधक की समस्त हृदयग्रन्थियां खुल जाती हैं, सारे संशय निवृत्त होजाते हैं और उसका आत्मा सर्वथा संशयरहित, अकम्प, अविचल और निर्भय होजाता है। "द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्" होजाता है। इस स्थिति को प्राप्त आत्मा के लिये मन्त्र में ध्रुवः शब्द का प्रयोग किया गया है।

३) आत्मन् ! तू (विष्णोः ध्रुवः असि) विष्णु का ध्रुव है, तू (वैष्णवं असि) वैष्णव है।

जैसाकि ऊपर कहा गया है, निर्मल प्रज्ञा और विमल श्रद्धा के आश्रय से आत्मा आत्मदर्शन और विष्णु का साक्षात्कार करके ध्रुव होगया है। ध्रुव बनकर ही आत्मा वैष्णव बनता है, विष्णु का साक्षात् उपासक बनता है, विष्णु के उप [समीप] पहुंचकर विष्णु में प्रविष्ट होता है।

४) मेरे आत्मन् ! मेरे जीवन ! मैं (त्वा) तुझे (विष्णवे) विष्णु के प्रति [प्रार्पित-समर्पित करती / करता हूं]।

देवयाजिका ने भी और देवयाजक ने भी कितना सुन्दर आत्मसम्बोधन किया है—

"अनन्त-वीर्य और अनन्त-पराक्रम विष्णु के आश्रय के साथ साथ मुझे प्राप्त है निर्मल मस्तिष्क-दर्पण,

जिसके द्वारा मुझे हुआ है विष्णु का ज्ञान। मुझे सम्प्राप्त है निर्मल हृदय-दर्पण, जिसमें होरहा है मेरा आत्मा विष्णु से संयुक्त। मुझे संसिद्ध है आत्मध्रुवता। मैं हूं वैष्णव, आत्मना विष्णु को समर्पित। मेरा आत्मा है विष्णुमय, विष्णु का उपासक, विष्णु के वैष्णव गुणों से सम्पन्न। फिर क्यों न पूरा होगा पृथिवी के दिव्यीकरण का हमारा देवयजन।"

हो तुम इनप्त्र दोनों विष्णु के,
तू है विष्णु का ललाट,
और तू है स्यू विष्णु का,
तू है विष्णु का ध्रुव आत्म,
तू है वैष्णव विष्णु-उपासक।
मेरे जीवन! मेरे आत्मन्!
सदा समर्पित रखूं तुझे मैं,
विष्णु के प्रति॥
सूक्ति—वैष्णवमसि।
तू वैष्णव है॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे ऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
आददे नार्यसीदमहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि।
बृहन्नसि बृहद्रवा बृहतीमिन्द्राय वाचं वद॥ (य० ५/२२)

देवस्य त्वा सवितुः प्र-सवे अश्विनोःबाहुभ्यां पूष्णः हस्ताभ्याम्।
आ-ददे नारी असि इदं अहं रक्षसां ग्रीवाः अपि-कृन्तामि।
बृहन् असि बृहत्-रवाः बृहतीं इन्द्राय वाचं वद॥

आत्मसम्बोधन करते करते आत्मविभोर होकर देवयजनशील दम्पती परस्पर एक दूसरे को सम्बोधन करने लगते हैं।

पति कहता है—

१) देवि! तू (नारी असि) नारी है, मैं (त्वा) तुझे (देवस्य सवितुः) देव सविता के (प्र-सवे) समुत्पन्न संसार में (अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णः हस्ताभ्यां) अश्वियों के दो बाहुओं से तथा पूषा के दो हाथों से (आ-ददे) ग्रहण करता हूं।

नारी तथा नर, दोनों ही शब्द नृ नये धातु के वंशज हैं। नारी का अर्थ है नयन करनेवाली, [ले] जानेवाली, आगे बढ़ानेवाली।

जैसाकि प्रथम अध्याय के दशवें मन्त्र में व्याख्यात किया जा चुका है, (१) प्र-सव का अर्थ है प्रकृष्ट-रचना, सुन्दर संसार, (२) अश्विनोः का प्रयोग हुआ है दोनों नासिका-छिद्रों के लिये, जिनके दो बाहु [पुरुषार्थ-साधन] हैं प्राण और अपान, (३) पूषा शब्द का प्रयोग हुआ है शरीर का पोषण और पुष्टिकरण करनेवाले आत्मा के लिये, जिसके दो हस्त [हनन-गमन-साधन] हैं मन और बुद्धि, जिनके द्वारा आत्मा दुरितों का हनन [त्याग] और भद्रों का गमन [प्राप्ति] करता है।

निर्मल मस्तिष्क, विमल हृदय और ध्रुव आत्मा से युक्त अपनी पत्नी के प्रति देवयाजक ने जो यह कहा है कि "तू नारी है", इसमें जहां भावों की एक गहनता निहित है, वहां एक गूढ़ तत्त्व भी संनिहित है। एक सुयोग्य, सुलक्षणा और जीवनसम्पन्ना पत्नी सचमुच अपने पति का नयन करनेवाली, साधनापथ पर अपने पति को आगे बढ़ानेवाली, होती है। साधनापथ पर चलते हुए पग पग पर ऐसे विकट प्रसंग आते हैं और कभी कभी ऐसी विषम परिस्थितियां आती हैं कि साधक का मार्ग बिल्कुल निरुद्ध हुआ दिखाई पड़ता है। ऐसे प्रसंगों और ऐसी परिस्थितियों में नारी के सहचरण और सहगमन से साधक के संबल में वह संवेग आता है कि वह अलंघ्य विघ्नबाधाओं को अदम्यता के साथ पार कर जाता है। आपत्तियों की काली घटाओं से घिरी घड़ियों में सहचारिणी और सहगामिनी नारी की एक साहसपूर्ण मुस्कान

साधक के साहस को इतना उदात्त करदेती है कि वह कठिनाइयों की उत्ताल कठोरतम चट्टानों को अपनी ठोकर से चूर चूर करता हुआ आगे बढ़ जाता है। देवयजन के पथ पर चलते हुए कभी कभी ऐसे अवसर आते हैं कि देवयाजक सारे संसार को अपने विरुद्ध खड़ा पाता है। ऐसे अवसर पर नारी के मुख से निकला सहयोगपूर्ण एक शब्द समस्याओं का समाधान करके देवयाजक का मार्ग-नयन कर जाता है। एक आदर्श जीवन-संगिनी निस्सन्देह नारी ही होती है, पति का सुनयन करनेवाली होती है।

ऐसी नारी का ग्रहण देवयाजक ने किया है अश्वियों के प्राण और अपान रूपी दो बाहुओं से तथा पूषा के मन और बुद्धि रूपी दो हस्तों से। प्राण जीवनसंचारक है और अपान है जीवनशोधक। मन है शिव-संकल्प और बुद्धि है उपायदर्शिका। देवयाजक प्राण है और देवयाजिका अपान है। देवयाजक मन है और देवयाजिका बुद्धि है। दोनों मिलकर पृथिवी के देवयजन के प्राण- अपान हैं। दोनों मिलकर इस देवयजन के संकल्प और उद्बोध हैं। प्राण, अपान, संकल्प और बोध—इस चतुष्टय से युक्त होकर देवयजनशील दम्पती एकात्म हुए हैं। इन्हीं भावों से युक्त होकर देवयाजक ने कहा है, "प्रिये! तू नारी है। मैंने तुझे देव सविता के इस संसृष्ट संसार में अश्वियों के दो बाहुओं से और पूषा के दो हाथों से ग्रहण किया है"।

२) (इदं) यह (अहं) मैं (रक्षसां ग्रीवा: अपिकृन्तामि) राक्षसों की गर्दनों को निरन्तर काटता रहता हूं।

जैसाकि ऋ० ७-१०४-२२ में गिनाया गया है, उलूकवृत्ति [मोह], शुशुलूकवृत्ति [क्रोध], श्ववृत्ति [द्वेष], कोकवृत्ति [काम], सुपर्णवृत्ति [अहंकार], गृध्रवृत्ति [लोभ]—ये छः राक्षस हैं, जो यज्ञ को भ्रष्ट करदेते हैं। देवयजनशील दम्पती के लिये यह परम आवश्यक है कि उनकी जीवननगरियों में इन छः राक्षसों का निवास न रहने पाये। यह तब ही सम्भव होगा, जब इन राक्षसों का सर्वथा वध कर दिया जाये, इनकी गर्दनों को काट गिराया जाये। किसी भौतिक शस्त्र से इन राक्षसों का वध कदापि नहीं हो सकता। आत्मसाधना ही वह शस्त्र है, जिससे इन राक्षसों की गर्दनें काटी जाती हैं। किन्तु एक कठिनाई है कि ये राक्षस ग्रीवाविहीन हो हो कर पुन: पुन: सग्रीव होजाते हैं, मर मर कर बार बार जी उठते हैं, निराकृत हो हो कर पुन: पुन: समाकृत होजाते हैं। अतः यह आवश्यक है कि सतत साधना द्वारा इनका निरन्तर निराकरण किया जाता रहे। आत्मसाधना में तनिक भी व्यवधान अथवा शैथिल्य हुआ कि ये राक्षस पुनरुज्जीवित होजाते हैं। इसीलिये तो देवयाजक ने कहा है, "यह मैं इन राक्षसों की ग्रीवाओं को निरन्तर काटता रहता हूं"।

पत्नी सम्प्रेरणा करती है, "प्रियतम! तू (असि) है (बृहन्) वर्धमान और (बृहत्-रवाः) बृहत्-शब्द। (इन्द्राय) आत्मा के प्रति (बृहतीं वाचं वद) बृहती वाणी बोल"।

बृह वृद्धौ। बृहन् का अर्थ है वृद्धिशील, वृद्धि करनेवाला। बृहत्-रवा का अर्थ है महान् उपदेशक, हज़ारों लाखों करोड़ों की कायापलट करने की क्षमता से युक्त महान् उपदेष्टा, जन-जन के विचारों और भावनाओं का दिव्यीकरण करके उनकी आत्माओं में समाजानेवाला महान् वक्ता।

बृहती वाणी नाम है उस वाणी का, जो इस सम्पूर्ण बृहती पृथिवी को प्रभावित करने की क्षमता रखती है। वह बृहती वाणी ही है, जो इस महती मही के जन-जन की आत्मा में दिव्यीकरण की भावना को जागृत कर सकती है। दिव्य याजकों की, दिव्य जनों की, ही वाणी बृहती [व्यापनशीला] वाणी होती है। इसी भाव से अपने पति के साहस को उभारती हुई देवयाजिका कहरही है, "मेरे प्रियतम देव! तू वर्धमान है और है महान् उपदेशक। अपनी बृहती वाणी से जन-जन

को अपना दिव्य सन्देश दे। आत्मा आत्मा के प्रति दिव्य प्रचेतना का संचार कर। इस प्रकार आचार और प्रचार के आश्रय से पृथिवी का दिव्यीकरण किये चला जा"।

नारी है तू,
ग्रहण करता हूं तुझे,
देव सविता के प्रसव में,
अश्वियों के उभय बाहुओं से,
पूषा के उभय हस्तों से।
यह मैं काटता रहता हूं निरन्तर,
राक्षसों की ग्रीवाओं को।
तू है वर्धमान उपदेष्टा महान्,
इन्द्र के प्रति बोल,
वाणी बृहती॥

रक्षोहणं वलगहनं वैष्णवीमिदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्टचो यममात्यो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे समानो यमसमानो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्यां किरामि॥

(य० ५/२३)

रक्षःहनं वलग-हनं वैष्णवीं, इदं अहं तं वलगं उत्-किरामि यं मे निष्टचः यं अमात्यः नि-चखान, इदं अहं तं वलगं उत्-किरामि यं मे समानः यं असमानः नि-चखान, इदं अहं तं वलगं उत्-किरामि यं मे स-बन्धुः यं अ-सबन्धुः नि-चखान, इदं अहं तं वलगं उत्-किरामि यं मे स-जातः यं अ-सजातः नि-चखान, उत् कृत्यां किरामि॥

रक्षःहनं का प्रयोग पूर्व मन्त्र की व्याख्या में उल्लिखित छः कुवृत्तियों का हनन करनेवाले देवयाजक के लिये हुआ है।

वल संवरणे संचरणे च धातु से वलग शब्द बना है। वल धातु का प्रयोग संवरण तथा संचरण के अर्थ में होता है। संवृत [गुप्त] रूप से संचरण करता हुआ जो गमन करता है, उसे वलग कहते हैं। गुप्त रूप से षड्यन्त्र [साजिश] करके किसी के वध, विनाश, विरोध या वैफल्य के लिये जो कुकृत्य किया जाता है, उसका नाम वलग है। ईर्ष्या द्वेष के वशीभूत होकर साधु साधक के लिये जो गढ़ा, खड्डा या कुंआ खोदा जाता है, वह वलग है। साधु साधक के घात पात के लिये या उसकी साधना को विफल करने के लिये जो विष का बीज बोया जाता है, वह वलग है। वलग का ही पर्यायवाची शब्द है कृत्या। वलग-हनं का प्रयोग वलग का नाश करनेवाले देवयाजक के लिये हुआ है।

अमा का अर्थ है गृह। अमात्य का अर्थ है घर का आदमी, घर का भेदी, गृहभेदी, सलाहकार, परामर्शदाता, अन्दर के सब भेद जाननेवाला। राज्य के सब भेदों अथवा रहस्यों का ज्ञाता तथा राजा को सलाह देनेवाला होने से राजा के मन्त्री के लिये भी अमात्य शब्द का प्रयोग होता है।

उत् का अर्थ है उत्कृष्ट। किरामि का अर्थ है बिखेरता हूं। उत्-किरामि का अर्थ है उत्कृष्टता के साथ भरता हूं, भद्रता के साथ निराकृत करता हूं,

सौजन्य के साथ विसराता हूं / उपेक्षा करता हूं / लांघता हूं / उखाड़ता हूं / उछालता हूं।

पूर्व मन्त्र में देवयाजक ने कहा था, "यह मैं काटता रहता हूं निरन्तर राक्षसों की ग्रीवाओं को"। देवयाजिका कहती है, "प्रियतम देव! पृथिवी पर देवयजन करते हुए तुझे न केवल रक्षःहन रहना हैं, वलग-हन भी रहना है। रक्षः अन्तःशत्रु हैं तो वलग बाह्य बाधा है। रक्षः का हनन तुझे आत्मसाधना के द्वारा करते रहना है तो वलग का हनन तुझे वैष्णवी [वैष्णव-वृत्ति, वैष्णव-भावना] के द्वारा करते रहना है"। इसी आशय को देवयाजिका इस प्रकार प्रकट करती है—

मेरे प्रियतम देव! राक्षसों के हनन और वलग के उन्मूलन के लिये मैं तुझ (रक्षःहनं वलग-हनं) रक्षःहन्ता तथा वलगहन्ता के प्रति [कहती हूं कि राक्षसों के हनन के लिये जहां तुझे आत्मसाधना का आधार रखना है, वहां वलग के उन्मूलन के लिये तुझे (वैष्णवीं) वैष्णवी को, वैष्णववृत्ति को [अपनाये रखना है], वैष्णवभावना को [अपने हृदय में संजोये रखना है]।

वृत्तियां दो प्रकार की होती हैं—वैष्णव [व्यापक] वृत्ति, अवैष्णव [संकुचित] वृत्ति। इसी प्रकार भावनायें भी दो प्रकार की होती हैं— वैष्णव [व्यापक] भावना, अवैष्णव [संकुचित] भावना। विशाल कार्यों के लिये विशाल दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है। विशाल साधों की संसिद्धि के लिये विशाल मस्तिष्क और विशाल हृदय चाहिये। पृथिवी के देवयजन की जैसी व्यापक साधना निस्सन्देह वैष्णवी के द्वारा ही संसिद्ध होगी और इस व्यापक देवयजन के वलगों का उत्किरण अथवा उन्मूलन भी देवयाजक को वैष्णवी के द्वारा ही करना चाहिये, अन्यथा उसका देवयजन नष्ट भ्रष्ट होजायेगा।

देवयाजिका की सुन्दर प्रेरणा को स्वीकार करता हुआ देवयाजक कहता है—

१) प्रिये! वैष्णवी के द्वारा ह (अहं तं वलगं) मैं उस वलग को (इदं) यह (उत्-किरामि) भरता हूं, (यं) जिसे (मे निष्ट्यः) मेरे वंशज ने, (यं अमात्यः) जिसे सलाहकार ने (नि-चखान) खोदा है।

जब किसी भी साधक या साधिका की साधना फल लाने लग जाती है और उसकी यशःसुगन्धि सब ओर व्यापने लगती है, तो उसके अपने वंशज और उसके अपने सलाहकार ही उसके मार्ग में गढ़े खोदने लगते हैं। बाहर से वे उसके हितैषी बनते हैं और भीतर से वे उसके प्रति ईर्ष्या द्वेष की अग्नि से धधकते हैं। सदा से ऐसा ही होता चला आया है। विधाता का विधान और सृष्टि का नियम ही ऐसा है कि शुभ अनुष्ठानों में अनेक असंख्य महती बाधायें उपस्थित होती हैं। सबसे बड़ी बाधा होती है मानव हृदयों में अन्तर्निहित ईर्ष्या द्वेष की। देवयाजक को भी इन बाधाओं का साम्मुख्य करना ही होगा। सबसे प्रथम उपस्थित होनेवाली बाधा उसके अपने वंशजों और सलाहकारों द्वारा खोदे जानेवाले वलग की है। देवयाजक के लिये समुस्कान उस वलग की उपेक्षा करते हुए वैष्णव वृत्ति से अपने देवयजन में प्रवृत्त रहना ही शोभनीय है। वंशज और अमात्य द्वारा खोदे गये गढ़े से सावधानी के साथ बचकर चलते रहना, गढ़े के बदले गढ़ा न खोदना और गढ़ा खोदनेवाले के लिये विष्णु से मंगल कामना करके अपनी साधना में संलग्न रहना—देवयाजक ने अपने लिये जो यह सुनहरी नियम निर्धारित किया है, वह केवल उसकी पत्नी की प्रेरणा का ही पालन नहीं है, उसके अपने आत्मौदार्य का भी परिणाम है।

२) प्रिये! वैष्णवी के आश्रय से ही (अहं तं वलगं) मैं उस वलग को (इदं) यह (उत्-किरामि) निराकृत करता हूं, (यं) जिसे (मे समानः) मेरे समान ने, (यं असमानः) जिसे असमान ने (नि-चखान) खोदा है।

देवयाजक के मार्ग में उपस्थित होनेवाली दूसरी बाधा अपने समानों और असमानों द्वारा खोदे जानेवाले वलग की है। समानों को ईर्ष्या होती है कि यह हमसे आगे बढ़ा जारहा है। असमानों को जलन होती है कि हम इससे पीछे रहे जारहे हैं। ईर्ष्या और जलन के वशीभूत होकर वे देवयाजक के विषय में अनेक अपवाद फैलाकर कहीं उसका सामाजिक बहिष्कार कराते हैं तो कहीं उसके लिये संस्थाओं की वेदियां बन्द कराते हैं, कहीं उसके लिये घातक जाल बिछाते हैं तो कहीं उसपर विष का प्रयोग कराते हैं, कहीं उसका घेरा डालते हैं तो कहीं उसे सिंदूर खिलाते हैं। इसपर भी समान और असमान दोनों के प्रति भद्रता के साथ वर्तते हुए, सावधानी के साथ अपना बचाव करते हुए, वलग खोदनेवालों के लिये शुभ कामना करते हुए, अपनी साधना की संसिद्धि में लगे रहना—देवयाजक ने अपने लिये जो यह वैष्णवी नीति निर्धारित की है, यह केवल उसकी पत्नी की प्रेरणा का ही परिणाम नहीं है, उसकी अपनी आत्म-पवित्रता की भी परिचायक है।

३) प्रिये ! वैष्णवी के आश्रय से ही (अहं तं वलगं) मैं उस वलग को (इदं) यह (उत्-किरामि) विसराता हूं, (यं) जिसे (मे सबन्धुः) मेरे सबन्धु ने, (यं असबन्धुः) जिसे असबन्धु ने (नि-चखान) खोदा है।

देवयाजक के मार्ग में उपस्थित होनेवाली तीसरी बाधा है सबन्धुओं और असबन्धुओं द्वारा खोदा जानेवाला वलग।

जो बन्धुत्व से, भाईचारे से, सहयोग से, सहकार से, बंधा हुआ हो, उसे सबन्धु कहते हैं। जो किसी भी प्रकार से न बंधा हुआ हो, उसे असबन्धु कहते हैं।

यह संसार एक अजीब पहेली है। साधना के पथ पर सफलकाम होते हुए कभी ऐसे मोड़ आते हैं, जब अपने तपे मंजे सहयोगी भी मन्थराओं के, मलिनात्माओं के, बहकावे में आकर देवयाजक के विरोधी बन जाते हैं और विरोधियों के हाथों में खेल जाते हैं। देवयाजक की स्थिति उस समय बड़ी सुकोमल होजाती है। सबन्धु और असबन्धु मिलकर जनता में उसके प्रति भ्रम और भ्रान्तियां फैलाते हैं। इसपर भी उन सबके प्रति समुस्कान सोम्य शालीन व्यवहार करते हुए, उनके हृदयों को पुनः जीतने का सुप्रयास करते हुए, उनकी वलगवृत्ति की उपेक्षा करके, पृथिवी के देवयजन में अपनी सुपावन आहुति दिये ही चले जाना—देवयाजक ने जो यह वैष्णवी रीति निर्धारित की है, यह उसकी पत्नी की प्रेरणा का ही फल नहीं है, उसकी अपनी आत्मपरिष्कृति का भी सुफल है।

४) प्रिये ! वैष्णवी के आश्रय से ही (अहं तं वलगं) मैं उस वलग को (इदं) यह (उत्-किरामि) उपेक्षता हूं, (यं) जिसे (मे सजातः) मेरे सहोदर ने, (यं असजातः) जिसे असहोदर ने, (नि-चखान) खोदा है।

देवयाजक के मार्ग में उपस्थित होनेवाली चौथी बाधा है अपने सहोदरों और असहोदरों [सम्बन्धियों] द्वारा खोदे जानेवाले वलग की।

ऐसे भी विकट प्रसंग आते हैं कि देवयाजक की जय विजय और मान प्रतिष्ठा उसके सहोदरों और सम्बन्धियों तक को असह्य होजाती है और वे उसके सर्वनाश पर तुलकर गुप्त घातक षड्यन्त्र करते हैं। देवयाजक के लिये ये कठिन परीक्षा के प्रसंग होते हैं। इसपर भी उन सबके प्रति माधुर्य और सौजन्य के साथ वर्तते हुए, उनकी वलग-चेष्टाओं पर हंसते हुए, अपराजित हृदय से अपनी दिव्य साधना में अविचलता के साथ लगे रहना—देवयाजक ने जो यह वैष्णवी व्रत धारण किया हैं, यह उसकी पत्नी की भावना का ही आदर नहीं है, यह उसके अपने आत्मोत्कर्ष का स्वाभाविक सुप्रभाव भी है।

५) प्रिये ! वैष्णवी के आश्रय से ही मैं प्रत्येक

(कृत्यां) कृत्या, वलग, विरोध, बाधा, को (उत्किरामि) उखाड़ता / लांघता हूं।

सम्पूर्ण पृथिवी पर मानव प्रकृति लगभग समान ही है। अन्तर है भी तो केवल मात्रा का। पृथिवी के दिव्यीकरण के लिये सारी पृथिवी पर विचरते हुए देवयाजक के पथ पर जहां कहीं जो वलग, कृत्या, वैर, विरोध, विघ्न, बाधा, उपस्थित होगी, देवयाजक उसका सहन, साम्मुख्य या निराकरण वैष्णवी वृत्ति से ही करेगा, अवैष्णवी वृत्ति से नहीं।

करने दे यदि ईर्ष्या करते हैं तुझसे ईर्ष्यालु,
सहे जा यदि मूर्खता करते हैं तुझसे मूर्खालु,
कुछ न कह यदि गालियां देते हैं तुझको जनकुवाची,
शान्त हृदय से रे साधक तू किये जा काम अपना।
कर न चिन्ता मन्दबुद्धि यदि करें उपहास तेरा,
मत दुखी हो ब्रह्मद्वेषी यदि करें अपकार तेरा,
लांघता जा विघ्नसन्तोषी यदि नित विघ्न डालें,
सत्यनिष्ठा से रे साधक तू किये जा काम अपना।
दूर रह उनसे जो तेरा साहस और उत्साह तोड़ें,
सङ्ग तज उनका विपतिभय से जो तेरा मार्ग मोड़ें,
बात मत कर उनसे जो तुझसे करें निस्सार बातें,
आत्मश्रद्धा से रे साधक तू किये जा काम अपना॥
तुझ रक्षःहन और वलगंहन
के प्रति मैं सविनय कहती हूं,
यह कि वैष्णवी वृत्ति से ही,
देवयजन के पथ पर चलना।
प्रिये! वैष्णवी वृत्ति से ही,
यह उखाड़ता हूं मैं सन्तत,
निश्चय ही उस विघ्न-वलग को,
खोदा है मेरे वंशज ने
जिसे, जिसे मेरे अमात्य ने।
प्रिये! वैष्णवी वृत्ति से ही,
यह उखाड़ता हूं मैं सन्तत,
निश्चय ही उस विघ्न-वलग को,
खोदा है मेरे समान ने
जिसे, जिसे कि असमान ने।
प्रिये! वैष्णवी वृत्ति से ही,
यह उखाड़ता हूं मैं सन्तत,
निश्चय ही उस विघ्न-वलग को,
खोदा है मेरे बन्धु ने
जिसे, जिसे कि अ-सबन्धु ने।
प्रिये! वैष्णवी वृत्ति से ही,
यह उखाड़ता हूं मैं सन्तत,
निश्चय ही उस विघ्न-वलग को,
खोदा है मेरे सजात ने
जिसे, जिसे कि अ-सजात ने।
प्रिये! वैष्णवी वृत्ति से ही,
मैं उखाड़ता हूं कृत्या को॥

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा
जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा॥
(य० ५/२४)

स्व-राट् असि स-पत्न-हा सत्र-राट् असि अभिमाति-हा
जन-राट् असि रक्षःहा सर्व-राट् असि अमित्र-हा॥

स्वराट्=स्व [आत्म]+राट् [प्रकाशनेवाला] =आत्म-प्रकाश से प्रकाशनेवाला, अपने आत्म-प्रकाश से आत्मा को प्रकाशित करनेवाला।

सपत्न=स+पत्न=स+स्वामित्व। एक वस्तु पद या प्रतिष्ठा पर जब अनेक व्यक्ति अपना अपना स्वामित्व अथवा अधिकार जमाना चाहते हैं, तो उस वस्तु को हस्तगत करने के लिये जो पारस्परिक संघर्ष होता है, उसका नाम सपत्न है। एक वस्तु, पद या प्रतिष्ठा के लिये परस्पर संघर्ष करनेवाले व्यक्तियों को भी सपत्न कहते हैं। यहां सपत्न शब्द

का प्रयोग सपत्नता, स्पर्धा अथवा उस शत्रुता के लिये हुआ है, जो किसी की प्रतिष्ठा से जलन होने के कारण उत्पन्न होती है।

सपत्नहा = सपत्न + हा, सपत्नता का हनन करनेवाला, सपत्नों का नाश करनेवाला। सपत्नता के हनन से ही सपत्नों का निर्मूलन होता है, अन्यथा नहीं। शत्रुता के नाश से ही शत्रुओं का अभाव होता है। जब तक शत्रुता है, तभी तक शत्रु हैं। शत्रुता नहीं, तो शत्रु भी नहीं। मित्रता से ही शत्रुता पर विजय प्राप्त की जाती है।

सत्र नाम यज्ञ का है, उस यज्ञ का, जिसकी कभी परिसमाप्ति नहीं होती, जिसकी पूर्णाहुति कभी नहीं होती, जो सतत सन्तत निरन्तर चलता रहता है, जो वंशानुवंश चलता रहता है, जो युगानुयुग चलता रहता है और जिससे अनवरत सर्वजनों की यज्ञीयता का सम्पादन तथा संवर्धन होता रहता है। जो सत्रों में प्रकाशता है और जो सत्रों को प्रकाशित करता है, उसे सत्र-राट् कहते हैं।

अभिमाति नाम है अभिमान का और अभिमानी का। अभिमान से ही मनुष्य अभिमानी बनता है। जो अपने अभिमान का हनन करदेता है, जो अपने अभिमान का परित्याग कर देता है, उसे अभिमाति-हा कहते हैं। और जो अपने अभिमान का हनन करके निरभिमान और विनम्र बन जाता है, वह अपने विनम्र व्यवहार और शालीन आचार से अपने सम्पर्क में आनेवाले अभिमातियों [अभिमानियों] को भी निरभिमान और विनम्र बना देता है। अभिमानियों को अभिमानरहित बनाना ही अभिमानियों का वास्तविक हनन है। इसी भाव में अभिमाति-हा का अर्थ अभिमानियों का हनन करनेवाला है। जो अपने सम्पर्क, अपने शील और अपने उपदेश से अभिमानियों में से अभिमान का निराकरण करता है, वह ही सच्चा अभिमाति-हा है।

जो सर्वजनों में प्रकाशता है और सर्वजनों को प्रकाशित करता है, उसे जन-राट् कहते हैं।

जो सर्वजनों की जीवनपुरियों में से [मन्त्र २२ की व्याख्या में उल्लिखित] छः राक्षसों [कुवृत्तियों] का निर्मूलन करता है, उसे रक्षःहा कहते हैं।

जो सर्व में, सारी पृथिवी पर, प्रकाशता है और जो सबको, सम्पूर्ण पृथिवी को, प्रकाशित करता है, उसे सर्व-राट् कहते हैं।

अमित्र=अ-मित्र, नहीं मित्र। अमित्रता के कारण ही लोग किसी के अमित्र होते हैं। जो अपने मन में सबसे मित्रता रखता है और सबसे मित्रता का व्यवहार करता हैं, उसका कोई अमित्र नहीं रहता है, सब उसके मित्र होजाते हैं। जो अमित्रता का हा, हनन या परित्याग करके अपनी मित्रता से अमित्रों को मित्र बनाता है, उसे अमित्र-हा कहते हैं।

देवयाजिका कहती है—पति देव! मुझे विश्वास है, देवयजन के पथ में खोदे गये वलगों और गाढ़ी गयी कृत्याओं को तू वैष्णवी के द्वारा ही निराकृत करेगा, क्योंकि—

१) तू (स्व-राट् असि) स्व-राट् है (स-पत्न-हा) सपत्नहारी, तू शत्रुनाशक आत्म-प्रकाश है, तू आत्मप्रकाश से आत्मा-आत्मा को प्रकाशित करके सपत्नता [शत्रुता] का नाश करनेवाला है।

जो आत्मप्रकाश से युक्त होता है, वह स्वयं कभी किसी से शत्रुता नहीं करता है और यदि दूसरे लोग उससे शत्रुता करते हैं तो वह अपने आत्मप्रकाश से उनके आत्माओं को प्रकाशित करके अपने प्रति उनकी शत्रुता का निराकरण करता है। शत्रुता के बदले मित्रता करके वह अपने शत्रुओं को अपना मित्र बना लेता है।

साधना, सेवा और सुधार का पथ बड़ा विकट है। इसपर बहुश्रुत विद्वान् और त्यागी महात्मा तक देवयाजक से सपत्नता, शत्रुता, स्पर्धा करने लग जाते हैं। परन्तु देवयाजक आत्मप्रकाश से युक्त है।

"मैं अपनी ओर से किसी का शत्रु नहीं हूं। जो मुझसे शत्रुता करते हैं, प्रभु उन्हें सुमति प्रदान करे", देवयाजक की यह सुष्ठु धारणा है। उसने अपने भीतर से सपत्नता का निर्मूलन कर दिया है। वह आत्मस्नेह से जन-जन की शत्रुता का शमन करता है। वह अपने सदुपदेश और सद्व्यवहार से उनके अन्तःकरणों में आत्मप्रकाश करके उन्हें अपना प्रेमी बनाता है। वह जानता है कि शत्रुता पर शत्रुता से नहीं, मित्रता से विजय प्राप्त की जाती है।

२) तू (सत्र-राट् असि अभिमाति-हा) सत्र-राट् है अभिमाति-हारी, तू अभिमातिनाशक यज्ञ-प्रकाशक है, तू यज्ञों में प्रकाशकर और यज्ञों को प्रकाशित करके अभिमान और अभिमानियों का निराकरण करनेवाला है।

सत्र का प्रयोग यहां सतत संचालित मानवों के जीवन-यज्ञ के लिये हुआ है। देवयाजक का अपना जीवन-यज्ञ सुप्रकाशित है और अपने सुप्रकाशित जीवन-यज्ञ से वह जन-जन के जीवन-सत्रों को प्रकाशित कर रहा है। विद्या, धन, बल, पद, प्रतिष्ठा के अभिमान में चूर अभिमानी देवयाजक का तिरस्कार करेंगे, उसे सतायेंगे, उसके निकट आने और उसकी सुनने तक में अपनी हेटी समझेंगे। परन्तु देवयाजक ने तो अपने अभिमान को सर्वथा निर्मूल किया हुआ है। वह अपनी निरभिमानता तथा विनम्रता से अभिमानियों के अभिमान से न केवल अप्रभावित रहता है, अपि तु उन्हें विनम्र, शालीन और निरभिमान बनाता है और इस प्रकार वह अभिमानियों तथा अभिमान का हनन करता है। वह जानता है कि अभिमान और अभिमानियों को अभिमान से नहीं, विनम्रता और प्रेम से जीता जाता है।

वह विनम्रता और शालीनता के साथ अभिमानियों को विनम्र और शालीन बनाता हुआ उनके जीवन-यज्ञों को प्रकाशित करता चला जारहा है।

३) तू (जन-राट् असि रक्षःहा) जन-राट् है रक्षःहारी, तू राक्षसों का हनन करके जन-जन को प्रकाशित करनेवाला है।

देवयाजक जानता है कि जन-जन के जीवन का प्रकाशन अथवा दिव्यीकरण तब ही सम्भव होगा, जब उनके जीवनों में से राक्षसों का हनन अथवा निराकरण होगा। राक्षसों का हनन आत्मसाधना से सम्बन्ध रखता है। देवयाजक जन-जन को आत्मसाधना की साध में युक्त नियुक्त करके उनके जीवनों में व्यापे हुए राक्षसों का हनन कर और करा रहा है।

जैसाकि पूर्व मन्त्रों में व्याख्यात किया जा चुका है, रक्षः से अभिप्राय षड् विकारों से है। रक्षः के हनन से तात्पर्य जनजीवन को निर्विकार बनाने से है। जब तक वस्त्रों को धोकर निर्मल नहीं किया जाता है, तब तक उनपर कोई भी रङ्ग चढ़ता व खिलता नहीं है। एवमेव संसार के मानवों के जीवनों को आत्मसाधना के द्वारा निर्विकार बनाते हुए ही उनमें दिव्यता का संचार किया जा सकेगा। देवयाजक रक्षःहा जनराट् है। वह जनजीवन में व्यापे हुए राक्षसों का निराकरण करता हुआ उनका दिव्यीकरण कर रहा है।

४) तू (सर्व-राट् असि अमित्र-हा) सर्व-राट् है अमित्रहारी, तू अमित्रता का हनन करके सबको प्रकाशित करनेवाला है।

देवयाजक तो सबका मित्र है, किसी का भी अमित्र नहीं। किन्तु अभी बहुत हैं, जो उसे अपना मित्र नहीं समझ पारहे हैं। वह उन सबसे सम्पर्कित होकर, सबकी अमित्रता का निराकरण करता हुआ, सबको अपना मित्र बनाकर, सबको प्रकाशित कररहा है, सबके जीवनों में दिव्यता का संचार कररहा है, सबके जीवनों को दिव्यता से द्योतित कररहा है। सबसे अलग थलग रहकर नहीं,

सबके मध्य में रहकर सबसे हिलते मिलते हुए ही सबका सम्प्रकाशन और दिव्यीकरण किया जा सकता है, देवयाजक की यह धारणा सर्वथा सत्य, स्तुत्य तथा अनुकरणीय है।

तू स्वराद् है सपत्नहारी,
तू सत्रराद् है अभिमातिहारी,
तू जनराद् है रक्षःहारी,
तू सर्वराद् है अमित्रहारी ॥

रक्षोहणो वो वलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान्
रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवान्
रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवान्
रक्षोहणौ वां वलगहना उपदधामि वैष्णवी
रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी
वैष्णवमसि वैष्णवा स्थ ॥ (य० ५/२५)

रक्षःहनः वः वलग-हनः प्र-उक्षामि वैष्णवान्
रक्षःहनः वः वलग-हनः अव-नयामि वैष्णवान्
रक्षःहनः वः वलग-हनः अव-स्तृणामि वैष्णवान्
रक्षःहनौ वां वलग-हनौ उप-दधामि वैष्णवी
रक्षःहनौ वां वलग-हनौ परि-ऊहामि वैष्णवी
वैष्णवं असि वैष्णवाः स्थ ॥

स्वराट् सत्रराट्, आत्मप्रकाश से जीवनसत्रों को प्रकाशित करनेवाला देवयाजक पृथ्वी भर के वैष्णवों को सम्बोधन करता हुआ कहरहा है—

१) (रक्षःहनः वलग-हनः) रक्षःहन वलग-हन मैं (वः वैष्णवान्) तुम वैष्णवों को (प्र-उक्षामि) प्रकृष्टतया सींचता हूं।

छः कुवृत्तियों का हनन करके देवयाजक सुवृत्तियों से युक्त होगया है, नितान्त निर्विकार होगया है। रक्षःहनः शब्द का अपने लिये प्रयोग यहां देवयाजक ने निर्विकार के अर्थ में किया है।

वैष्णवी वृत्ति से वलगों का निराकरण करने-वाला होने से देवयाजक अहिंसाशील होगया है, अहिंसा के पालन में संसिद्ध होगया है, सर्वथा निर्वैर होगया है। वलग-हनः शब्द का अपने लिये प्रयोग यहां देवयाजक ने अहिंसाशील के अर्थ में किया है।

वैष्णवान् शब्द का प्रयोग हुआ है यहां देवयाजक के उन सहयोगी सहकारी साधकों के लिये, जो वैष्णवी वृत्ति के पालक हैं। पृथ्वी के देवयजन की साधना में देवयाजक उन देवों और देवियों का ही सहयोग और सहकार स्वीकार कर सकता है, जो उसकी अपनी वैष्णवी नीति में आत्मना विश्वास रखते हों।

उक्षामि का अर्थ है सींचता हूं। प्र-उक्षामि [प्रोक्षामि] का अर्थ है प्रकृष्टतया सींचता हूं। उक्ष धातु का अर्थ है सींचना। प्र-उक्ष [प्रोक्ष] का अर्थ है दीक्षा देना, दीक्षित करना। दीक्षा जल से ली दी जाती है। देवयजन की सुपावन साधना के दीक्षक और दीक्षित दोनों को ही जल के समान शीतल, शान्त और जीवन-संचारक होना चाहिये। इसी भावना से देवयजनार्थ वैष्णवी वृत्ति के

साधकों को स्वीकार करते हुए देवयाजक ने कहा है—निर्विकार अहिंसाशील मैं तुम वैष्णवों को प्रकृष्टतया सींचता हूं, प्रदीक्षित करता हूं।

२) (रक्षःहनः वलग-हनः वः वैष्णवान् अव-नयामि) निर्विकार सहनशील मैं तुम वैष्णवों को नीचे लेजाता हूं।

अव-नयन का अर्थ है नीचे लेजाना, नीचे उतारना, अवतरण करना, आधीन रखकर प्रशिक्षण करना, मार्गदर्शन करना, कार्यक्षेत्र में उतारना।

वैष्णवी वृत्ति के साधकों को दीक्षित करने के उपरान्त देवयाजक के लिये यह आवश्यक है कि उन्हें प्रशिक्षित करके कार्यक्षेत्र में अवतरित करे। इसी क्रम को प्रकट करते हुये देवयाजक ने कहा है—निर्विकार अहिंसाशील मैं तुम वैष्णवों को प्रशिक्षित करके कार्यक्षेत्र में अवतरित करता हूं।

३) (रक्षःहनः वलग-हनः वः वैष्णवान् अव-स्तृणामि) निर्विकार सहनशील मैं तुम वैष्णवों को आच्छादित करता हूं / फैलाता हूं / व्यापता हूं।

वैष्णवी वृत्ति के साधकों को दीक्षित, प्रशिक्षित और कार्यक्षेत्र में अवतरित करने के उपरान्त देवयाजक के लिये यह आवश्यक है कि वह उन्हें सारी पृथिवी पर आच्छादित करदे, फैलादे, व्यापदे, ताकि सम्पूर्ण पृथिवी पर निवास करनेवाले मानवों के जीवनों का व्यापक, व्यवस्थित और चिरस्थित रूप से दिव्यीकरण किया जा सकें। इसी संयोजना का व्यक्तिकरण करते हुए देवयाजक ने कहा है—निर्विकार अहिंसाशील मैं तुम वैष्णवों को व्यापता / फैलाता हूं।

वैष्णव सम्पूर्ण पृथिवी पर छा गये हैं, वैष्णवी वृत्ति के साधक-साधिकायें सम्पूर्ण पृथिवी पर व्याप गये हैं, और देवयाजक के अवनयन में तथा देवयाजिका के मार्गदर्शन में, वे सर्वत्र देवयजन कररहे हैं। प्रत्येक साधिका और साधक के हृदय में देवयाजक और देवयाजिका के प्रति अनन्य श्रद्धा और अडिग विश्वास है। दोनों को आदर्श-रूप में अपने हृदय में संजोये हुये प्रत्येक वैष्णव पदे-पदे कहता रहता है—मैं (रक्षःहनौ वलग-हनौ वां) निर्विकार अहिंसाशील तुम दोनों को (उपदधामि) समीप रखता हूं, आदर्शरूप से निकट रखता हूं। यह (वैष्णवी) वैष्णवी मर्यादा है।

दीक्षा तथा प्रशिक्षण देनेवाले अपने निर्विकार अहिंसाशील देवयागी आचार्य तथा आचार्या को श्रद्धापूर्वक आदर्शरूपेण अपने हृदय में संजोये रखना निस्सन्देह वैष्णवी मर्यादा है।

गुरुजनों के जीवनादर्श वे ज्योतिर्मय रेखायें हैं, जो संसार—सागर में कभी कहीं भटक जानेवाली जीवन—नौकाओं का मार्गनयन करती रहती हैं। देवयजनार्थ विविध केन्द्रों पर प्रस्थापित अथवा पृथिवी पर विचरते हुए वैष्णव अपने आपको निर्विकार और अहिंसाशील बनाये रखने के लिये अपने आचार्य और आचार्या के आदर्शों को सदा अपने सामने रखते हैं। माया के मोहक आकर्षणों से आकृष्ट और लुभावने प्रलोभनों से प्रलोभित होकर जब साधक-साधिकायें विचलित होने लगते हैं, तब उनके आचार्य आचार्या के सुपावन आदर्शों की निकटता [स्मृति] उनकी रक्षा करती है। इसी भावना की परिपुष्टि के लिये प्रत्येक वैष्णव कहता रहता है—मैं तुम दोनों को अपनी भावना में सदा समीप रखता हूं। विकारों के शमन और हिंसा के दमन के लिये मैं तुम दोनों को आदर्शरूपेण सदा अपने समीप रखता हूं। यह वैष्णवी मर्यादा है। मैं इसका पालन करूं।

ऐसे अवसर भी आते हैं कि देवयजनार्थ विविध स्थानों में संस्थित और विविध प्रदेशों में विचरते हुए वैष्णवों के मानसों में अपने यजन [मिशन] के प्रति संशय उत्पन्न होने लगते हैं। उन्हें चाहिये कि इस प्रकार उत्पन्न हुए अपने संशयों को वे मौखिक या लिखित अविलम्ब अपने आचार्य आचार्या के सम्मुख उपस्थित करके उनकी निवृत्ति करालें, अन्यथा

संशयों के पनपते रहने से साधक साधिका लक्ष्य-विमुख होजाते हैं। इस स्थिति से बचे रहने के लिये संशय उत्पन्न होने पर प्रत्येक वैष्णव, मौखिक या लिखित, अपने आचार्य आचार्या से निवेदन करता है—संशयनिवृत्ति के लिये जिज्ञासाभाव से मैं (रक्षः-हनौ वलग-हनौ वां) निर्विकार अहिंसाशील मैं तुम दोनों को (परि-ऊहामि) वितर्कता हूं, प्रश्न करता हूं। यह (वैष्णवी) वैष्णवी मर्यादा है। इस मर्यादा का पालन करता हुआ मैं अपनी शंकायें तुम्हारे सामने रखता हूं।

इस शिष्ट मर्यादा से प्रसन्न होकर आचार्य आचार्या प्रत्येक वैष्णव साधक से कहते हैं—"तू (वैष्णवं असि) वैष्णव है। मैं तेरी इस वैष्णवी शालीनता से सम्यक् सन्तुष्ट हूं।

सभी वैष्णवों के इस शिष्ट मर्यादापालन से सन्तुष्ट होकर आचार्य आचार्या समस्त वैष्णवों को सम्बोधन करते हुए कहते हैं—तुम सभी (वैष्णवाः स्थ) वैष्णव हो। मैं तुम्हारी इस वैष्णवी शालीनता से अतिशय प्रसन्न हूं।

रक्षःहन और वलग-हन मैं,
सींचता हूं तुम वैष्णवों को।
रक्षःहन और वलग-हन मैं,
करता हूं तुमको प्रशिक्षित।
रक्षःहन और वलग-हन मैं,
व्यापता हूं तुम वैष्णवों को।
रक्षःहन वलग-हन मैं, तुम
दोनों को रखे रहता हूं,
अपने निकट निरन्तर सन्तत,
वैष्णवी मर्यादा है यह।
रक्षःहन वलग-हन मैं, तुम
दोनों को वितर्कता रहता,
जिज्ञासानिवृत्ति-हेतु ही,
वैष्णवी मर्यादा है यह।
तू है वैष्णव,
तुम हो वैष्णव ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
आ ददे नार्यसीदमहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि। यवोऽसि
यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीर्दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै
त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि ॥
[य० ५/२२, ६/१, ३७/१] (य० ५/२६)

देवस्य त्वा सवितुः प्र-सवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णः हस्ताभ्याम्।
आ-ददे नारी असि इदं अहं रक्षसां ग्रीवाः अपि-कृन्तामि।
यवः असि यवय अस्मत् द्वेषः यवय अरातीः दिवे त्वा अन्तरिक्षाय।
त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्तां लोकाः पितृ-सदनाः पितृ-सदनं असि ॥

त्रिगुणावृत यह संसार एक मोहिनी माया है, एक खूबसूरत बला है। सामान्यतः प्राणी अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टायें करते हैं। इधर सर्वहितरत देवयजनशील दम्पती वैष्णवों सहित अपनी सार्वभौम साध में संलग्न हैं। उधर उनकी सफलता तथा मान प्रतिष्ठा से चिड़कर विघ्नसन्तोषियों के हृदयों में द्वेष की ज्वालायें धधक रही हैं। वे उस देवदम्पती की साधना को ध्वस्त करने के लिये नाना प्रकार के द्वेषपूर्ण षड्यन्त्र कररहे हैं। कहीं वे उनके विरुद्ध मिथ्या अपवाद और निराधार

लाञ्छन लगा रहे हैं तो कहीं वे उनके अमूल्य जीवनों को समाप्त करने के व्यासंग में लगे हुए हैं। साधना के पथ को सहसा निरुद्ध पाकर देवयाजक अपनी सहचारिणी से कहता है—

१) देवि ! तू (नारी असि) नारी है, मेरा मार्ग-नयन करनेवाली है। मैं (त्वा) तुझे (देवस्य सवितुः प्र-सवे) देव सविता के समुत्पन्न संसार में (आ-ददे) ग्रहण-आश्रय करता हूं, (अश्विनोः बाहुभ्यां) दो नासिकाछिद्रों के प्राण और अपान रूपी दो बाहुओं से तथा (पूष्णः हस्ताभ्यां) आत्मपूषा के मन और बुद्धि रूपी दो हाथों से।

[व्याख्या देखिये मन्त्र २२ के नीचे]

२) (इदं अहं रक्षसां ग्रीवाः अपि-कृन्तामि) यह मैं राक्षसों की गर्दनों को निरन्तर काटता रहता हूं।

[व्याख्या देखिये मन्त्र २२ के नीचे]

नासिकाछिद्रों द्वारा प्राण और अपान के समान दोनों सतत सन्तत निरन्तर साधना कररहे हैं। मन के शिव-संकल्प और बुद्धि की पुनीत प्रज्ञा से युक्त तथा निर्विकार और अहिंसाशील रहते हुए वे दोनों विश्वकल्याण में निरत हैं। नितान्त निरपराध होते हुए भी वे द्वेषियों द्वारा सताये और पीड़ित किये जारहे हैं। अपने पति का उत्साहवर्धन और मार्ग-दर्शन करती हुई देवयाजिका कहती है—

१) तू (यवः असि) यव है, (अस्मत्) हमसे, सबसे, सर्वजनों से (द्वेषः यवय) द्वेषों को दूर कर, (अरातीः यवय) अरातियों को दूर कर।

यु अमिश्रणे मिश्रणे च। यु धातु का अर्थ है पृथक् करना और मिलाना, तोड़ना और जोड़ना। यवः का अर्थ है अलग सलग करनेवाला, तोड़ने जोड़ने वाला। अलग को सलग करनेवाला, टूटे को जोड़नेवाला, बिछुड़े को मिलानेवाला जो होता है, उसे यवः कहते हैं।

द्वेषः के दो अर्थ हैं—द्वेषों को, द्वेषियों को। द्वेषभावों से ही द्वेषियों की उत्पत्ति होती है। द्वेषों तथा द्वेषभावों को भगाने से ही द्वेषियों का निराकरण होता है, द्वेषियों के हटाने या मिटाने से नहीं।

अरातीः नाम शत्रुताओं, शत्रुओं, अदानों और अदानियों का है। शत्रुता से ही शत्रुओं की उत्पत्ति होती है। शत्रुताओं के मिटाने से ही शत्रुओं का निराकरण होता है, शत्रुओं को हटाने या मिटाने से नहीं। शत्रुता में ही अदानता है। मित्रता में दानता है। शत्रुओं से सहकार, सहयोग पाना है, तो उन्हें मित्र बनाना होगा। अदानियों को दानी बनाना है, तो उनके मन से शत्रुताओं का निर्मूलन करना होगा।

देवी, सच्ची देवी, अच्छी देवी अपने प्रियतम देव को कितनी सुन्दर प्रेरणा कररही है—देव ! स्वयं निर्विकार और अहिंसाशील होने से ही काम न चलेगा। साधना के पथ को नितान्त निष्कण्टक बनाने के लिये द्वेषियों के हृदयों में से द्वेषों का निराकरण करके उन्हें अपना सहयोगी बना, शत्रुओं के हृदयों में से शत्रुताओं और अदानताओं को निकालकर उन्हें अपना मित्र और दाता बना।

२) (पितृ-सदनाः लोकाः) पितृ-सदन लोक (त्वा) तुझे (दिवे) द्यौ के लिये, (त्वा) तुझे (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष के लिये, (त्वा) तुझे (पृथिव्यै) पृथिवी के लिये, (शुन्धन्तां) शुद्ध करें।

देवा वा एते पितरः। ये पितरः देव हैं। दिव्यताओं का नाम पितरः हैं। सदन का अर्थ है गृह, स्थान, धाम। दिशो लोकाः। आलोक से आलोकित होने से दिशायें लोक हैं। दिव्यताओं का सदन हैं ये दिशायें। दिव्यताओं को धारण करनेवाली हैं ये दिशायें।

पवित्रता की महिमा अकथनीय है। जो जितना पवित्र होता है, उसकी उतनी ही व्याप्ति होती है। विज्ञानविशारदों ने सिद्ध किया है कि जो मनुष्य जितना पवित्र, एकाग्र और सशक्त होता है, उसके विचारों और भावनाओं की गति उतनी ही तीव्र होती है। एक पूर्ण स्वस्थ, पवित्र, एकाग्र और

सशक्त व्यक्ति के विचारों की गति प्रति सैकिंड सड़सठ लाख बीस हज़ार [६७,२०,०००] मील और उसकी भावनाओं की गति प्रति सैकिंड इक्यासी लाख [८१,००,०००] मील होती है। यदि उस व्यक्ति के जीवन में दिव्यता भी संनिहित हो, तो उसके दिव्य विचारों और उसकी दिव्य भावनाओं की गति का तो ठिकाना ही क्या। वह तो अपने दिव्य विचारों और अपनी दिव्य भावनाओं की लहरियों से पृथिवी का ही क्या, द्यौ लोक और अन्तरिक्ष लोक का भी पूतीकरण तथा दिव्यीकरण कर सकता है। तभी तो देवयाजिका सम्प्रेरणा कर रही है—प्रियतम देव! द्वेषों और शत्रुताओं से नितान्त विनिर्मुक्त रहता हुआ तू दिव्यताओं से पूरित समस्त दिशाओं की दिव्यताओं से ऐसा शुद्ध सुपूत रह कि न केवल पृथिवी पर, अपि च अन्तरिक्ष और द्यौ में भी तेरी दिव्यता और पवित्रता व्याप जाये।

३) तू (पितृ-सदनं असि) पितृ-सदन है, तू दिव्य धाम है, तू दिव्यताओं का पुञ्ज है, तू दिव्यताओं और पवित्रताओं का आगार है।

तू स्व-रूप से दिव्य-धाम है ही, आत्म-साधना द्वारा समस्त दिशाओं की दिव्यताओं से सुपूत होकर तू अखिल सृष्टि का दिव्यीकरण कर।

नारी है तू,
ग्रहण करता हूं तुझे,
देव सविता के प्रसव में,
अश्वियों के बाहुओं से,
और पूषा के हाथों से।
यह मैं काटता रहता हूं निरन्तर,
राक्षसों की ग्रीवाओं को।
यव है तू,
कर दूर तू हमसे,
द्वेषों और शत्रुताओं को।
दिव्य-धाम ये सकल दिशायें,
रहें शोधती तुझे निरन्तर,
दिवे अन्तरिक्षाय पृथिव्यै॥

उद्दिवं स्तभानान्तरिक्षं पृण दृंहस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा। ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि। ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंहायुर्दृंह प्रजां दृंह॥ (य० ५/२७)

उत् दिवं स्तभान आ अन्तरिक्षं पृण दृंहस्व पृथिव्यां द्युतानः त्वा मारुतः मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा। ब्रह्म-वनि त्वा क्षत्र-वनि रायःपोष-वनि परि-ऊहामि। ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंह आयुः दृंह प्रजां दृंह॥

दिव् [द्यौ] का प्रयोग यहां मस्तिष्क के लिये हुआ है। विचाररूपी नक्षत्रों का द्युतिस्थान होने से मस्तिष्क दिव् [द्यौ] है।

अन्तरिक्ष का प्रयोग हुआ है यहां हृदय के अर्थ में। अन्तरिक्ष = अन्तः + इक्ष। ईक्ष दर्शने। विचार-पूर्वक अथवा ध्यानपूर्वक देखने के अर्थ में ईक्ष धातु का प्रयोग होता है। ध्यान द्वारा समाहित होने से हृदय में आत्मा और परमात्मा का ईक्षण अथवा दर्शन होता है। इससे हृदय अन्तरिक्ष है।

मरुत् नाम पवन का है। मारुतः शब्द का प्रयोग हुआ है यहां पवन के वेग के समान आत्म-वेग के अर्थ में।



प्रत्यक्षतः यहां ब्रह्म का प्रयोग हुआ है ज्ञान अथवा विवेक के लिये, क्षत्र का प्रयोग हुआ है पराक्रम अथवा क्षमता के लिये, और रायस्पोष का प्रयोग हुआ है आत्मैश्वर्य को पुष्टि अथवा आत्मसंबल के लिये।

अपने पति के उत्साहवर्धन को जारी रखती हुई देवयाजिका कहे चली जारही है—

१) देव ! जन-जन के (दिवं) द्यौ को, मस्तिष्क को (उत्-स्तभान) उत्स्थ करदे, उघाड़ दे, खोल दे।

द्वेषों और द्वेषगत शत्रुताओं की परवाह न कर। द्वेषियों और शत्रुओं की चिन्ता न कर। अपने उच्च विचारों के दान सम्प्रदान से जन-जन के मस्तिष्क को उत्स्थ [उच्चस्थ, ऊंचा] करदे। अपने सही, सत्य और प्रखर विचारों के दान सम्प्रदान से जन-मस्तिष्क पर ढके अज्ञानजन्य कूपमण्डूकता के ढक्कन को उघाड़ दे। अपने द्योतित दिव्य विचारों के संघर्ष से मानव-मस्तिष्क की विवेकरश्मियों तथा ज्ञानकिरणों की बन्द खिड़कियों को खोल दे, द्योतित करदे। जन-मस्तिष्क जब उत्स्थ, प्रखर और द्योतित होगा, जनता के विचार जब उच्च, प्रखर और प्रकाशित होंगे, तब सारी जनता तेरे साथ होगी, तब द्वेषियों के द्वेषों का स्वयमेव उपशमन होजायेगा और शत्रुओं की शत्रुता स्वयमेव समाप्त होजायेगी। द्वेषियों के द्वेष और शत्रुओं की शत्रुतायें तभी तक हैं, जब तक जनमत तेरे साथ नहीं है। जनजागरण के साथ जब जनमत तेरे साथ होगा, तब अनायास ही तेरे द्वेषी तेरे सहयोगी बन जायेंगे और तेरे शत्रु तेरे मित्र होजायेंगे।

२) देव ! जन-जन के (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष को, हृदय को (आ-पृण) पूरदे, भरदे, आपूर-आप्लावित करदे।

जन-मस्तिष्क के उत्स्थन के साथ साथ जन-हृदय का भावना से आपूरण और आप्लावन भी कर। अपने देवयजन के प्रति, अपनी सुपावन दिव्य साधना के लिये, जन-जन के अन्तरिक्ष में, मानव के हृदय में, अमित श्रद्धा, निष्ठा, आस्था और विश्वास भरदे। हृदय भावना का अधिष्ठान है। जिस हृदय में भावना होती है, उसी हृदय में श्रद्धा, निष्ठा, आस्था और विश्वास का निवास होता है।

३) जनमत और जनभावना के सम्पादन के लिए तू (पृथिव्यां द्युतानः) पृथिवी पर प्रकाशता हुआ (दृंहस्व) वर्धन कर।

अपनी द्युतियों से द्योतित होता हुआ तू सम्पूर्ण पृथिवी का द्युतिकरण कर, द्युतिवर्धन कर, पृथिवी की सम्पूर्ण मानव-प्रजा में द्युति द्योतित कर। द्योतित और ज्योतिष्मान् होकर ही मानव-प्रजा तेरी साधना के महत्त्व को समझ पायेगी और तब ही तुझे जनमत की प्राप्ति तथा जनभावना की उपलब्धि होगी। तब ही जनबल और जनानुमोदन तेरी पृष्ठ पर होगा।

४) देव ! सम्पूर्ण पृथिवी की मानव-प्रजा को द्योतित ज्योतित करके जनमत और जनभावना पर अधिकार करना निस्सन्देह समय और श्रम की अपेक्षा रखता है, किन्तु साहस और साधना के सामने कोई भी साध असम्भव नहीं है। तेरा (मारुतः) वायु-वेग, आत्म-संवेग (त्वा) तुझे (मिनोतु) प्रक्षेपे, फेंके, उछाले। तुझे (मित्रावरुणौ) प्राण और अपान (ध्रुवेण धर्मणा) ध्रुव धर्म से [धारित रखें]।

वायु का प्रबल वेग जिस प्रकार पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान को उड़ा लेजाता है, उसी प्रकार तेरा आत्म-संवेग तुझे सम्पूर्ण पृथिवी पर घुमाये। धाम-धाम और जन-जन को द्योतित और ज्योतित करता हुआ तथा जनमत और जन-भावना पर अधिकार करता हुआ, तू सम्पूर्ण पृथिवी पर विचर।

प्राण और अपान जिस प्रकार निर्विश्राम, निर्विषय और निर्विकार रहते हुए, ध्रुवता के साथ अनवरत गति करते हुए, प्राणी के जीवन का सतत

सन्तत निरन्तर रक्षण और निर्वहन करते हैं, उसी प्रकार तू भी निर्विश्राम, निर्विषय और निर्विकार रहता हुआ ध्रुवता के साथ अनवरत अपने देवयजनरूपी सुपावन धर्म की संसाधना में सन्नद्ध रह।

५) देव! मैं (ब्रह्म-वनि क्षत्र-वनि रायःपोष-वनि त्वा) ब्रह्म-सेवी क्षत्र-सेवी तथा आत्मैश्वर्य की पुष्टि के सेवन करनेवाले तुझे (परि-ऊहामि) सर्वतः वितर्कती हूं, सर्वतः विश्वास दिलाती हूं।

तू ब्रह्म-वनि है, विवेक-सेवी है, विवेक का सेवन करनेवाला है, विवेकी है। तू क्षत्र-वनि है, क्षमता-सेवी है, क्षमता का सेवन करनेवाला है, सक्षम है। तू रायस्पोष-वनि है, आत्मसंबल-सेवी है, आत्मसंबल का सेवन करनेवाला है, आत्मसंबलोपेत है। मैं तुझ विवेकी, सक्षम और आत्मसंबली को विश्वास दिलाती हूं कि अपने विवेक, अपनी क्षमता और अपने आत्मसंबल के आश्रय से तू द्वेषशत्रुताजन्य सकल विघ्नबाधाओं को पार करके अपनी सुपावन साधना में सफलकाम होगा और अवश्य होगा।

६) विवेकिन्! अपने (ब्रह्म) ब्रह्म को, विवेक को (दृंह) बढ़ा।

प्रियतम! हतोत्साहित न हो। अपने विवेक को संभाल। अपने विवेक-दीप को उत्तरोत्तर प्रज्वलित करता जा और अपने विवेक-दीप के प्रज्वलित प्रकाश में अपनी दिव्य साधना के पथ को प्रशस्त करता रह।

७) क्षत्रपते! अपने (क्षत्रं) क्षत्र को, क्षमता को (दृंह) बढ़ा।

प्रियतम! निरुत्साहित न हो। अपने क्षत्र का, अपने पराक्रम का, अपनी क्षमता का उत्तरोत्तर संवर्धन करता जा और अपनी वृद्धिगत क्षमता पर संस्थित होकर अपनी सुपावन साधना की संसिद्धि के लिये अधिकाधिक पुरुषार्थ, प्रयत्न और प्रयास किये चला जा।

८) आयुष्मन्! अपने (आयुः) आयुष्य को (दृंह) बढ़ा।

प्रियतम! यह ठीक है कि कार्य बहुत है, साधना अनन्त है, और समय थोड़ा है। आयु का पर्याप्त भाग व्यतीत होगया और द्वेषशत्रुताजन्य विघ्न-बाधाओं के कारण अभी कार्य बहुत थोड़ा होपाया है। तो अपने आयुष्य को बढ़ा। विवेक और क्षमता से सम्पन्न रहता हुआ तू सौ वर्ष जी, दो सौ वर्ष जी, तीन सौ वर्ष जी, चार सौ वर्ष जी, पांच सौ वर्ष जी, हज़ार वर्ष जी। तेरी साधना इतनी उदात्त है कि उसकी संसिद्धि के लिये एक अतिशय दीर्घ सुदीर्घ आयुष्य की प्रत्यक्षतः आवश्यकता है।

९) प्रजाप्रिय! जनप्रिय! (प्रजां) प्रजा को, जनता को (दृंह) बढ़ा।

प्रियतम! आयुष्मान् होता हुआ तू प्रजा को बढ़ा, जनता की उन्नति कर। तू उन्हें जितना उन्नत करेगा, जनता से जन धन के रूप में उतने ही प्रचुर साधन तुझे सम्प्राप्त होते रहेंगे।

द्यौ को उत्स्थ कर,
अन्तरिक्ष को पूर।
पृथिवी पर प्रकाशता हुआ,
कर द्युति का प्रसार।
मारुत प्रक्षेपे तुझे,
ध्रुव धर्म से धारित रखें,
तुझे प्राण अपान।
तुझ ब्रह्म-वनि क्षत्र-वनि,
रायस्पोष-वनिको,
सर्वतः वितर्कती हूं मैं।
ब्रह्म को बढ़ा,
बढ़ा क्षत्र को,
आयु को बढ़ा,
बढ़ा प्रजा को॥

सूक्ति—उद्दिवं स्तभान।
मस्तिष्क को उत्स्थ कर॥

अन्तरिक्षं पृण ।	**ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंहायुर्दृंह ।**
हृदय को पूर ॥	विवेक बढ़ा, क्षमता बढ़ा, आयु बढ़ा ॥
त्वा मारुतो मिनोतु ।	**प्रजां दृंह ।**
तुझे आत्मसंबल तीव्र करे ॥	जनता को बढ़ा [समुन्नत कर] ॥

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात् ।
घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया ॥

(य० ५/२८)

ध्रुवा असि ध्रुवः अयं यजमानः अस्मिन् आ-यतने प्रजया पशुभिः भूयात् ।
घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथां इन्द्रस्य छदिः असि विश्व-जनस्य छाया ॥

आ-यतन का अर्थ है आने जाने का स्थान । सब प्राणी जहां आते हैं और कुछ दिन ठहर कर जहां से चले जाते हैं, उस आने जाने के स्थल इस संसार का नाम आयतन है ।

पशवो वै वसु । वैदिक वाङ्मय में पशु शब्द का प्रयोग न केवल जानवर के अर्थ में, अपि तु वसु [सम्पदा], पृथिवी, प्राण, आत्मा, श्री, यश, शान्ति तथा ज्ञानी के अर्थ में भी हुआ है । भौतिक सम्पदाओं में आदि सम्पदा पशु ही है । सृष्टि के आदि में मानव ने सर्वप्रथम पशु को ही सम्पदा के रूप में अपनाया और फिर पृथिवी को । प्राण आयु की सम्पदा है । आत्मा जीवन की सम्पत्ति है । श्री, यश और शान्ति भी मानव के मानस की अमूल्य सम्पत्ति है । ज्ञानी भी राष्ट्र और विश्व की बहुमूल्य सम्पदा है । पश्यतीति पशुः । जो देखता है, तत्त्व को पहंचानता है, वह पशु है । इस निरुक्ति के अनुसार पशु का अर्थ ज्ञानी किया जाता है । प्रजा और सम्पदा का प्रत्यक्षतः परस्पर सम्बन्ध है । कोई भी सार्वजनिक साधना तब ही सिद्ध होती है, जब प्रजा [जनता] और सम्पदा [धन] दोनों साधनों की सम्प्राप्ति होती है । प्रथम साधन प्रजा अथवा जनता ही है । प्रजा अथवा जनता जब साधक का साथ देती है, तो अनायास ही जनता से धन की प्राप्ति होती रहती है । प्रजा और पशु का प्रयोग यहां जनता और सम्पदा के योग में हुआ है ।

घृत अतिशय स्निग्ध होता है । वेदों में घृत शब्द का प्रयोग प्रायः स्निग्धता, स्नेह, अतिप्रेम तथा प्रियता के अर्थ में हुआ है ।

देवयाजिका पत्नी की उत्प्रेरणाओं से उत्प्रेरित हुआ देवयाजक जनमस्तिष्क को उत्स्थ करता हुआ जनमत प्राप्त करता चला जारहा है, जनहृदय को आप्लावित करता हुआ जनभावना को जागृत करता चला जा रहा है, अपने दिव्य गुणों से जगमगाता हुआ पृथिवी-भर की मानव प्रजा को ज्योतिष्मान् करता चला जारहा है, मारुत आत्म-संवेग के साथ साधनापथ पर सर्वतः बढ़ा चला जारहा है, प्राण और अपान के समान निर्विश्राम, निर्विषय और निर्विकार रहता हुआ सन्नद्धता के साथ अपनी सुदिव्य साध में सन्नद्ध है । अपने विवेक, अपनी क्षमता और अपने आयुष्य को बढ़ाता हुआ वह प्रजा को प्रचेतित और समुन्नत करता चला जारहा है । और देवयाजिका छाया के समान उसका अनुगमन करती हुई न केवल उसका साथ देरही है, अपि च अनवरत उसे उत्प्रेरित करती हुई तत्परता के साथ उसका सर्वतः मार्ग प्रशस्त कर रही है, पग सपग चलती हुई कन्धे से कन्धा भिड़ाकर ध्रुवता के साथ उसकी साध की संसिद्धि में सक्रिय सहयोग देरही है ।

दोनों की कीर्ति जन-जन के कानों में पहुंच चुकी है । वे जहां भी जारहे हैं, जहां भी पहुंच रहे हैं, वहीं उनका जनाभिस्तवन होरहा है, सार्वजनिक

रूप से उनका अभिनन्दन किया जारहा है।

देवयाजिका को सम्बोधन कर कर के कहा जारहा है—देवयाजिके! तू (ध्रुवा असि) ध्रुवा है, निश्चला है। तेरी ध्रुवता से, तेरे ध्रुव सहयोग से, तेरी ध्रुव प्रेरणा से (अयं यजमानः) यह यजमान, देवयजन करनेवाला तेरा यह देवयाजक पति (अस्मिन् आयतने) इस आयतन में, इस संसार में (प्रजया पशुभिः) प्रजा तथा पशुओं से, जनता तथा सम्पदाओं से, जनमानव तथा ऐश्वर्यों से (ध्रुवः भूयात्) ध्रुव होवे, सम्पन्न रहे।

अब दोनों को एक साथ सम्बोधन कर कर के सर्वत्र कहा जारहा है—तुम दोनों (घृतेन) घृत से, आत्मस्नेह से, अन्तः-प्रेम से (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी को (पूर्येथां) पूर दो, व्याप दो। द्यौ और भू को, ज़मीन और आस्मान को, अपने-प्रेम से आप्लावित करदो, इतना प्रेमाप्लावित कि सारा संसार तुम्हारे प्रेम से तुम्हारे प्रति आकृष्ट होकर तुम्हारा होजाये, तुम्हारे रंग में रंग जाये और तुम्हारी साध के महत्त्व को समझकर तुम्हारा प्रेमी, सहायक, सहयोगी तथा अनुगामी बन जाये।

कभी वे देवयाजक से कहते हैं—देवयाजक! तू (इन्द्रस्य छदिः असि) आत्मा का छदि है, आत्मा का छत है।

छत के नीचे जिस प्रकार प्रत्येक जन ताप और धूलि से सुरक्षित होकर विश्राम पाता है, उसी प्रकार तू अपने आत्मघृत से आत्मा-आत्मा का आराम बन गया है।

कभी वे देवयाजिका से कहते हैं—देवयाजिके! तू (विश्व-जनस्य छाया असि) विश्व-जन की छाया है।

जिस प्रकार वृक्ष की छाया में बैठकर सब प्राणी सूर्य के आतप से त्राण पाते हैं, उसी प्रकार विश्व के सब जन तेरे सुपावन आत्मघृत से आत्म-शान्ति तथा आत्मसन्तोष की अनुभूति अनुभव करते हैं।

तू ध्रुवा है,
रहे ध्रुव सन्तत,
इस जगती में,
यह यजमान,
प्रजा सम्पदाओं से।
रहो पूरते घृत से दोनों,
द्यौ और पृथिवी को।
आत्म-आत्म का छदि है तू,
तू विश्व-मनुज की छाया॥

परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः।
वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः॥
[ऋ० १-१०-१२] (य०५/२९)

परि त्वा गिर्वणः गिरः इमाः भवन्तु विश्वतः।
वृद्ध-आयुं अनु वृद्धयः जुष्टाः भवन्तु जुष्टयः॥

देवयाजक का अभिस्तवन करते हुए प्रजा उसके लिये शुभ कामना करती है—(गिर्वणः) स्तुत्य! वन्द्य! तेरे लिये की गयीं हमारी (इमाः) ये (गिरः) वाणियां, प्रार्थनायें (विश्वतः त्वा परि भवन्तु) सर्वतः तुझे परिभवन करें, तेरे लिये सर्वतः सफलीभूत होती रहें। हमारी प्रभु से प्रार्थना है कि (त्वा वृद्ध-आयुं) तुझ वृद्धायु-आयुष्मान् को (वृद्धयः जुष्टयः) वृद्धियां और प्रीतियां (जुष्टाः अनु भवन्तु) सप्रेम सेवित होती रहें।

जो जन-सेवा करता है, जनता उसके लिये सदा ही प्रभु से प्रार्थना तथा शुभ कामना करती है। फिर देवयाजक की जन-सेवा तो साधारण नहीं, परम कल्याणकारिणी असाधारण जन-सेवा है। उसके लिये तो जन जन की शुभ कामनाओं तथा प्रार्थनाओं का होना स्वाभाविक ही है। देवयाजक के लिये उनके अन्तःकरणों से अनायास ही यह प्रार्थना हो रही है कि देवयाजक आयुष्मान् हो, दीर्घजीवी हो, सब प्रकार की वृद्धियां सदा उसका चरण-चुम्बन

करती रहें और सर्वजनों की हार्दिक प्रीतियां उसके द्वारा संसेवित रहें।

गिर्वणः ! ये प्रार्थनायें,
सर्वतः संव्यापती,
तुझको रहें सन्तत निरन्तर।

वृद्धियां और प्रीतियां,
तुझ वृद्ध-आयु को रहें,
सेवित सतत सन्तत निरन्तर ॥

सूक्ति—**जुष्टा भवन्तु जुष्टयः ॥**
प्रीतियां प्रीतियुक्त हों।

इन्द्रस्य स्यूरसीन्द्रस्य ध्रुवोऽसि ।
ऐन्द्रमसि वैश्वदेवमसि ॥ (यo ५/३०)
इन्द्रस्य स्यूः असि इन्द्रस्य ध्रुवः असि ।
ऐन्द्रं असि वैश्व-देवं असि ॥

देवयाजक का अभिस्तवन जारी रखते हुए प्रजा कह रही है—

१) तू (इन्द्रस्य स्यूः असि) इन्द्र का सींनेवाला है।

इन्द्रियों का स्वामी होने से आत्मा की इन्द्र संज्ञा है। स्यू का अर्थ है सींनेवाला, सींवनकार [दर्ज़ी]। जिस प्रकार सींवनकार बारीक धागे से वस्त्र के दो टुकड़ों को परस्पर सींकर उन्हें संयुक्त कर देता है, उसी प्रकार देवयाजक अपने आत्मस्नेह के सूक्ष्म सूत्र से जन-जन के इन्द्र कों, मनुज-मनुज के आत्मा को, अपने आत्मा के साथ युक्त संयुक्त करता चला जारहा है। इसीलिये उससे कहा गया है—देवयाजक तू आत्मा का, जन-जन के आत्मा का, सींवनकार हैं।

२) तू (इन्द्रस्य ध्रुवः असि) इन्द्र का ध्रुव है, आत्मा का अविचल आधार है।

जो ध्रुवता के साथ अपनी स्थिति में स्थित रहता है, जो किसी भी अवस्था और परिस्थिति में च्युत नहीं होता है, जो भयंकर से भयंकर तूफ़ानों में भी अपने स्थान से विचलित नहीं होता है, ऐसे निश्चल अविचल अचल अच्युत आधार का नाम ध्रुव है। देवयाजक जन-जन के इन्द्र का, मनुज-मनुज के आत्मा का, वह अचल अच्युत आधार बन गया है, जो प्रत्येक अवसर और प्रसंग पर अपने व्यक्तित्व और आत्मस्नेह से उन्हें संभाले रहता है। इसीलिये कहा गया है—देवयाजक ! तू आत्मा का, जन-जन के आत्मा का, अविचल आधार है।

३) तू (ऐन्द्रं असि) ऐन्द्र है, इन्द्रत्व से युक्त है, आत्मिकता से सुयुक्त है।

इन्द्र से ऐन्द्र। इन्द्र [आत्मा] से सम्बन्ध रखनेवाला जो कुछ है, वह सब ऐन्द्र है। देवयाजक पृथिवी पर रहता हुआ भी पार्थिव जीवन से ऊपर है। भौतिक शरीर में निवास करते हुए भी वह भौतिक विषय, विकार और वासना से मुक्त है। उसका जीवन दैहिक नहीं, नितान्त आत्मिक है। उसका चिन्तन, उसका मनन, उसका वदन, उसका दृष्टिकोण, उसकी कार्यप्रणाली, उसकी जीवनशैली—सब कुछ अपार्थिव, अभौतिक और आत्मिक है। इसीसे कहा गया है—देवयाजक ! तू ऐन्द्र है, तू आत्मिक है, तू आत्मद्रष्टा है, तू आत्मसेवी है, तू आत्मा-आत्मा का उद्धारक है।

४) तू (वैश्व-देवं असि) वैश्व-देव है।

विश्व से वैश्व। दिव्यता से देव। किसी एक प्रदेश अथवा देश विशेष को नहीं, अखिल विश्व को दिव्य बनाने की साध जिसकी हो, उसे वैश्वदेव कहते हैं। जिसकी दिव्यता से अखिल विश्व दिव्य हो सके, उसे वैश्वदेव कहा जाता है। अखिल विश्व के दिव्यीकरण की जिसमें क्षमता हो, वह वैश्वदेव कहलाता है। अखिल विश्व का दिव्यीकरण

देवयाजक की साध है। देवयाजक ने अपने जीवन को इतना दिव्य बना लिया है कि वह सारे विश्व में दिव्यता का संचार कर सके। अखिल विश्व के दिव्यीकरण की क्षमता भी उसमें है। इसीलिये उसका अभिस्तवन करते हुए कहा गया है—तू वैश्व-देव है।

सींवनकार इन्द्र का है तू,
तू है इन्द्र का ध्रुव आधार।
तू ऐन्द्र है, वैश्व-देव है ॥

सूक्ति—**इन्द्रस्य स्यूरसि।**
तू आत्मा का सींवनकार है ॥
इन्द्रस्य ध्रुवोऽसि।
तू आत्मा का ध्रुव आधार है ॥
ऐन्द्रमसि।
तू आत्मिक जीवन से युक्त है ॥
वैश्वदेवमसि।
तू विश्व का दिव्यीकरण करनेवाला है ॥

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः।
श्वात्रो ऽसि प्रचेतास्तुथो ऽसि विश्ववेदाः ॥
(य० ५/३१)

वि-भूः असि प्र-वाहनः वह्निः असि हव्य-बाहनः।
श्वात्रः असि प्र-चेताः तुथः असि विश्व-वेदाः ॥

देवयाजक का अभिस्तवन जारी रखते हुए कहा जारहा है—

१) तू (विभूः असि प्रवाहनः) विभू है प्रवाहन, प्रवाहन विभू है।

विभू=वि+भू। वि=विशेष, विविध। भू=भव, भूति। विभव, वैभव, विभूति से युक्त होने से देवयाजक विभू है। वह सकल भौतिक और आत्मिक वैभवों से विभव और विभूतियों से विभूतिमान् है। वह विभू है, वह साधारण विभू नहीं है, प्रवाहन विभू है। प्र=प्रकृष्टतया। वाहन=वहन करनेवाला, वहन सामर्थ्य से युक्त। देवयाजक वह विभू है, जिसमें उदात्त साधों, महान् उत्तरदायित्वों तथा गुरुतम कर्तव्यों के संवहन की पूर्ण क्षमता है। एतदर्थ विभू होना ही पर्याप्त नहीं है, संवहन की क्षमता से सक्षम होना भी परमावश्यक है।

२) (वह्निः असि हव्य-वाहनः) वोढा है हव्य-वाहन, हव्य-वाहन वाहक है।

एक स्थान से दूसरे स्थान को लेजानेवाले का नाम वह्निः है। हव्य शब्द का प्रयोग हुआ है यहां सन्देश के अर्थ में और वाहन शब्द का प्रयोग हुआ है यहां वाहक के अर्थ में। देवयाजक वह वह्नि है, जो दिव्यीकरण के दिव्य सन्देश का वाहक है। वह अपने दिव्य सन्देश को एक स्थान से दूसरे स्थान को लेजाता हुआ सम्पूर्ण पृथिवी पर व्याप रहा है।

३) तू (श्वात्रः असि प्र-चेताः) श्वात्र है प्र-चेता, प्रचेता श्वात्र है।

श्वात्र का अर्थ है शिव, कल्याणकारी। प्रचेता का अर्थ है प्रकृष्टतया चेतानेवाला, बोध विवेक प्राप्त करानेवाला। प्रत्यक्षतः देवयाजक की साध शिव तो है ही, चेतना अथवा बोध प्राप्त करानेवाली भी है। बोध, विवेक अथवा चेतना में ही वास्तविक शिवता अथवा कल्याण निहित है। निस्सन्देह वह शिव है, वह वह शिव है, जो सम्पूर्ण पृथिवी की मानव-प्रजा को प्रबुद्ध बना रहा है, जो जन-जन को आत्मचेतना से प्रचेतित कररहा है।

४) तू (तुथः असि विश्व-वेदाः) ज्ञानी है सर्व-वित्, सर्ववित् ज्ञानी है।

देवयाजक की साध सार्वभौम और सर्वव्यापक है। उसकी संसिद्धि के लिये वह ज्ञानी तो हो ही, किन्तु वह अल्प-ज्ञान ज्ञानी न हो, सर्वज्ञान ज्ञानी हो, वह सब कुछ सम्पूर्णतया जाननेवाला हो।

सार्वभौम देवयाजक के लिये यह आवश्यक ही है कि वह हो प्रवाहक विभू, हव्य-वाहक वह्नि प्रचेता श्वात्र तथा विश्ववेदा तुथ।

तू है विभू प्रवाहन,
तू है वह्नि हव्य-सुवाहक।
तू है श्वात्र प्रचेता,
तू है ज्ञानी विश्व-सुज्ञाता॥

उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वाञ्छुन्ध्यूरसि मार्जालीयः। सम्राडसि कृशानुः परिषद्योऽसि पवमानो नभोऽसि प्रतक्वा मृष्टोऽसि हव्यसूदन ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः॥ (य० ५/३२)

उशिक् असि कविः अंघ-अरिः असि बम्भ-अरिः अव-स्यूः असि दुवस्वान् शुन्ध्यूः असि मार्जालीयः। सं-राट् असि कृशानुः परि-षद्यः असि पवमानः नभः असि प्र-तक्वा मृष्टः असि हव्य-सूदनः ऋत-धामा असि स्वः ज्योतिः॥

देवयाजक के अभिस्तवन को जारी रखते हुए कहा जारहा है—

१) तू (उशिक् असि कविः) कान्तिकर्मा है कवि, तू कवि कान्तिकर्मा है।

कवि नाम क्रान्तदर्शी और क्रान्तप्रज्ञ का है। जिसकी प्रज्ञा में और जिसकी दृष्टि में क्रान्ति होती है, उसी के कर्मों में कान्ति होती है। देवयाजक के कर्मों में, उसके कार्यों में, कान्ति है, क्योंकि वह क्रान्तप्रज्ञ और क्रान्तदर्शी है, क्योंकि उसकी प्रज्ञा व दृष्टि में क्रान्ति है। क्रान्ति से ही कान्ति का उदय होता है। क्रान्ति के बिना कान्ति नहीं। पृथिवी के दिव्यीकरण की साधना देवयाजक की वह क्रान्तिकारी साध है, जिससे पृथिवी के वातावरण में तथा पृथिवीभर के जन-जीवन में एक अलौकिक कान्ति का संचार होता चला जारहा है।

२) तू (अंघ-अरिः असि बम्भ-अरिः) अंघ-अरि है बम्भ-अरि, तू बम्भ-अरि अंघ-अरि है।

अंघ नाम कुटिलता का है। अरि का अर्थ है शत्रु। अंघारि का अर्थ है कुटिलता का शत्रु, कुटिलता का निवारण करनेवाला।

बम्भ का अर्थ है बन्धन, आसक्ति। बम्भ-अरि का अर्थ है बन्धन का शत्रु, आसक्ति का निवारक, अनासक्त।

जिस प्रकार अग्नियाग से रोग और दुर्गन्धि का निवारण होता है, उसी प्रकार देवयाजक के देवयजन से कुटिलता तथा बन्धन का निवारण होरहा है। जिस प्रकार अग्नि-याग रोग और दुर्गन्धि का उन्मूलक है, उसी प्रकार देवयाजक कुटिलता तथा आसक्ति का उन्मूलक है। देवयाजक के देवयजन से जन-जन अकुटिल [ऋजु] और अनासक्त होता चला जारहा है। क्रान्त कान्तिकर्मा देवयाजक स्वयं ऋजु और अनासक्त हुआ मनुज-मनुज को ऋजु तथा अनासक्त बनाये चला जारहा है। ऋजुता और अनासक्ति की स्थापना से ही जन-जीवन में दिव्यता का संचार हो सकेगा।

३) तू (अव-स्यूः असि दुवस्वान्) अव-स्यू है सेवावान्, तू सेवाभावी अव-स्यू है।

स्यू का अर्थ है सींवनकार, सींनेवाला। अव-स्यू का अर्थ है नीचे से सींनेवाला, नीचे से लेकर ऊपर तक सींनेवाला, निम्नतम श्रेणी के व्यक्तियों से लेकर

उच्चतम श्रेणी के व्यक्तियों को अपने प्रति सींने-वाला, अपने आपसे संयुक्त करनेवाला। देवयाजक वह क्रान्त कान्तिकर्मा है, जो निम्नतम तथा उच्चतम श्रेणी के सभी व्यक्तियों को अपने स्नेह और अपनी सेवा से अपने प्रति संयुक्त अथवा स्नेहबद्ध करता चला जारहा है। स्नेह से सेवा और सेवा से स्नेह, स्नेह और सेवा का यह पारस्परिक सम्बन्ध है। स्नेही अपने स्नेहपात्र की सेवा करता ही है। स्नेह हो और सेवा न हो, यह हो नहीं सकता। प्रेम में परिचर्या होती ही है। दैवयाजक प्रत्येक निम्न उच्च मानव से समान रूप से स्नेह करता है, अत एव प्रत्येक की समान रूप से आत्मसेवा करता है और इसी कारण प्रत्येक जन उससे समानरूपेण स्नेह करता है और उसके देवयजन में उसकी समानरूपेण परिचर्या करता है।

४) तू (शुन्ध्यू: असि मार्जालीय:) शुद्ध है शोधनकारी, तू मार्जनकारी शुद्ध है।

मृजूष् शुद्धौ धातु से मार्जालीय: शब्द की उत्पत्ति हुई है। मार्जालीय: का अर्थ है मार्जन करके, मांज धोकर, शुद्ध करनेवाला। जो स्वयं शुद्ध होगा, वह ही दूसरों को शुद्ध कर सकेगा। जो स्वयं मंज गया है, वह ही दूसरों को मांजेगा। देवयाजक स्वयं शुद्ध है, इसीलिये वह जन-जन का मार्जालीय बना हुआ है। निर्मल वस्त्र पर प्रत्येक रंग चढ़ता और खिलता है। शुद्ध में ही दिव्यता का संचार होता है। शुद्धता में ही दिव्यता द्योतित होती है।

५) तू (सं-राट् असि कृशानु:) सम्राट् है सूक्ष्मकर्ता, तू सूक्ष्मकर्ता सम्राट् है।

जो सम्यक् राजता-प्रकाशता है, उसे सम्राट् कहते हैं। कृश तनूकरणे [सूक्ष्म करना] धातु से कृशानु शब्द बना है। अपने भीतर होमे पदार्थ को सूक्ष्म [बारीक] करनेवाला होने से ही अग्नि का नाम कृशानु है। सूक्ष्म होकर पदार्थ दूर दूर तक व्याप जाता है। व्याप्ति के लिये सूक्ष्मता की अनिवार्य आवश्यकता होती है। स्थूलता और जड़ता से जहां संकोच होता है, वहां सूक्ष्मता से व्याप्ति और सारग्राह्यता होती है। क्रान्त कान्ति-कर्मा देवयाजक वह प्रकाश-पुञ्ज है, जो स्वात्म-किरणों से जन-जन को सूक्ष्म-मति और सारग्राही बनाता हुआ अपनी साध और अपनी दिव्यता को पृथिवी पर व्यापता चला जारहा है।

६) तू (परि-षद्य: असि पवमान:) परि-षद्य है पवित्रकर्ता, तू पवित्र करनेवाला परि-षद्य है।

परिषद [सभा] में बैठकर अपने सुपावन दर्शनों और सुदिव्य प्रवचनों तथा वेदोपदेशों से जनसमूहों को पवित्र करनेवाला होने से क्रान्त कान्तिकर्मा देवयाजक पवमान परिषद्य है। वह इतना पवित्र और भव्य है कि सार्वजनिक सभाओं में उसके दर्शनों और सुवचनों से समूह के समूह पवित्र होते चले जारहे हैं।

७) तू (नभ: असि प्र-तक्वा) नभ है प्र-तक्वा, तू प्रतक्वा नभ है।

नभ=न [नहीं]+भ [भय]=निर्भय। सर्वदा निर्भय रहनेवाला होने से नभ नाम आकाश का भी है। भयरहित होने से देवयाजक नभ है। आकाश-वत् व्यापनशील होने से भी वह नभ है।

तक हसने [हंसना] धातु से तक्वा शब्द सिद्ध होता है। प्रकृष्टतया हंसनेवाला जो होता है, उसे प्रतक्वा कहते हैं। सदा सर्वदा हंसनेवाला अथवा सुप्रसन्न रहनेवाला होने से देवयाजक प्रतक्वा है।

जो जितना व्यापनशील होता है, वह उतना ही निर्भय होता है। जो जितना निर्भय होता है, वह उतना ही व्यापता है। जो जितना उदार और व्यापनशील होता है, वह उतना ही सुस्मित, हंसता हुआ और सुप्रसन्न रहता है।

पृथिवी के दिव्योकरण के देवयाजक को प्रतक्वा नभ होना ही चाहिये। क्रान्त कान्तिकर्मा देवयाजक व्यापनशीलता, निर्भयता, सुप्रसन्नता तथा प्रसन्नवदनता के साथ हंसता मुस्कराता हुआ साधना के पथ पर बढ़ता चला जारहा है।

८) तू (मृष्टः असि हव्य-सूदनः) मृष्ट है हव्य-सूदन, तू हव्य-सूदन मृष्ट है।

मृष तितिक्षायाम्-सहना। मृष्ट का अर्थ है सहनेवाला, सहनशील। षूद क्षरणे-क्षरना, झरना, प्रवाहित होना। सूदन का अर्थ है क्षरण अथवा प्रवाहित करनेवाला। हव्य-सूदन का अर्थ है हवियों का क्षरण करनेवाला, हवियों का प्रवाह प्रवाहित करनेवाला। तितिक्षा [सहनशीलता] के साथ हवियों का क्षरण करनेवाला होने से देवयाजक हव्यसूदन मृष्ट है, मृष्ट हव्यसूदन है, सहनशील हव्य-प्रवाहक है। दिव्य विचारों, दिव्य प्रेरणाओं और दिव्य भावनाओं की हवियां ही वह हव्य है, जिसे क्रान्त कान्तिकर्मा देवयाजक सहनशीलता अथवा धैर्य के साथ सम्पूर्ण पृथिवी पर सन्तत सुप्रवाहित किये चला जारहा है। जनमानस उक्त हव्य का सहजतया यों ही स्वीकार नहीं कर लेता है। एतदर्थ वर्षानुवर्ष निरन्तर हव्य-क्षरण करते रहना पड़ता है।

९) तू (ऋत-धामा असि स्वः ज्योतिः) ऋत-धामा है स्वः ज्योतिः तू स्वः ज्योतिः ऋत-धामा है।

ऋत शब्द का ही रूपान्तर अंग्रेज़ी का राइट [Right] शब्द है। ऋत का सम्बन्ध आचार से है। जब मनुष्य शुद्ध, सात्त्विक स्थिर प्रज्ञा तथा शिव शान्त मन से युक्त होता है, तब वह अपनी ज्ञानेन्द्रियों से जो ज्ञान सम्पादन करता है और अपनी कर्मेन्द्रियों से जो कर्म करता है, वह सब ऋत होता है। ऋत ज्ञान और ऋत कर्म के संयोग का नाम ऋताचार है।

जब मनुष्य अस्थिर अपावन मति और अशिव अशान्त मन से युक्त होता है, तब वह अपनी ज्ञानेन्द्रियों से जो ज्ञान सम्पादन करता है और अपनी कर्मेन्द्रियों से जो कर्म करता है, वह सब अनृत होता है। अनृत ज्ञान और अनृत कर्म के संयोग का नाम अनृताचार है।

वैदिक वाङ्मय में स्वः नाम आनन्द का है और ज्योति नाम है उस विवेकख्याति का, जिसमें सब कुछ स्पष्ट और प्रत्यक्ष दिखाई देता है, जिसमें आत्मा का दर्शन, ब्रह्म का संदर्शन और विराट् का प्रदर्शन होता है।

क्रान्त कान्तिकर्मा ऋताचारी देवयाजक ऋत के उस धाम में अधिष्ठित है, जिसमें अक्षय आनन्द और अजस्र ज्योति है। ऋत में संस्थित रहता हुआ वह सम्पूर्ण पृथिवी पर आनन्द और ज्योति की संव्याप्ति कररहा है।

तू सुकान्तिकर्मा है क्रान्त,
तू है अंघ-अरि बम्भ-अरि,
तू अव-स्यू है सेवा-भावी,
तू विशुद्ध है शोधनकारी।
तू है सम्राट् सूक्ष्मताकारी,
तू है परिषद्य पवमान,
है निर्भय तू हंसमुख सन्तत,
सहनशील है तू हवि-क्षारक,
ऋतधामा है तू स्वः ज्योतिः॥

समुद्रोऽसि विश्वव्यचा अजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोऽस्यृतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तमध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन्पथि देवयाने भूयात्॥ (यं० ५/३३)

समुद्रः असि विश्व-व्यचाः अजः असि एक-पात् अहिः असि बुध्न्यः वाक् असि ऐन्द्रं असि सदः असि ऋतस्य द्वारौ मा मा सं-ताप्तं अध्वनां अध्व-पते प्र मा तिर स्वस्ति मे अस्मिन् पथि देव-याने भूयात्॥

जब जब, जहां जहां, उसका अभिस्तवन होता है, उसका गुणगान किया जाता है, तब तब, वहां वहीं, देवयाजक अपने प्रियतम देव का स्तवन करने लग जाता है—

१) प्रभो ! तू (समुद्रः असि विश्व-व्यचाः) समुद्र है सर्व-व्यापी, तू सर्वव्यापी समुद्र है।

सम्+उत्+द्र=समुद्र। सम् का अर्थ है सम्यक्। उत् का अर्थ है ऊंचा, ऊपर। द्र का अर्थ है गति। जो सम्यक् उत् द्रवण करता है, जो सदा उद्द्रवण करता रहता है, जो सतत सन्तत निरन्तर ऊपर को उछलता और उछालता रहता है, उसे समुद्र कहते हैं।

सागर अपनी उत्ताल तरंगों से ऊपर को उछलता रहता है और उसके भीतर तथा उसके ऊपर जो कुछ होता है, उसे वह ऊपर को उछालता रहता है। इसीसे सागर को समुद्र कहा जाता है।

सागर तो केवल सागर-व्यापी समुद्र है। परमात्मा वह समुद्र है, जो अपनी सुपावन व्याप्ति से अखिल विश्व में तरंगित होरहा है और अखिल विश्व को तरंगित कररहा है। प्रभु की अन्तःप्रेरणायें ही वे तरंगें हैं, जो देवजनों और देवयाजकों को सम्यक् तरंगित अथवा प्रेरित करती रहती हैं।

सागर अथाह जल का भण्डार है। जहां जो जल है, वह सब सागर का ही है। एवमेव जहां भी जो दिव्यतायें हैं, वे सब दिव्य देव परमात्मा की ही हैं। जहां जो शक्तियां और क्षमतायें हैं, जहां जो ऋद्धियां और सिद्धियां हैं, जहां जो पवित्रतायें और पावनतायें हैं, जहां जो आकर्षण और मोहकतायें हैं, जहां जो ज्योति और प्रकाश है, जहां जो सह और मह है, वह सब ब्रह्म-समुद्र की ही बिन्दुयें हैं।

देवयाजक इस बोध से उद्बुद्ध और प्रबुद्ध है। जब भी उसका स्तवन होता है, वह मन ही मन उस स्तवन को ब्रह्मार्पण करके प्रभु का स्तवन करने लग जाता है—"देव ! तू वह सर्वव्यापी अनन्त, असीम, अपार समुद्र है, जिसकी अन्तःप्रेरणारूपी तरंगों से यह अखिल ब्रह्माण्ड प्रेरित और सचालित होरहा है, जिसकी दिव्यताओं और क्षमताओं से यह सब दिव्य और सक्षम होरहा है, जिसकी शोभनीयताओं से यह सब सुशोभित होरहा है। मेरे जिन दिव्य गुणों का संसार में अभिस्तवन होरहा है, मेरी जिन दिव्यताओं का जगती में गुणगान होरहा है, वे सब तेरी दिव्यताओं के समुद्र की एक बिन्दुमात्र है, जो तूने मुझमें संचारित की है। जिस प्रकार चन्द्र की चन्द्रिका सूर्यप्रदत्त प्रसाद है, उसी प्रकार मेरी सम्पूर्ण आभायें तथा क्षमतायें तवप्रदत्त प्रसाद ही है। मेरे द्वारा जो कुछ होरहा है, वह सब तेरी ही अन्तःप्रेरणाओं का पुण्य प्रताप है।

२) प्रभो ! तू (अजः असि एक-पात्) अज है एक-पात्, तू एक-पात् अज है।

अज=अ+ज। अ [नहीं]+ज [जन्म, जरा, जीर्णता, मरण]। जन्म, मरण, जरा, जीर्णता से सर्वथा मुक्त होने के कारण अज नाम परमात्मा का है। एक शब्द में अज का अर्थ है अविनाशी।

एक-पात् का अर्थ है एक-पग, एक-चाल, ध्रुव-गति। वह अविनाशी प्रभु ध्रुव-गति है, ध्रुव गतिवाला है। उसकी सर्वव्यापी ध्रुव प्रेरणा द्वारा यह अखिल ब्रह्माण्ड ध्रुव गति के साथ संचालित होरहा है।

संसार की प्रत्येक वस्तु अस्थिर और नाशवान् है। एक ब्रह्म ही है, जो अविनाशी और स्थिर [ध्रुव] है। सब साथी सलग कर विलग जाते हैं। एक ब्रह्म ही वह संगाती सखा है, जो शरणागत का कभी साथ नहीं छोड़ता है। उसी का अवलम्ब वास्तविक अवलम्ब है। उसी के ध्रुव अवलम्ब तथा उसी की ध्रुव प्रेरणा से और उसी के ध्रुव सख्य में देवयाजक पृथिवी के देवयजन में सफलकाम हुआ है, होरहा है और होगा। इसी गहन भाव से भावित होकर देवयाजक कहरहा है—तू अविनाशी है, वह अविनाशी, जो ध्रुवता के साथ इस अखिल चक्र को चला रहा है। तेरे ही अमिट सख्य और तेरी ही ध्रुव प्रेरणा से यह देवयजन दिव्य फल लारहा है

३) प्रभो ! तू (अहिः असि बुध्न्यः) मेघ है आन्तरिक्ष्य, तू आन्तरिक्ष्य मेघ है।

अहि गतौ। अहि का अर्थ है सर्पणशील, सर्पण करनेवाला। जो बिना पग उठाये और बिना डग भरे गति करता है, उसे अहि कहते हैं। सर्पणशील होने से ही सर्प को अहि कहते हैं। सर्पणशील होने से ही मेघ या बादल अहि है। अहि शब्द का प्रयोग यहां मेघ के अर्थ में हुआ है। बुध्न नाम है अन्तरिक्ष का, अन्त:करण का। बुध्न्य शब्द का प्रयोग यहां अन्त:करण से सम्बन्धित है। जिस प्रकार बादल अन्तरिक्ष में आच्छादित होकर पृथिवी पर बरसते हैं, उसी प्रकार वह विश्व-व्यापी समुद्र, वह एकपात् अविनाशी, देवयाजक के अन्त:करण में आनन्द-घन के रूप में आच्छादित होकर आनन्द की सुवृष्टि करता है।

"प्रभो! तू आनन्दघन हैं, हृदय में आनन्द की वृष्टि करनेवाला"।

४) तू (वाक् असि) वाणी है। मेरी वाणी में जो वक्तृत्व है, जो प्रभाव है, जो कमाल हैं, वह सब इसी लिये है कि मेरी वाणी से स्वयं तू बोलता है। मैं तो मूक हूं। मैं बोलना क्या जानूं। मेरे मुख से एक एक शब्द तेरी अन्त:प्रेरणा से प्रेरित होकर निकलता है। इसीसे मेरी वाणी प्रकाशयित्री, पवित्रकर्त्री, दिव्यतासंचारिणी होरही है।

५) प्रभो! तू (ऐन्द्रं असि) ऐन्द्र है। मेरे इन्द्र में, मेरे आत्मा में, जो इन्द्रत्व हैं, जो आत्माभा, आत्म-प्रखरता और आत्मबल है, वह सब तेरा ही है।

६) प्रभो! तू (सदः असि) सद है। तू मेरा स्थिति-स्थल है। तू मेरी गोद है। तू मेरा आधार है। तू मेरा आश्रय है। तुझमें स्थित होकर, तेरी गोद में संस्थित होकर, ही मैं यह सर्वतोमुखी साधना कर-रहा हूं।

प्रभु का स्तवन करते करते देवयाजक आत्मलीन होजाता है और अपने आप में समाहित होकर गहन भावना के साथ कहने लगता है—(ऋतस्य द्वारौ) ऋत के [दोनों] द्वारो! (मा मा सं-ताप्तं) मुझे मत सन्तापो, मुझे कभी सन्तप्त न होने दो, सन्ताप से मेरी रक्षा करते रहो।

मन्त्र ३२ की व्याख्या में ऋत का विश्लेषण करते हुए बताया जा चुका है कि ऋत का सम्बन्ध आचार से है। वहां यह भी बताया जा चुका है कि ऋत [राइट] ज्ञान और ऋत [राइट] कर्म के संयोग का नाम ऋताचार है। ऋत ज्ञान और ऋत कर्म—ऋत के ये दो द्वार हैं, जो देवयाजक के जीवन की ताप सन्ताप से रक्षा करते हैं। ये ही दो द्वार हैं, जो जीवन—सदन में अनृताचार का प्रवेश नहीं होने देते हैं। और जहां अनृताचार का प्रवेश नहीं होता है, वहां ताप सन्ताप का भी कभी कदापि प्रवेश नहीं हो पाता है। ऋत में संस्थित रहकर ही तो देवयाजक ने वे सब दिव्यतायें सम्प्राप्त की हैं, जिनके कारण आज उसका सर्वत्र अभिस्तवन होरहा है। इसी भाव से उसने ऋत के उभय द्वारों को सम्बोधन किया है।

और अब वह प्रार्थना करता है—

१) (अध्वनां अध्वपते)! (मा प्र-तिर) मुझे प्र-तार, प्रकृष्टतया मेरी मंज़िल तै करा।

अध्व का अर्थ है मार्ग, पथ, रास्ता। अ-नहीं। ध्व-कुटिल, टेढ़ा। अध्व नाम उस मार्ग का है, जो कुटिल और टेढ़ा नहीं है, अपि तु साधु, सीधा और सरल है। प्रभु अध्वनां अध्वपति है। वह उसी का पतित्व करता है, वह उसी की रक्षा करता है, जो साधुता और सरलता के साथ साधना के सीधे पथ पर चलता है। सिद्धियों और प्रसिद्धियों की प्राप्ति पर बहक भटक जाने की सम्भावना होती है। प्रशस्तियां और अभिस्तवन अच्छे अच्छों का मुंह फेर देते हैं। इस खतरे से सुरक्षित रहने के लिये एक सच्चा देवयाजक सिद्धि और प्रसिद्धि के सानु पर चढ़कर क्षणे-क्षणे और पदे-पदे प्रार्थना करता रहता है—"मेरे पथप्रदर्शक और पथ-सुरक्षक प्रभो! साधना के इस कोमल पथ पर मेरी रक्षा कर। मुझे ऋत के पथ पर चलाता हुआ मेरी इस लम्बी मंज़िल को तै करा।

२) प्रभो ! (अस्मिन् देव-याने पथि) इस देव-यान पथ पर (मे) मेरे लिये (स्वस्ति भूयात्) स्वस्ति हो।

यान के प्रसिद्ध अर्थ हैं गमन और सवारी। देव जन गमन करते हैं जिसपर, उस पथ को देवयान पथ कहते हैं। दिव्य यान में स्थित होकर यात्रा की जाती है जिसपर, वह पथ देवयान पथ कहलाता है। दिव्यताओं की प्राप्ति की ओर करायी जाती है जिसपर, वह देवयान पथ है। देवयाजक का पथ वह देवयान पथ है, जिसपर देव [दिव्य] जन ही गमन कर सकते हैं, जिसपर दिव्य-जीवन-रूपी यान में स्थित होकर ही चला जा सकता है, जिसपर चलकर दिव्यताओं की सम्प्राप्ति की ओर करायी जाती है। देवयाजक स्वयं देव [दिव्य] है। उसका जीवन-यान दिव्य है। वह स्वयं दिव्यताओं से ओत प्रोत है। वह पृथिवी-भर के समस्त मानवों के जीवनों में दिव्यता का संचार करता चला जारहा है। साध अनन्त है। मार्ग अनन्त है। यात्रा अनन्त है। प्रभु की महिमा अनन्त है। उस महिमामय की मही कृपा से ही यह अनन्त साध स्वस्तिपूर्वक सम्पन्न हो सकेगी। देवयाजक क्षणे-क्षणे पदे-पदे पुकार उठता है— अध्वनां अध्वपते ! स्वस्ति मे अस्मिन् पथि देवयाने भूयात् ! हे सुपथों के सुपथ-प्ररक्षक ! इस देवयान पथ पर प्रगमन करते हुए तेरी कृपा से मेरे लिये सदा सर्वत्र स्वस्ति हो, सु-अस्ति हो, सब कुछ मंगलप्रद हो !

तू समुद्र है विश्व-व्यापी,
एक-पात् अज तू है।
तू आन्तरिक्ष्य मेघ तू वाणी,
तू ऐन्द्र तू सद है ॥
ऋत के उभय द्वारो,
मुझको करो न तुम सन्तप्त ॥
अध्वपते अध्वों के,
मुझको तार,
स्वस्ति हो मेरे लिये,
देवयान इस पथ पर ॥

सूक्ति—**समुद्रोऽसि विश्व-व्यचा।**
तू समुद्र है विश्व-व्यापी ॥
स्वस्ति मेऽस्मिन्पथि देवयाने भूयात्।
मेरे लिये इस देवयान पथ पर स्वस्ति हो ॥

मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वमग्नयः सगराः सगरा स्थ
सगरेण नाम्ना रौद्रेणानीकेन पात माग्नयः पिपृत
माग्नयो गोपायत मा नमो वोऽस्तु मा मा हिंसिष्ट ॥
(य० ५/३४)

मित्रस्य मा चक्षुषा ईक्षध्वं अग्नयः सगराः सगराः स्थ
सगरेण नाम्ना रौद्रेण अनीकेन पात मा अग्नयः पिपृत
मा अग्नयः गोपायत मा नमः वः अस्तु मा मा हिंसिष्ट ॥

प्रभु से प्रार्थना करता करता देवयाजक अग्नियों को सम्बोधन करने लग जाता है—

१) (अग्नयः) अग्नियो ! (मा) मुझे (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र की दृष्टि से (ईक्षध्वं) देखो।

२) तुम (सगराः स्थ) सगर हो, (सगराः) सगर।

सगर का अर्थ है अन्तरिक्ष और अन्तःकरण। व्यष्टि में जो स्थान अन्तःकरण का है, समष्टि में वही स्थान अन्तरिक्ष का है। सगर का बहुवचन है सगराः। समष्टि में जो सगर [अन्तरिक्ष] है, वह एक ही है और उसका सर्वत्र एकवचन में ही प्रयोग होता है। व्यष्टिरूप सगर [अन्तरिक्ष, अन्तःकरण] अनन्त हैं। क्योंकि यहां सगर का बहुवचन में प्रयोग

हुआ है, अतः यहां सगराः से तात्पर्य अन्तःकरणरूपी अन्तरिक्षों से है।

देवयाजक यहां अन्तःकरणों में निवास करनेवाले अग्नियों को सम्बोधन कररहा है। आत्माग्नि ही वे अग्नि हैं, जो जन जन के अन्तःकरणों में निवास कररहे हैं, जो जन जन के हृदयों में जगमगा रहे हैं। देवसाधक को अपनी साध की संसिद्धि के लिये जहां सर्वाधार प्रभु की कृपा और आशीर्वाद चाहिये, वहां उसे जन-जन के आत्माग्नि को भी प्रज्वलित करना है। पृथिवी की जिस मानव प्रजा का उसे दिव्यीकरण करना है, उस प्रजा के हृदयों में विराजमान उनके आत्माग्नियों में सुप्रेरणा करके उसे उनकी निजता सम्पादन करनी है। उसी भाव से साधक ने कहा है—

सगर सगर में स्थित संस्थित आत्म-अग्नियो !
देखो मुझे मित्र-दृष्टि से, निजतामय प्यारी दृष्टि से ।।

३) अग्नियो ! अपने (सगरेण नाम्ना रौद्रेण अनीकेन) सगर नाम रौद्र अनीक द्वारा (मा पात) मुझे बचाओ, मेरी रक्षा करो, मेरी साधना की संसिद्धि में सहायक होओ।

यहां नाम शब्द का प्रयोग हुआ है नामी अथवा प्रसिद्ध के अर्थ में, रौद्र शब्द का प्रयोग हुआ है आर्द्रतामय के अर्थ में और अनीक शब्द का प्रयोग हुआ है रूप अथवा भावना के अर्थ में।

प्रत्येक मानव के सगर में जहां आत्माग्नि विराजमान है, वहां जन-जन के हृदय में आत्म-आत्मीयता की एक सर्वविदित सर्वानुभूत भावना संनिहित है, जिसे आर्द्र भावना कहते हैं। कठोर से कठोर हृदय में भी यह आर्द्र भावना नाम की वस्तु विद्यमान है। जिनके अन्तःकरण में अन्तर्निहित यह आर्द्र भावना जागृत है, वे सहजतया ही अपनी स्नेहस्निग्ध आर्द्र भावना से देवयाजक के प्रति प्रीतिमान होकर उसके देवयजन में अपनी अपनी दिव्य आहुति अर्पित करके देवयाजक की सर्वतः रक्षा करेंगे। जिनके हृदयों में निहित यह आर्द्र भावना सुप्तावस्था में है, उनकी इस भावना को जागृत करने के लिये देवयाजक को तपोमय साधना करनी होगी। इसी संकल्प के साथ आत्माग्नियों को सम्बोधन करता हुआ देवयाजक कह रहा है—

सगर सगर में आर्द्र भावना नाम निहित है आत्म-आत्म की।
आत्माग्नियो ! उससे रक्षा करो मेरी, मम देवयजन की ।।

४) (अग्नयः) आत्म-अग्नियो ! आत्माओ ! (मा पिपृत) मुझे पूरो, मुझे जन धन से भरपूर भरदो, मुझे साधकों और साधनों से सम्पन्न करदो, ताकि मेरी साध सद्यः सम्पूर्णतया संसिद्ध होजाये।

५) (अग्नयः) आत्म-अग्नियो ! आत्माओ ! (मा गोपायत) मुझे गोपो।

गुपू रक्षणे धातु का अर्थ है रक्षा करना। रक्षा अर्थवाली धातुयें अनेक हैं और प्रत्येक के अर्थ में एक सूक्ष्म भेद है। गुपू धातु में गोपने, छिपाने, ढकने, ढांपने का भाव निहित है। बादाम की गिरी की रक्षार्थ गिरी को कठोर छिलकों में छिपाकर अथवा ढांपकर रखा गया है। हीरों जवाहरातों को डिबियों में ढांपकर पुनः तिजोरियों में तालाबन्द करके छिपाया जाता है। इस प्रकार सुरक्षा करने के अर्थ में गोपायत क्रिया का प्रयोग हुआ है।

आत्म-बन्धुओं को सम्बोधन करता हुआ देवयाजक कह रहा है—"मैं एक सुविशाल व्यापक दिव्य साध का देवसाधक हूं। मैं तुम्हारी अमूल्य सेवा कररहा हूं। मैं तुम्हारी अमूल्य निधि हूं। मुझे ढक दाब कर, संभाल कर, रखो। ऐसा साधनोपाय करो कि दीर्घ सुदीर्घ काल तक मेरा यह साधनामय जीवन सुरक्षित बना रहे"।

६) आत्मबन्धुओं ! (वः नमः अस्तु) तुम्हारे लिये नमस्कार हो। मैं तुम्हें आत्मीयता के साथ नमस्कार करता हूं।

प्रत्यक्षतः देवयाजक को नमनशील होना ही चाहिये। फलवाली डाली झुकी रहती है। उसपर जितने अधिक फल होते हैं, उतनी ही अधिक वह

नमती है और सबको नमती है और सबको नमकर सबको फल देती है। जो जितना गुणवान् होता है, वह उतना ही नमता है और सबको नमता है। देवयाजक दिव्य गुणों का पुञ्ज है। उसका जीवन सम्पूज्य है। फिर भी वह इतना विनम्र है कि जन-जन को नमस्कार करता है। "मुझे गोपो। मुझे संभालकर सुरक्षित रखो", उसके इस कथन में अहंकार नहीं है, विश्व की अधिकतम सेवा की भावना है।

७) आत्मबन्धुओ! (मा मा हिंसिष्ट) मुझे मत हिंसो।

संसार बड़ा विचित्र है। जगत् में तम का प्रभाव अधिक है। देवयाजक जनसेवी और नमनशील है। नमस्कारपूर्वक वह मानव जाति की सुधन्य सेवा कररहा है। जनता उसे प्यार करती है, उसका गोपायन करती है। वह मानव-प्रजा के नयनों की ज्योति और उनके हृदयों का सोम बना हुआ है। तो भी कुछ तमाच्छादित और तमोगुणाच्छन्न आत्मा हैं, जो ईर्ष्याद्वेषवश उसके प्रति विद्रोह कर रहे हैं, उसका विरोध कररहे हैं, उसे हटाने और मिटाने में लगे हुए हैं। उन्हीं को सम्बोधन करते हुए देवयाजक ने कहा है—"देखो, मा मा हिंसिष्ट, मुझे मत सताओ। मुझे सताकर व्यर्थ पाप के भागी मत बनो"।

आत्म-अग्नियो,
देखो मुझे मित्रदृष्टि से।
तुम हो सगर,
सगर हो तुम सब,
आर्द्र भावना नाम सगर से,
मेरी रक्षा करो अनवरत।
पूरो मुझे, अग्नियो, पूरो,
गोपो मुझे, अग्नियो, गोपो,
नमस्कार हो मेरा तुमको।
मुझे न हिंसो, नहीं सताओ,
तुम मेरा अनिष्ट मत सोचो॥

सूक्ति—**मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वम्।**
मुझे मित्र की दृष्टि से देखो॥
नमो वो ऽस्तु।
तुम सबको नमस्कार॥
मा मा हिंसिष्ट।
मुझे मत सताओ॥

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानां समित्।
त्वं सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्य
उरु यन्तासि वरूथं स्वाहा जुषाणो अप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहा॥
[ऋ० ८-७९-३] (य० ५/३५)

ज्योतिः असि विश्व-रूपं विश्वेषां देवानां सं-इत्।
त्वं सोम तनू-कृत्-भ्यः द्वेषोभ्यः अन्य-कृतेभ्यः
उरु यन्ता असि वरूथं स्वाहा जुषाणः अप्तुः आज्यस्य वेतु स्वाहा॥

देवयाजक को मित्रदृष्टि से देखनेवाले सहृदय सदात्मा उत्तर देते हैं—

१) देवयाजक! तू (ज्योतिः असि) ज्योति है, (विश्व-रूपं) विश्व को रूपित करनेवाली तथा (विश्वेषां देवानां सं-इत्) समस्त दिव्यताओं को प्रज्वलित करनेवाली।

ज्योति जिससे भी युक्त होती है, उसी को निज-रूप से रूपित करदेती है। ज्योति जिससे भी संयुक्त होती है, उसकी अन्तर्निहित दिव्यताओं को प्रज्वलित-प्रकाशित करदेती है। देवयाजक वह ज्योति है, जो अपनी ज्योत्स्ना से जन-जन को ज्योतिर्मय बना सकती है और जन-जन में

अन्तर्व्याप्त दिव्यताओं को द्योतित कर सकती है। उसने पृथिवी की मानव प्रजा के ज्योतिकरण तथा द्युतिकरण में सार्वभौम सफलता प्राप्त की है। किन्तु, जैसाकि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, अभी पर्याप्त तमाच्छादित और तमोगुणाच्छन्न दुरात्मायें हैं, जिनके हृदयों को जीतकर अपने निकट लाने में वह सफल नहीं हुआ है। जन-जन के मुख से और स्वयं देवयाजक के अन्तःकरण में अनवरत ध्वनियां ध्वनित होरही हैं—रे ज्योति-स्वरूप देवयाजक ! तुझमें क्षमता है अखिल विश्व को अपनी ज्योति से ज्योतित करने की। तुझमें क्षमता है अखिल दिव्यताओं को द्योतित करने की। तू इन दुरात्माओं के दिव्यीकरण में भी निस्सन्देह सफल होगा।

२) (सोम) ! (तनू-कृत्-भ्यः द्वेषःभ्यः अन्य-कृतेभ्यः) तनूकृतों, द्वेषियों और अन्यकृतों के लिये (त्वं) तू (उरु यन्ता वरूथं असि) उरु यन्ता वरूथ है।

चन्द्रमा के समान सोम्य, शोभन और प्रकान्त होने से देवयाजक को यहां सोम शब्द से सम्बोधन किया गया है।

तनु विस्तारे। विस्तार का साधन होने से शरीर का नाम तनू है। कृती छेदने-छेदन करना, नष्ट करना। तनू-कृत् का अर्थ है शरीर का छेदन करनेवाला, जान का गाहक, जानी दुश्मन, शत्रु।

अन्यकृत का अर्थ है अन्य-विपरीत-कर्मा, विरोध करनेवाला, विराधी।

उरु का अर्थ है विशाल। वरूथ का अर्थ है वर्म, कवच, ढाल, रक्षासाधन। यन्ता का अर्थ है यन्त्रण, नियन्त्रण-संयमन करनेवाला। यन्ता का प्रयोग यहां आत्मसंयमी के अर्थ में हुआ है।

जो सोम [सोम्य, शोभन और प्रकान्त] होता है, वह ही यन्ता होता है। जो यन्ता होता है, वह ही सोम होता है। सोम्यता और संयम एकस्थ रहते हैं। जहां सोम्यता होगी, वहीं संयम होगा। जहां संयम होगा, वहीं सोम्यता होगी। जहां सोम्यता और संयम का संयोग है, वहां शत्रुओं, द्वेषियों और विरोधियों का क्या भय। सोम्यता और संयम वह सुविशाल वरूथ है, जो न केवल दुरात्मा शत्रुओं, द्वेषियों और विरोधियों के प्रहारों और आघातों से देवयाजक की रक्षा करता है, अपि तु जो शत्रुओं को मित्रों में, द्वेषियों को प्रेमियों में और विरोधियों को सहयोगियों में परिणत करदेता है। सोम यन्ता देवयाजक दुरात्माओं की काया-पलट करके उन्हें सदात्मा बनाने की क्षमता रखता है। इसी मान्यता से सहृदय सदात्माओं ने कहा है, "देवयाजक ! तू सोम है, तू यन्ता है। तेरी सोम्यता और तेरे संयम का सुसंयोग तेरा वह उरु वरूथ है, जिसके द्वारा तू अपने शत्रुओं, द्वेषियों तथा विरोधियों से सदा सुरक्षित है।

३) और, देवयाजक, फिर तू अकेला नहीं है। हम सब तुझपर (स्वाहा) न्योछावर हैं, बलिहारी हैं। तेरी सेवा और सुरक्षा के लिये हम अपने स्व सर्वस्व को स्वाहा करने को समुपस्थित और समुद्यत हैं।

४) देवयाजक ! हम कामना करते हैं कि (अप्तुः) अप्तु [तेरे] (आज्यस्य) आज्य का (जुषाणः) सप्रेम सेवन करता हुआ (वेतु) जाने।

आप्लृ व्याप्तौ। अप्तुः व्यापक। अप्तु तथा विष्णु दोनों शब्द समानार्थक हैं।

स्निग्धता, स्नेह, प्रियता से जो युक्त हो, वह आज्य है। स्निग्धता से स्नेह और स्नेह से स्निग्धता। आज्य नाम घृत का है, क्योंकि वह स्निग्धता से युक्त है। आज्य नाम प्रेम का है, क्योंकि उसमें स्नेह की स्निग्धता है। आज्य नाम साधना का है, क्योंकि उसमें साध के प्रति स्निग्धता है। आज्य नाम भक्ति का है, क्योंकि उसमें ईश्वर के प्रति स्नेह-स्निग्धता है। यहां आज्य शब्द का प्रयोग साधना के अर्थ में हुआ है।

"देवसाधक ! विष्णु तेरी साधना का सप्रेम सेवन [स्वीकार] करे और उसकी संसिद्धि के लिये

तू जो उग्र तप और उत्कट साधना कररहा है, वह उसे जाने और तेरी रक्षा करता रहे"।

५) हम सब तुझपर (स्वाहा) न्योछावर हैं, बलिहारी जायें। तेरी सेवा और सुरक्षा के लिये हम सब अपने स्व सर्वस्व को स्वाहा करने के लिये समुपस्थित और समुद्यत हैं।

रे विश्व-रूप ज्योति है तू,
प्रज्वलनकर्त्री सब देवों की।
तू, सोम, शत्रुओं द्वेषियों,
अपि च विरोधियों के लिये,
है उरु यन्ता वरूथ, स्वाहा।
सेवन करे स-प्रेम, विष्णु,
उस तेरे आज्य को और जाने,
वह मर्म साधना का तेरी,
हम तुझपर जायें बलिहारी॥

सूक्ति—ज्योतिरसि विश्वरूपम्।
तू विश्वरूप ज्योति है॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥
(ऋ० १-१८९-१, य० ७/४३, ४०/१६) (य० ५/३६)
अग्ने नय सु-पथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोधि अस्मत् जुहुराणं एनः भूयिष्ठां ते नमः उक्ति विधेम॥

देवयाजक की उत्कट साधना और उसके पुनीत तप ने दुरात्मा शत्रुओं, द्वेषियों और विरोधियों के मनःपाषाणों को पिघला दिया है। उसकी सोम्यता और उसके संयम ने उन दुरात्माओं के मानस में आत्मशोधन और आत्मसुधार की भावना जागृत करदी है। देवयाजक के प्रति ईर्ष्याद्वेषवश किये गये अपने विद्रोह पर आत्मग्लानिसहित पश्चात्ताप के आंसू बहाते हुए वे प्रभु से विनय करते हैं—

१) (अग्ने देव) प्रकाशस्वरूप देव! (राये) आत्मैश्वर्य के लिये (अस्मान्) हमें (सुपथा नय) सुपथ से लेजा/चला।

ऐश्वर्य दो प्रकार के होते हैं—भौतिक और आत्मिक। भौतिक ऐश्वर्यों से शारीरिक सुखसुविधायें प्राप्त होती हैं। आत्मिक ऐश्वर्यों से आत्मा को आनन्द की प्राप्ति होती है। सुख शरीर का विषय है। आनन्द आत्मा का विषय है। भौतिक ऐश्वर्यों से जिस प्रकार शरीर सुखी और सुपुष्ट होता है, उसी प्रकार आत्मिक ऐश्वर्यों से आत्मा आनन्दित होता है।

आत्मिक ऐश्वर्य तो प्राप्त ही सुपथ पर चलने से होते हैं। भौतिक ऐश्वर्य भी वे ही सुखदायी होते हैं, जो सुपथ् पर चलकर प्राप्त किये जाते हैं। सुपथगामिता के साथ जो भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त किये जाते हैं, वे आत्मैश्वर्यों की सम्पादना में सहायक होते हैं।

कुपथ पर चलते चलते दुरात्मा कुपथ-गामिता से ऊब चुके हैं। उन्होंने देख लिया है कि कुपथ पर चलने से उन्हें सतत आत्मिक क्लेश के सिवाय और कुछ नहीं मिला है। उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है कि कुपथ पर चलते रहने से वे सकल दैवी सम्पदाओं और आत्मसम्प्रीतियों से सर्वथा वंचित होगये हैं। कुपथ का परित्याग करके वे देवयाजक के देवयजनीय सुपथ पर आते हैं और प्रभु से प्रार्थना करते हैं, "प्रकाशस्वरूप देव! अज्ञान की अंधेरी रात्रि के अन्धकार में आत्महत्यारे बनकर हम कुपथ पर चलते रहे हैं और आत्मैश्वर्यों से विहीन होगये हैं। हमारे आत्माओं में ऐसी

अन्तःप्रेरणा कर कि अब हम सदा ही सुपथ पर चलते रहें और आत्मधनों के धनी होजायें"।

२) (अग्ने देव) सर्वज्ञ देव ! तू (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) समस्त वयुनों को जाननेवाला है।

वयुन नाम गति और चेष्टा का है। यहां जो कुछ है, सब गतिशील है। यह सारा ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्डस्थ सकल लोकलोकान्तर अनवरत गति कररहे हैं। एक एक अणु, एक एक परमाणु अनवरत गति कररहा है। वह सर्वनियन्ता प्रत्येक गति और प्रत्येक चेष्टा को सर्वतः जान रहा है। प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक मनुष्य जहां जो कुछ करता है, वह उस सबको जहां का तहां और जब का तब जान लेता है। वह तो विचारों और भावनाओं तक को जान रहा होता है। यह सब अनुभव करते हुए वे दुरात्मा कहते हैं—अन्तर्यामिन् ! तू सब कुछ जानता है। तुझसे क्या छिपा हुआ है। कुटिलता और पाप से हमारा जीवनघट भरा हुआ है। कुटिलता और पाप से त्राण पाने के लिये हम तेरी शरण में आये हैं।

३) (अग्ने देव) पावक प्रभो ! (अस्मत्) हमसे (जुहुराणं एनः) कुटिलता और पाप (युयोधि) दूर कर, दूर रख।

कुटिलता और पाप ही हैं, जो सुपथ से हटाकर कुपथ पर ले जाते हैं। प्रभु को सर्वव्यापक और सर्वज्ञ जानते मानते हुए अपनी सम्पूर्ण शक्ति से अपने आपको कुटिलता और पाप से बचाना और साथ ही तदर्थ प्रभु से निरन्तर प्रार्थना करते रहना—अकुटिल और निष्पाप बनने की यह एक अमोघ साधना है।

४) प्रभु की सर्वज्ञतानुभूति तथा प्रभु की प्रार्थना के अतिरिक्त कुटिलता और पाप से बचने के अन्य उपाय हैं प्रभु के प्रति नमन और उक्ति, नमस्कार और आत्मनिवेदन। अतः वे कहते हैं—अग्ने देव ! हम (ते) तेरे प्रति (भूयिष्ठां) भूयो भूयः, पुनः पुनः, वारम्वार (नमः उक्तिं विधेम) नमस्कार और निवेदन अर्पण करें [कि हमसे कुटिलता और पाप दूर कर और दूर रख]। हम तुझसे सनमस्कार आत्मविनय करते हैं कि हमें शक्ति दे कि अब हम अन्त तक कुटिलता और पाप से विनिर्मुक्त रहकर आत्मैश्वर्यों का सम्पादन करें।

अग्ने देव सुपथ से ले चल,
हमें आत्मैश्वर्यों के प्रति।
घट-घट-वासी अन्तर्यामी,
जान रहा तू सब गतियों को।
हमसे रख तू दूर सदा ही,
कुटिल कुटिलता और पाप को।
भूयो भूयः तेरे प्रति हम,
अर्पण करें नमन और उक्ति ॥

सूक्ति—**अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्।**
अग्ने लेजा सुपथ से,
आत्मैश्वर्य के प्रति हमें ॥
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ॥
देव जाननेवाला है तू,
अन्तरतम की सब गतियों को ॥
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः।
दूर रख हमसे कुटिलता और पाप ॥
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।
भूयो भूयः तेरे प्रति हम,
अर्पण करें नमन और उक्ति ॥

अयं नो अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन्।
अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयं शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा ॥

[य० ७/४४] (य० ५/३७)

अयं नः अग्निः वरिवः कृणोतु अयं मृधः पुरः एतु प्र-भिनन्दन्।
अयं वाजान् जयतु वाज-सातौ अयं शत्रून जयतु जर्हृषाणः स्वाहा ॥

पश्चात्तापपूर्ण हृदय से प्रार्थना कर चुकने के उपरान्त अपने पापों पर पछताते हुए वे अब देवयाजक के लिये साशिष शुभ कामना करते हैं—

१) (अयं अग्निः) यह अग्नि (नः) हमारा (वरिवः) रक्षण (कृणोतु) करे।

वरिवः नाम उस रक्षण का है, जिससे कुटिलता का वारण-निवारण और पाप का निराकरण होता है।

अग्नि के समान पावक और प्रकाशक होने से देवयाजक के लिये यहां अग्नि शब्द का प्रयोग किया गया है।

"जिस प्रकार इस पावक और प्रकाशक देवयाजक ने अपनी पवित्रता और प्रकाशकता से कुटिलता और पाप से हमारा मुख मोड़ा है, उसी प्रकार वह सुपथ पर हमारी सर्वतः रक्षा करता रहे, पथभ्रष्ट होने से हमें सदा सर्वदा बचाता रहे"।

२) (अयं) यह [देवयाजक] (मृधः) हिंसकों को, हिंसावृत्तियों को (प्र-भिन्दन्) प्रभेदता हुआ, छिन्न भिन्न करता हुआ (पुरः एतु) आगे चले।

कुटिलता और पाप के पथ पर चलनेवाले उन पापियों की अपनी हिंसावृत्तियों ने स्वयं उनकी अपनी कितनी हानि की है, इसका अनुभव करते हुये वे अब हृदय से कामना कररहे हैं, "प्रभो! यह देवयाजक हम हिंसकों की हिंसावृत्तियों का निराकरण करता हुआ सदा हमारे आगे चलता रहे, सुपथ पर हमारा नेतृत्व करता रहे"।

३) (अयं) यह [देवयाजक] (वाज-सातौ) वाजसाति में (वाजान्) वाजों को, संग्रामों को (जयतु) जीते।

वाजसाति नाम उस संग्राम का है, जिसमें विज्ञान और विभूतियों का संविभाग अथवा वितरण किया जाता है। देवयाजक का देवयजन वह वाजसाति है, जिसमें जन-जन को दिव्य विज्ञानों और दिव्य विभूतियों की सम्प्राप्ति होरही है।

वाज का अर्थ है विज्ञान और विभूति। विज्ञान और विभूति के सम्पादनार्थ किये गये संग्राम का नाम भी वाज है।

यह देवयाजक संग्राम में संग्रामों को विजय करता रहे—कुपथ से हटकर सुपथ पर आये हुए लोगों की यह मनःकामना गूढ़ और गहन है। पृथिवी का देवयजन वह वाजसाति है, विज्ञान और विभूति का वह संग्राम है, जहां पग-पग पर उसके सामने नित्य नये नये संग्राम समुपस्थित होते रहते हैं, जहां आये दिन प्रत्येक पार्श्व में उसे अनेक विघ्नबाधायें घेरे रहती हैं। देवयाजक का देवयजनसंग्राम अनेक संग्रामों से संग्रामित है। सुपथ पर आये नवागन्तुक कृतज्ञतापूर्ण हृदय से प्रकामना करते हैं, "विविध संग्रामों से घिरा हुआ यह देवयाजक अपने देवयजन संग्राम में सर्वतः विजयी और सफलकाम होता रहे"।

४) (अयं) यह [देवयाजक] (जर्हृषाणः) हर्षित रहता हुआ (शत्रून्) शत्रुओं को, विरोधियों को (जयतु) जीते।

देवयजन्संग्राम में देवयाजक को पग-पग पर जिन संग्रामों का साम्मुख्य करना पड़ रहा हैं, वे सब उसके विरोधियों द्वारा खड़े किये जारहे हैं। वे विरोधी अपने स्वयं के ईर्ष्या द्वेष के कारण उसके शत्रु बन गये हैं। वे देवयाजक के शत्रु हैं। देवयाजक उनका शत्रु नहीं है। देवयाजक को तो उनका भी दिव्यीकरण करना है और उन्हें भी अपने विश्व-परिवार में सम्मिलित करना है। ऐसा वह तब ही कर सकता है, जब वह उन स्वयं-जात शत्रुओं के प्रति समानरूपेण प्रीतिमान रहता हुआ और प्रसन्नता के साथ उनका हितसम्पादन करता हुआ उनके हृदयों को जीतेगा। यहां यह नहीं कहा गया है कि "वह क्रुद्ध होता हुआ शत्रुओं को मारे", अपि तु यह कहा गया है कि, "वह हर्षित होता हुआ, प्रसन्न रहता हुआ, शत्रुओं को जीते"। मारने और जीतने में अन्तर है। शत्रु शस्त्र से मारा जाता है, स्नेह और श्रद्धा से जीता जाता है।

और अब देवयाजक को मुख समुख सम्बोधन करते हुए वे कहते हैं—हम तुझपर (स्वाहा) बलिहारी जाते हैं, स्व सर्वस्व न्योछावर करते हैं।

अग्नि यह रक्षण करे हमारा,
हिंसावृत्तियों को प्रभेदता हुआ,
यह आगे चल हमारे।
जीते यह संग्राम में संग्रामों को,
हर्षित होता हुआ शत्रुओं को यह जीते।
जायें हम तुझपर बलिहारी ॥

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा ॥
[य० ५/४१] (य० ५/३८)
उरु विष्णो वि-क्रमस्व उरु क्षयाय नः कृधि।
घृतं घृत-योने पिब प्र-प्र यज्ञ-पतिं तिर स्वाहा ॥

विष्णु के लिये यहां घृतयोनि विशेषण का प्रयोग किया गया है। घृतप्रतीक है स्निग्धता का, स्नेह का, स्निग्ध स्नेह का, प्रगाढ़ प्रेम का। योनि का अर्थ है गृह, गेह, भंडार। विष्णु घृतयोनि है, प्रेम का भंडार है, प्रेममय है।

यज्ञपति शब्द का प्रयोग हुआ है यहां देवयजन के यागी देवयाजक के लिये।

कुपथ से सुपथ पर आये हुए सुपथगामियों के साथ ही समस्त मानव प्रजा भी प्रभु से विनय करती है—

१) (घृत-योने विष्णो) प्रेममय विष्णो! (घृतं पिब) घृत को पी, हमारे स्नेह का पान कर, हमारी प्रेमपूर्ण विनय को स्वीकार कर।

२) घृत-योने विष्णो! (यज्ञ-पतिं) यज्ञपति को, देवयजन की रक्षा करनेवाले इस देवयाजक को (उरु वि-क्रमस्व) बहुत वि-क्रमा, बहुत विक्रमशाली कर, अतिशय प्रगतिशील बनाये रख। इसे इतना विशाल और व्यापक विक्रमशील रख कि यह सम्पूर्ण पृथिवी के दिव्यीकरण की साध को सम्पूर्ण कर और करा सके।

३) घृतयोने विष्णो! (यज्ञपतिं) यज्ञपति को (नः क्षयाय) हमारे निवासार्थ (उरु कृधि) विशाल करदे, व्यापदे। हमारे सुदिव्य निवास के लिये इस देवयाजक के प्रभाव को सम्पूर्ण पृथिवी पर व्यापदे।

४) घृतयोने विष्णो! (यज्ञपतिं) यज्ञपति को (प्र-प्र-तिर) प्रकृष्टतया प्रभूततया तार। इस देवयाजक को प्रत्येक कठिनाई और प्रत्येक बाधा से पार उतार।

प्रभु से विनय करते करते देवयाजक से मुख समुख होकर वे उसे सम्बोधन करते हैं—हम तुझपर (स्वाहा) बलिहारी जाते हैं, स्व सर्वस्व न्योछावर करते हैं।

प्रेममय विष्णो!
हमारे प्रेमघृत का पान करले।
देवयाजक यज्ञपति को,
बहुत विक्रमशाली रखना।
हमारे सुनिवास-हेतु,
व्यापदे प्रभाव इसका।
तारते रहना इसे,
प्रत्येक बाधा विघ्न भय से।
जायें हम बलिहारी तुझ पर ॥

सूक्ति—**घृतं घृतयोने पिब।**
घृतागार! घृत पान कर ॥
प्रेममय! प्रेम पान कर ॥

देव सवितरेष ते सोमस्तं रक्षस्व मा त्वा दभन् ।
एतत्त्वं देव सोम देवो देवाँ उपागा इदमहं मनुष्यान्त्सह
रायस्पोषेण स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्ये ।। (य० ५/३९)

देव सवितः एषः ते सोमः तं रक्षस्व मा त्वा दभन् ।
एतत् त्वं देव सोम देवः देवान् उप-अगाः इदं अहं
मनुष्यान् सह रायः पोषेण स्वाहा निः वरुणस्य
पाशात् मुच्ये ।।

घृतयोनि विष्णु से विनय करती हुई मानव प्रजा कह रही है—(देव सवितः) ! (एषः) यह [देवयाजक] (ते सोमः) तेरा सोम है । (तं रक्षस्व) उसे रक्ष, उसकी रक्षा कर ।

षोडश कलाओं से कलान्वित पूर्णिमा के पूर्ण सोम्य चन्द्रमा को सोम कहते हैं । देवयाजक देव सविता [ब्रह्म] का वह सोम है, जो सोलह ब्राह्म सोम्यताओं [दिव्यताओं] से सुशोभित है । दिव्य बुद्धि, दिव्य चिन्तन, दिव्य धारणा, दिव्य ज्ञान, दिव्य विवेक, दिव्य मेधा, दिव्य भावना, दिव्य दृष्टि, दिव्य श्रुति, दिव्य वाणी, दिव्य मन, दिव्य चित्त, दिव्य क्रतु [कर्तृत्व], दिव्य प्राण, दिव्य घ्राण, दिव्य तनू—देवयाजक इन षोडश सोम्यताओं से सुसोमित सुसोम्य सोम है । "अपने ऐसे सोम की, देव सवितः, तू सदा सर्वदा सर्वतः रक्षा करता रह" ।

और अब स्वयं देवयाजक को सम्बोधन करते हुए वे कहते हैं—(देव सोम) दिव्य सोम ! दिव्यताओं से द्योतित सोम्य देवयाजक ! (त्वं देवः) तू देव है, तू दिव्यताओं से युक्त है, तू दिव्य सोम्यताओं से सुशोभित है । तू (देवान्) दिव्यताओं को (एतत्) यह (उप अगाः) प्राप्त हुआ हुआ है । विरोधियों के विरोध अथवा परिस्थितियों की प्रतिकूलतायें (त्वा मा दभन्) तुझे न दबायें, तुझे हतोत्साहित न करें, तेरा मार्ग न रोक पायें ।

और आत्मविश्वास से सुपूरित होकर देवयाजक कहता है – (अहं) मैं (रायः पोषेण सह) आत्मैश्वर्यों के पोष के सहित हूं, आत्मैश्वर्यों की पुष्टि से सुसम्पन्न हूं । मैं सदा (मनुष्यान् स्वाहा) मनुष्यों को सुहुत रहूंगा, मनुष्यों के प्रति समर्पित रहूंगा, विश्व के सकल मानवों की सुसेवा के लिये प्रार्पित रहूंगा । मैं (वरुणस्य पाशात्) वरुण के पाश से (इदं) यह (निःमुच्ये) निर्मुक्त होरहा हूं, नितराम नितान्त मुक्त हूं ।

वरण करके जिसे संगत करने की इच्छा होती है उसे वरुण कहते हैं । वरुण नाम परमात्मा का है, क्योंकि उसे वरण करके उससे संगत रहने की आत्मा में स्वाभाविक इच्छा होती है ।

वरण करके जिसे भोगने से प्राणी जिससे बद्ध होजाता है, उसे भी वरुण कहते हैं । माया वरुण है, क्योंकि उसे वरण करके आत्मा उससे बद्ध होजाता है ।

परमात्मा श्रेय है । माया प्रेय है । परमात्मा से संगत होकर आत्मा शाश्वत शान्ति और अक्षय आनन्द को प्राप्त रहता है । माया से संगत होकर आत्मा विषय-पाश से आबद्ध होजाता है और शाश्वत शान्ति तथा अक्षय आनन्द से वञ्चित रहता है ।

देवयाजक ने जो यह कहा है कि "मैं वरुण की पाश से यह मुक्त होरहा हूं", उससे आशय प्रेयरूपी पाश से मुक्त रहने से है ।

देवयाजक प्रेय की पाश से मुक्त होकर विचर रहा है । इसीसे वह आत्मैश्वर्यों की पुष्टि से सुपुष्ट

होकर विश्व के सकल मानवों की सेवार्थ सुहुत समर्पित है। हतोत्साहित होकर देवयजन से विरत होने का कोई प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि वह प्रेय-पाश से मुक्त और देव सविता से सुयुक्त है। विवेकी देवयाजक न कभी प्रेय-पाश से आबद्ध होगा, न कभी विश्व के मानवों के दिव्योकरण की साध से अपना मुंह फेरेगा।

देव सवितः,
यह है तेरा सोम,
सुरक्षा कर तू उसकी।
देव सोम,
तू देव दिव्यताओं से द्योतित,
दिव्यताओं को तू यह प्राप्त हुआ हुआ है,
दबा न पायें तुझे कहीं भी कोई कदापि।
यह मैं आत्म-ऐश्वर्यों की पुष्टिसहित,
सुहुत समर्पित मनुष्यों को,
मैं निर्मुक्त होरहा हूं यह,
प्रेय वरुण की प्रेय पाश से॥

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूर्मय्यभूदेषा सा त्वयि यो मम तनूस्त्वय्यभूदियं सा मयि। यथायथं नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिरमंस्तानु तपस्तपस्पतिः॥
[य० ५/६] (य० ५/४०)

अग्ने व्रत-पाः त्वे व्रत-पाः या तव तनूः मयि अभूत् एषा सा त्वयि या-उ मम तनूः त्वयि अभूत् इयं सा मयि। यथा-यथं नौ व्रत-पते व्रतानि अनु मे दीक्षां दीक्षा-पतिः अमंस्त अनु तपः तपःपतिः॥

एक ओर अपने देवयाजक पति के प्रति विरोधियों के विरोध का कुदृश्य और दूसरी ओर मानव प्रजा द्वारा अपने पति के पूजन का सुदृश्य देखकर देवयाजिका भावावेश से द्रवित होकर यहां वह पुनः अपने पति से आत्मविनय करती है—

१) (अग्ने व्रत-पते) प्राज्ञ व्रतपते! तू (व्रत-पाः) व्रतों की रक्षा करनेवाला है, (त्वे व्रत-पाः) तुझमें व्रतों का पालन करने-कराने-वाला है, तुझमें व्रत-रक्षा है, तुझमें व्रतों के पालन करने कराने की क्षमता है।

पूर्व मन्त्र में पृथिवी के देवयजन के अपने व्रत को दोहराते हुए देवयाजक ने कहा है, "मैं प्रेय-पाश से सर्वथा मुक्त होरहा हूं और आत्मैश्वर्यों की पुष्टि से सुपुष्ट रहता हुआ मैं विश्व के सकल मानवों के दिव्यीकरण की सुसेवा के लिये अन्त तक सुहुत समर्पित रहूंगा"। अपने पति की इस प्रतिज्ञा को दृढ़मूल करने की भावना से उद्भावित होकर देवयाजिका ने यहां कहा है, "तू प्राज्ञ व्रतपति है। तुझमें अपने व्रत की सम्पूर्ति की पूर्ण क्षमता है। व्रतपूर्ति की तेरी व्रत-प्रतिज्ञा सफलीभूत होकर रहेगी"।

२) (तव या तनूः) तेरी जो जीवनी है, वह (मयि अभूत्) मुझमें हुई हुई है, मेरी (एषा सा) यह वह [जीवनी] (त्वयि) तुझ में।

३) (या-उ मम तनूः) जोकि मेरी जीवनी है, वह (त्वयि अभूत्) तुझमें हुई हुई है, तेरी (इयं सा) यह वह [जीवनी[(मयि) मुझमें।

४) (अग्ने व्रत-पते)! (नौ व्रतानि यथा-यथं) हम दोनों के व्रत ठीक-ठीक/यथावत् [संसिद्ध होंगे]।

मन्त्र १ में अपने देवयाजक पति का वरण करके देवयाजिका ने मन्त्र ६ में कहा था, "तेरी जो यह जोवनी है वह मुझमें प्रविष्ट है और मेरी जो

यह जीवनी है वह तुझमें प्रविष्ट है"। यहां वह कहती है "हमारे परस्पर के वरण के उस शुभ क्षण से ही तेरी जो यह जीवनी है वह मुझमें प्रविष्ट हुई हुई है और मेरी जो यह जीवनी है वह तुझमें प्रविष्ट हुई हुई है। तू और मैं दोनों एक हैं, एकाकार हैं, एक जान दो देह हैं। हम दोनों एक हैं तो हमारे व्रत भी एक हैं। तेरा व्रत मेरा व्रत है और मेरा व्रत तेरा व्रत है। तू व्रतपति है। मेरे व्रत की तूने यथावत् रक्षा की है। मैंने तेरे व्रत की यथावत् रक्षा की है। हम दोनों मिलकर देवयजन के व्रतों की यथावत् संसाधना करेंगे और अवश्यमेव सफलकाम होंगे"।

यह कहते कहते देवयाजिका भावमग्न होजाती है। अपने देवयाजक पति की दिव्य साधना में वह अपना जो दिव्य भाग सम्पादन कर पाई है, उससे उसे जो सार्वभौम यश और सम्मान मिला है, उससे उसे जो आत्मसन्तोष हुआ है, उससे उसका जो आत्मविकास हुआ है, और इन सब से बढ़कर उसके अपने प्रियतम देवयाजक पति ने उसकी सहदीक्षा और उसके सहतप से देवयजन में जो संसिद्धि और सफलता प्राप्त की है, एतदर्थ वह प्रभु को धन्यवाद देने लगती है—प्रभो! मेरा परम सौभाग्य है कि तेरी कृपा से मेरे (दीक्षा-पतिः) दीक्षा-पति ने (मे दीक्षां) मेरी दीक्षा को (अनु-अमंस्त) अनुमाना है, मेरे (तपःपतिः) तपःपति ने [मेरे] (तपः अनु अमंस्त) तप को अनुमाना है।

मन्त्र ६ में देवयाजिका ने मनःकामना की थी, "मेरा दीक्षापति, दीक्षादाता मेरा पति, मेरी दीक्षा को अनुमाने, मेरी दीक्षा का सदा ध्यानपूर्वक निर्वहन कराये"।

दीक्षा में सफलकाम होकर यहां वह कहरही है, "दीक्षापति ने मेरी दीक्षा को अनुमाना है। दीक्षादाता मेरे पति ने मेरी दीक्षा को सफलतापूर्वक निर्वाहा है"।

मन्त्र ६ में देवयाजिका ने मनःकामना की थी, "मेरा तपःपति मेरे तप को अनुमाने, मेरे तप की रक्षा करे और मेरे तप को अक्षुण्ण बनाये रहे"। तप से तपःपूत होकर यहां वह कहरही है, "तपःपति ने मेरे तप को अनुमाना है। मेरे तप की रक्षा करके उसने मुझे तपःपूत किया है"।

प्राज्ञ व्रतपते,
तू है व्रतपा तुझमें व्रतपा,
तेरी जो है तनू,
होगयी है वह मुझमें,
मेरी जो है तनू,
होगयी है वह तुझमें,
जोकि मेरी तनू,
होगयी है वह तुझमें,
तेरी यह वह तनू,
होगयी है वह मुझमें।
हम दोनों के व्रत,
संसिद्ध यथावत् होंगे।
दीक्षापति ने,
मेरी दीक्षा को अनुमाना,
तपःपति ने,
मेरे तप को अनुमाना है॥

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा॥
(य० ५/३८) (य० ५/४१)
उरु विष्णो वि-क्रमस्व उरु क्षयाय नः कृधि।
घृतं घृत-योने पिब प्र-प्र यज्ञ-पतिं तिर स्वाहा॥

और समस्त मानव प्रजा के साथ भावविभोर होकर वह प्रभु से प्रार्थना करने लगती है।

१) (घृत-योने विष्णो) प्रेममय विष्णो ! (घृतं पिब) घृत पी, हमारे स्नेह का पान कर, हमारी प्रेमपूर्ण विनय को स्वीकार कर।

२) घृत-योने विष्णो ! (यज्ञ-पतिं) यज्ञपति को, देवयजन की रक्षा करनेवाले इस देवयाजक को (उरु वि-क्रमस्व) बहुत विक्रमशील कर, अतिशय प्रगतिशील बनाये रख। इसे इतना विशाल और व्यापक विक्रमशील रख कि यह सम्पूर्ण पृथिवी के दिव्यीकरण की साध को संसिद्ध कर और करा सके।

३) घृत-योने विष्णो ! (यज्ञ-पतिं) यज्ञपति को (नः क्षयाय) हमारे निवासार्थ (उरु कृधि) विशाल करदे। हमारे निवास के लिये इस देवयाजक के प्रभाव को सम्पूर्ण पृथिवी पर व्यापदे।

४) घृत-योने विष्णो ! (यज्ञ-पतिं) यज्ञपति को (प्र-प्र तिर) प्रकृष्टतया प्रभूततया तार। इस देवयाजक को प्रत्येक कठिनाई और प्रत्येक बाधा से पार उतारता रह।

प्रभु से विनय करते करते देवयाजक से मुख समुख होकर वे उसे सम्बोधन करते हैं—हम तुझ पर (स्वाहा) बलिहारी जाते हैं, स्व सर्वस्व न्योछावर करते हैं।

प्रेममय विष्णो,
हमारे प्रेमघृत का पान करले।
देवयाजक यज्ञपति को,
बहुत विक्रमशाली रखना।
हमारे सुनिवास-हेतु,
व्यापदे प्रभाव इसका।
तारते रहना इसे,
प्रत्येक बाधा विघ्न भय से॥

सूक्ति—**प्रप्र यज्ञपतिं तिर।**
यज्ञपति को भूयोभूयः तार॥

अत्यन्याँ अगां नान्याँ उपागामर्वाक्त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्यः। तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्तां विष्णवे त्वा। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः॥
(य० ५/४२)

अति अन्यान् अगां न अन्यान् उप-अगां अर्वाक् त्वा परेभ्यः अविदं परःअवरेभ्यः। तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देव-यज्यायै देवाः त्वा देव-यज्यायै जुषन्तां विष्णवे त्वा। ओषधे त्रायस्व स्व-धिते मा एनं हिंसीः॥

विशाल जनसमूह समुपस्थित है और सबसे आगे खड़ी हुई है देवयाजक की देवयाजिका पत्नी। देवयाजिका ने सम्पूर्ण जनसमूह के साथ प्रभु से प्रार्थना की, "प्रेममय प्रभो ! मेरे देवयाजक यज्ञपति को सदा विक्रमशाली रख, हमारे सुनिवास के लिये उसे व्याप, उसे सर्वतः तार", और सम्पूर्ण जनसमूह अपनी सम्पूर्ण आत्मप्रीति के साथ बोल उठता है, "देवयाजक, हम तेरे लिये स्व सर्वस्व समर्पण करते हैं।"

अपनी भार्या की और जन-जन की इस प्रार्थना और अभ्यर्चना से द्रवित होकर देवयाजक देवयजन में अपनी सफलता के एक महान् रहस्य का उद्घाटन करता है—

१) मैंने (अन्यान् अति-अगां) अन्यों को अतिगमन किया है।

२) मैंने (अन्यान् न उप-अगां) अन्यों को उपगमन नहीं किया है।

अतिगमन का अर्थ है दूर से बचकर निकलते

हुए आगे ही आगे बढ़ते चले जाना। उपगमन का अर्थ है समीप जाकर टकराना।

कार्य जितना वरणीय, विशाल, व्यापक और महान् होता है, कार्यकर्ता के उतने ही अधिक विरोधी भी होते हैं। यदि कार्यकर्ता अपने विरोधियों से टकराने लगता है तो उसके समय और उसकी शक्ति का अपने विरोधियों से निपटने में अपव्यय होता है और उसका मुख्य कार्य पड़ा रह जाता है। यदि कार्यकर्ता अपने विरोधियों से न टकराकर, अपने विरोधियों से बचकर, आगे निकलता रहता है तो उसके समय और शक्ति का लेशमात्र अपव्यय नहीं होता है और उसके कार्य की प्रगति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती रहती है। विरोधियों से टकराने में कार्यकर्ता की आन्तरिक स्थिति क्षुब्ध, अशान्त और असन्तुलित रहती है और परिणामस्वरूप कार्य जितनी सुन्दरता और शोभनीयता के साथ होना चाहिये, उतनी सुन्दरता और शोभनीयता के साथ नहीं हो पाता है। मार्ग में आड़े आनेवाले विरोधियों से बिना टकराये, उनसे बचकर, आगे बढ़ने की नीति में निस्सन्देह निश्चित सफलता का जो रहस्य निहित है, देवयाजक ने उसका स्वयं साक्षात् अनुभव किया है। उस रहस्य का उद्घाटन उसने बड़े ही सारगर्भित शब्दों में किया है—अत्यन्याँ अगां नान्याँ उपागाम्, मैंने अन्यों [विरोधियों] का अतिगमन किया है, मैंने अन्यों का उपगमन नहीं किया है। मैं विरोधियों से बचकर आगे निकलता रहा हूं, मैं विरोधियों से कभी टकराया नहीं हूं। इसी में मेरी सफलता का रहस्य संनिहित है।

३) देवयाजक की इस रहस्योक्ति को सुनकर प्रत्येक के मुख से अनायास ही निकल पड़ता है—निस्सन्देह, देवयाजक! मैने सदा ही (त्वा) तुझे (परेभ्यः अर्वाक्) परों के प्रति अर्वाक् तथा (अवरेभ्यः परः) अवरों के प्रति पर (अविदं) पाया है।

यह देवयाजक की शालीनता की दिव्यता का द्योतन है।

अर्वाक् का अर्थ है छोटा, विनम्र। पर का अर्थ है परम, महान्, शिष्ट, श्रेष्ठ, उत्तम, प्रकृष्ट। अवर का अर्थ है अ-वर, नहीं वर, अश्रेष्ठ, निकृष्ट दुर्जन।

जन-जन ने सदा ही देवयाजक को श्रेष्ठों के प्रति विनम्र और दुर्जनों के प्रति श्रेष्ठ पाया है। उसका यह आदर्श दिव्य शील पुरुषोत्तमों के लिये सर्वथा अनुकरणीय है। जो दिव्य देव होते हैं, वे शिष्ट श्रेष्ठ पुरुषों के प्रति अपने को शिशुवत् छोटा [विनम्र] रखते हैं और दुरात्माओं के प्रति वे अपने बड़प्पन का संवहन करते हैं। बड़ों के प्रति पुत्र और छोटों [अवरों] के प्रति पिता—यह देवयाजक का दिव्य शील है।

४) देवयाजक के इस साधु शील पर मुग्ध होकर, उसे शिरोधार्य करती हुई सारी प्रजा कह उठती है—(देव वनस्पते) दिव्य वटवृक्ष! हम (तं त्वा) उस तुझे (देव-यज्यायै) देव-यजन के लिये (जुषामहे) प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं।

वनस्पतिः वनःपतिः। वनों में, वनवृक्षों में, सबसे बड़ा और असंख्य-वल्श [असंख्य-अंकुर] होने से वटवृक्ष वनस्पति है। विश्वाच्छादक और असंख्य दिव्यांकुरों [दिव्यताओं] से युक्त होने के कारण यहां देवयाजक को देव वनस्पते सम्बोधन से सम्बोधित किया गया है।

"असंख्य दिव्यांकुरों से सब ओर फैलने और व्यापने वाले देवयाजक! हम उस तुझ दिव्य वटवृक्ष को देवयजन के लिये आत्मप्रेम के साथ सेवन-स्वीकार-शिरोधार्य करते हैं।"

५) अब सम्पूर्ण मानव-प्रजा सुकामना करती है-(देव वनस्पते) दिव्य वटवृक्ष! व्यापनशील देवयाजक! (देवाः) दिव्यतायें (जुषन्तां) सप्रेम सेवन करती रहें (त्वा देव-यज्यायै) तुझे देवयजन के लिये, (त्वा विष्णवे) तुझे विष्णु के लिये, विष्णु के इस वैष्णव देवयजन के लिये।

६) और अब वे प्रार्थना करते हैं—(ओषधे)! इसे

(त्रायस्व) तार, नीरोग और स्वस्थ रख।

ओष [दाह, जलन] और दोष [रोग] का धि [शोधन] करनेवाली वस्तु को ओषधि कहते हैं। परमात्मा ओषधि है, वह ओषधि, जो अन्तः बाह्य सकल दाहों और शारीरिक व आत्मिक सकल दोषों का निवारण करके मानव जीवन को सर्वतः स्वस्थ बनाती है। जो भी परमात्म-ओषधि का आत्मना सेवन करते रहते हैं, वे सर्वतः शुद्ध सुदिव्य रहते हैं। मानव प्रजा ने देवयाजक के लिये यहां बड़ी ही सुन्दर प्रार्थना की है—सर्वदोषनिवारक प्रभो! इस देवयाजक को सदा सर्वदा इसी प्रकार निर्दोष और निर्विकार रखता हुआ इसे दिव्यताओं से सदा स्वस्थ रख।

७) मन्त्रान्त में मानव प्रजा ने एक बड़ी ही महत्त्व-पूर्ण शुभ कामना की है—(स्व-धिते)! (एनं मा हिंसीः) इसे मत हिंस, इस देवयाजक की हिंसा न कर।

स्वधिति शब्द का प्रयोग यहां स्व-धिति, स्व-धारणशक्ति अथवा आत्मधारणा के अर्थ में हुआ है।

हन हिंसागत्योः। हिंसा, हानि, त्याग और गति—ये भाव हन धातु में निहित हैं। हिंसीः क्रिया का प्रयोग यहां परित्याग के अर्थ में हुआ है।

देवयाजक की साधना प्रत्यक्षतः अविचल आत्मधारणा की अपेक्षा रखती है। आत्मधारणा ही उसकी दिव्य साध का परम साधन है। आत्मधारणा के बल पर ही वह पृथिवी के देवयजन में सफलकाम हुआ है और उसी के बल पर वह उसकी सम्पूर्ति कर सकेगा। आत्मधारणा अक्षुण्ण बनी रहेगी तो धन जन आदि अन्य सब साधन स्वयमेव खिंचे चले आयेंगे। यदि आत्मधारणा ने उसका परित्याग कर दिया अथवा उसका साथ छोड़ दिया, तो उसका यज्ञ भ्रष्ट होजायेगा। स्वधारणा से युक्त रहता हुआ ही वह अन्त तक दिव्यीकरण के महा यज्ञ का अनवरत अनुष्ठान करता रह सकता है। इसी भावना से मानव-प्रजा ने सुकामना की है—देवयाजक की आत्म-धारणे! तू कभी कदापि इस देवयाजक का परित्याग न कर। तू इसके भीतर अन्त तक प्रस्थापित रह।

अन्यों से बचकर निकला हूं,
अन्यों को न विरोधा मैंने।
मैंने सदा तुझे पाया है,
शिष्टों के प्रति विनम्र,
और छोटों के प्रति उदार।
सेवन करते हैं सप्रेम,
हम देवयजन के लिये उस तुझे,
देव वनस्पते।
सेवन करें सप्रेम,
उस तुझे,
देवयजन के हेतु,
उस तुझे,
विष्णुयाग के लिये।
ओषधे तार,
न इसको त्याग,
स्व-धिते॥

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या सम्भव।
अयं हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय। हेम
अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो वि रोह सहस्रवल्शा वि वयं रुमेह॥

(य० ५/४३)

द्यां मा लेखीः अन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या सं-भव।
अयं हि त्वा स्व-धितिः तेतिजानः प्र-निनाय महते सौभगाय। हेम
अतः त्वं देव वनस्पते शत-वल्शः वि-रोह सहस्र-वल्शाः वि वयं रुमेह॥

देवयाजक जहां-जहां जारहा है, वहीं-वहीं मानव-प्रजा द्वारा उसे उत्प्रेरणा दी जारही है—
१) (द्यां मा लेखीः) द्यौ को मत गिरा, (अन्तरिक्षं मा हिंसीः) अन्तरिक्ष को मत हिंस, (पृथिव्या सं-भव) पृथिवी के साथ संयुक्त होजा/संयुक्त रह।

जैसाकि मन्त्र २७ में व्याख्यात किया गया है, द्यौ का प्रयोग हुआ है मस्तिष्क के अर्थ में और अन्तरिक्ष का अन्तःकरण अथवा हृदय के अर्थ में।

लेख लेखा स्खलने। लेख व लेखा, इन दोनों धातुओं का प्रयोग स्खलन, पतन, फिसलने, फिसल कर गिरने, के अर्थ में होता है।

उत्प्रेरणा आरोहण का सोपान है। उत् का अर्थ है ऊंचा। उत्-प्रेरणा का अर्थ है ऊंचा चढ़ने की प्रेरणा, ऊपर उठने की प्रेरणा। उत्प्रेरणा से आरोहण होता है। अवप्रेरणा से स्खलन अथवा पतन होता है। उत्कर्षशील साधक जब उत्कर्ष की ओर बढ़ रहा होता है, तब जहां तहां यदा कदा ऐसे उत्ताल चढ़ाव और ऐसे विकट मोड़ आते हैं कि उसकी चाल शिथलाने लगती है और उसका साहस अपि च उत्साह कुण्ठित होने लगता है। ऐसे अवसरों पर सार्वजनिक उत्प्रेरणायें पुनः उसके पगों में दृढ़ता, उसके साहस में अविचलता और उसके उत्साह में ध्रुवता का संचार करती हैं। साधक नवीन वेग और नवीन ओज के साथ उत्कर्ष के प्रगतिपथ पर अग्रसर होता रहता है। सार्वजनिक अभिनन्दनपत्रों अथवा मानपत्रों का मूल सार्वजनिक उत्प्रेरणाओं का प्रवहन ही था।

देवयाजक को यहां कितनी उदात्त और प्रबल प्रेरणायें दी गयी हैं।

"देवयाजक! (द्यां मा लेखीः) मस्तिष्क को मत स्खला, मस्तिष्क को मत गिरा, दिमाग़ में स्खलन न आने दे, अविचल स्थिर स्थित प्रज्ञा से युक्त रह"।

"देवयाजक! (अन्तरिक्षं मा हिंसीः) अन्तःकरण को मत हिंस, हृदय को मत हन, हृदय का हनन न कर, भय और संशय से ग्रस्त होकर हृदय को परास्त न होने दे, अपराजित हृदय से अपनी दिव्य साधना में निरत रह, आत्मविश्वास से युक्त रह, आत्मधृति से सुयुक्त रह"।

"देवयाजक! (पृथिव्या सं-भव) पृथिवी के साथ संयुक्त रह, पृथिवी की समस्याओं का समाधान कर, पृथिवी की उलझनों को सुलझा, स्थित-प्रज्ञा और अपराजित हृदय से पृथिवी के दिव्यीकरण की दिव्य साध में तत्परता के साथ जुष्ट संजुष्ट रह, निरन्तर जुटा रह"।

२) देवयाजक! तेरी (अयं स्व-धितिः हि) यह स्व-धिति ही, यह स्व-धारणाशक्ति ही, यह स्व-धारणा ही, यह आत्म-धारणा ही (तेतिजानः) तीव्र [तेज] रहती हुई (त्वा) तुझे (महते सोभगाय) महत् सुभगत्व के प्रति, विशाल सौभाग्य के प्रति (प्र-निनाय) प्रकृष्टतया लेजाती रही है, निरन्तर प्र-नयन करती रही है।

३) (अतः) इसीसे, इस [आत्म-धारणा] के आश्रय से ही, (देव वनस्पते) दिव्य वनस्पते! वटवृक्ष के समान दिव्यता से फैलनेवाले! वटवृक्ष के समान सम्पूर्ण पृथिवी पर दिव्यतांकुरों को फैलानेवाले! (त्वं) तू (शत-वल्शः) शतांकुर होकर (वि-रोह) सब ओर उग, सब ओर फैलता रह, विश्वतः व्यापता रह, सब ओर दिव्यता की व्याप्ति करता रह, और इसी आत्मधारणा के आश्रय से (सहस्र-वल्शाः) सहस्रांकुर होकर (वयं वि-रुहेम) हम सर्वतः उगें, हमें चाहिये कि हम दिव्यतांकुरों से अंकुरित होकर विश्वतः दिव्यता का प्रसार करें।

देवयाजक को उत्प्रेरित करते हुये यहां मानव-प्रजा ने भी उत्प्रेरणा सम्प्राप्त की है।

देवयाजक में और मानव-प्रजा में कोई अन्तर नहीं है। देवयाजक के पास भी एक द्यौ [मस्तिष्क], एक अन्तरिक्ष [हृदय], दो नेत्र, दो श्रोत्र, नासिका, मुख, आदि इन्द्रियां हैं। मानव-प्रजा में से प्रत्येक व्यक्ति के पास भी ये सब कुछ हैं। अन्तर है तो केवल

स्वधिति का है, आत्मधारणा का है। देवयाजक की आत्मधारणा तीव्र [तेज] है, प्रजा की स्वधिति मन्द है। यदि प्रजा की स्वधिति भी तीव्र होजाये तो देवयाजक का असीम प्रयास चिरस्थायी साफल्य से समन्वित हो जाये। जन-जन में इस तथ्य की अनुभूति का जागरण हुआ है और उसी जागरण की प्रचेतना से प्रचेतित होकर मानव-प्रजा के मुख से सर्वत्र उद्घोषित होरहा है—"देवयाचक! आत्मधृति से सम्पन्न होकर जिस प्रकार तू वटवृक्ष के समान दिव्यतांकुर से शत-वल्श [असंख्यांकुर] होकर सम्पूर्ण पृथिवी पर व्यापता रहा है औरसम्पूर्ण पृथिवी का दिव्यीकरण करता रहा है, उसी प्रकार हमें भी चाहिये कि हम अपनी स्वधिति का तेजीकरण करते हुये वटवृक्ष के समान दिव्यतांकुरों से सहस्र-वल्श [असंख्यांकुर] होकर, सम्पूर्ण पृथिवी पर व्यापते रहें और तेरे द्वारा दिव्यीकृत पृथिवी का निरन्तर दिव्यीकरण करते रहें। हम भी दिव्य दम्पती बनें और दिव्यीकरण के इस दिव्य प्रवाह को वंशानुवंश अनवरत सुप्रवाहित रखें"।

द्यौ को मत गिरा,
अन्तरिक्ष को मत हिंस,
पृथिवी से रह संयुक्त।
यह स्वधिति ही,
रहती हुई तेजोमयी,
लेजाती रही है तुझे,
महत् सौभाग्य साफल्य के प्रति।
इसी से देव वनस्पते,
विरोहण करता रह तू,
होकर शतांकुर,
विरोहण करते रहें हम,
होकर सहस्रांकुर॥

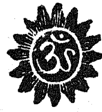
सूक्ति **द्यां मा लेखीः।**
मस्तिष्क को न गिरा,
स्थिर–मति रह,
स्थित–प्रज्ञ रह॥
अन्तरिक्षं मा हिंसीः।
अन्तःकरण को न हिंस,
हिम्मत न हार,
हृदय से अपराजित रह॥
पृथिव्या सम्भव।
पृथिवी से संयुक्त रह,
पृथिवी से जुट,
पृथिवी की समस्याओं को सुलझा॥
शतवल्शो वि रोह।
शतांकुर होकर विरोहण कर॥
सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम।
सहस्रांकुर होकर हम विरोहण करें॥

वेद-व्याख्या-ग्रन्थ

षष्ठ पुष्प



विद्यानन्द विदेह



यजुर्वेद-व्याख्या



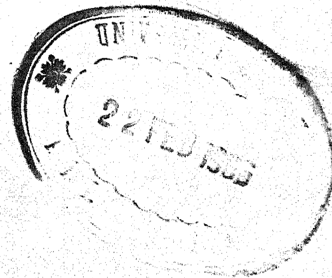
षष्ठ पुष्प

मानव प्रजा के दिव्यीकरण के
प्रवाह को सतत प्रवाहित
रखने के लिये

गृह और गुरुकुल में
साधनामय शिक्षा

अर्थात्

वैदिक शिक्षा-शास्त्र



विद्यानन्द विदेह

एक रुपया

234255

प्रथम संस्करण : २०१६ वि०

२००० : १९६२ ई०

प्रकाशक : वेदसंस्थान, अजमेर

मुद्रक : आदित्य मुद्रणालय, अजमेर



राय साहब पं० ब्रह्मदत्तजी भार्गव, उपाध्यक्ष, वेदसंस्थान, अजमेर, जिनके ५०१ रु० के दान से इस पुष्प का मूल्य २५ नये पैसे कम रखा गया है।

आत्म-निवेदन

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति ॥ (ऋ० १. १८. ७)

जिसके बिना सिद्ध जन की भी नहीं साधना होती सिद्ध ।
हांक रहा है योग धारणाओं का मेरी वही प्रवृद्ध ॥

वेदव्याख्याग्रन्थ का यह छटा पुष्प जनता की सेवा में मेरे हृदय के सम्पूर्ण प्यार के साथ प्रस्तुत है। पूर्व पुष्प के समान यह पुष्प भी पर्याप्त विलम्ब से प्रकाशित होरहा है। कारण प्रायः वे ही हैं, जो पञ्चम पुष्प के आत्मनिवेदन में व्यक्त किये गये हैं।

परिस्थितियों से परास्त होना मेरी साधना-संहिता में नहीं है। परिस्थितियों को परास्त करते हुए धीरे धीरे या शीघ्र शीघ्र आगे ही आगे बढ़ते जाना मेरे आचार-शास्त्र का प्रथम सूत्र है।

जबसे वेदसंस्थान दिल्ली का शुभारम्भ हुआ है, तबसे वेदसंस्थान, अजमेर की आर्थिक सहायता प्रायः बन्द सी रही है। सारा दान दिल्ली-भवन के निर्माण में लगता रहा है।

प्रारम्भ किये हुए कार्य को स्थगित रखने की तो कल्पना भी नहीं करनी चाहिये। पर अर्थाभाव के कारण भी इस पुष्प के मुद्रण में विलम्ब हुआ है, इसमें सन्देह नहीं।

वेदसंस्थान, अजमेर, द्वारा प्रकाशित साहित्य यदि साथ के साथ खपता रहे, तो उसकी आयमात्र से ही प्रकाशन का कार्य निर्बाधता और सुचारुता के साथ चलता रह सकता है। क्या इस दिशा में हाथ बटाना आपका कर्तव्य नहीं है ?

काम पूरा होगा और अवश्य होगा। पर समय कितना लगेगा—इस प्रश्न का उत्तर मुझे नहीं, वेदप्रेमियों को देना है, क्योंकि उनके सहयोग से ही यह अथाह कार्य पूरा होना है।

वेदसंस्थान, अजमेर,
आषाढ़ कृ० १४, २०१६,
रविवार, १ जुलाई १९६२

—विद्यानन्द विदेह

यजुर्वेद-व्याख्या

छठा अध्याय

गृह और गुरुकुल में शिक्षा

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
आ ददे नार्यसीदमहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि ।
यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीर्दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा
पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि ॥ (य० ६/१)

[य० ५/२२, ५/२६, ३७/१]

देवस्य त्वा सवितुः प्र-सवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णः हस्ताभ्याम् ।
आ-ददे नारी असि इदं अहं रक्षसां ग्रीवाः अपि-कृन्तामि ।
यवः असि यवय अस्मत् द्वेषः यवय अरातीः दिवे त्वा
अन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्तां लोकाः पितृ-सदनाः पितृ-सदनं असि ॥

पांचवें अध्याय में पृथिवी के दिव्यीकरण की परम्परा को चिरस्थायी रखने के लिये दिव्य दाम्पत्य के निर्माण की शिक्षा दी गयी है। इस छठे अध्याय में मानव प्रजा के दिव्यीकरण के प्रवाह को सतत सन्तत निरन्तर सुप्रवाहित रखने के लिये पृथिवी पर बसे प्रत्येक गृह और गुरुकुल को साधनास्थल बनाने की शिक्षा दी गयी है।

शिक्षा और साक्षरता में अन्तर है। साक्षरता किताबी ज्ञान की देनेवाली है। शिक्षा जीवन-निर्मात्री है। साक्षर व्यक्ति अक्षर-ज्ञान कराकर मानव सन्तति को साक्षर बना सकते हैं। शिक्षा, जिसका लक्ष्य मानव सन्तति के जीवन का सुनिर्माण है, केवल साक्षर व्यक्तियों का कार्य नहीं है। यह उन व्यक्तियों का कार्य है, जो साक्षर होने के साथ साथ जीवन-साधना के संसिद्ध साधक भी हैं।

विश्व-विद्यालय, महा-विद्यालय, विद्यालय, कॉलेज, स्कूल, पाठशाला—ये वह स्थान हैं, जहां मानव सन्तति को साक्षर बनाकर किताबी ज्ञान कराया जाता है और बहुत हुआ तो भौतिक विज्ञान सिखाया जाता है। गृहस्थी का गृह वह साधनास्थल है, जहां मानव सन्तति का जन्म होता है, जहां मानव सन्तति को शिक्षा दी जानी चाहिये और जहां सक्रिय साधना द्वारा मानव सन्तति को दिव्य देव और दिव्य देवी बनाया जा सकता है।

शिक्षा का अर्थ है साधना+साक्षरता। साक्षरता का अर्थ है साधनाहीन अक्षरज्ञान, साधनाविहीन पुस्तकाध्ययन। शिक्षा का लक्ष्य है मानव सन्तति का सुमानवीकरण। साक्षरता का लक्ष्य है उपाधियों, डिग्रियों और डिप्लोमाओं से लादकर मानव सन्तति का पशूकरण। शिक्षा का परिणाम है मोक्ष, अथवा दुःख से अत्यन्तनिवृत्ति। साक्षरता का परिणाम है भोगप्रवृत्ति, आवश्यकताओं की वृद्धि और रोगग्रस्ती।

शिक्षा ही विशुद्ध मानवता की प्रतिपादिका और दिव्य मानवता की सुसम्पादिका है। किन्तु शिक्षा का आदि स्थल विद्यालय नहीं है, गृहालय है, जिसकी आदिम शिक्षिका है माता और द्वितीय शिक्षक है पिता। माता पिता की सुशिक्षा से सुशिक्षित बालक बालिका दीक्षित होकर जब गुरुकुलों या विद्यालयों में प्रविष्ट होते हैं, तब ही आचार्य और आचार्या उन्हें दिव्य देव और दिव्य देवी बनाने में सफल होते हैं, अन्यथा नहीं।

शिक्षा का प्रारम्भ माता के गर्भ से होता है। गर्भ-स्थिति से प्रारम्भ करके जन्म के उपरान्त पांच वर्ष की आयु तक बालक बालिका को माता शिक्षा करे। तदुपरान्त आठ वर्ष की आयु तक पिता शिक्षा करे। आठ वर्ष का होजाने पर आचार्य आचार्या बालक बालिका को दीक्षित करके अपने आचार्यकुल, आचार्याकुल, गुरुकुल अथवा विद्यालय में प्रविष्ट करें। शिक्षा का यह सहज स्वाभाविक सुष्ठु क्रम है। क्रम कुछ भी हो, यह निश्चित है कि बालक बालिका का आठ वर्ष की आयु तक का समय उसके संस्कार-संस्कृति का समय है। बाल-जीवन में आठ वर्ष की आयु तक जो सु या कु संस्कार समंकित होजाते हैं, बालक बालिका उन्हीं के आधार पर सुविकसित या कुविकसित होते रहते हैं।

बालक की आयु का आठ वर्ष तक का समय बाल्यावस्था कहलाता है। बाल्यावस्था बड़ा सुकोमल समय है। इस समय में बालक बालिका को जितना शुद्ध, सुसंस्कृत और सुसंस्कारवान् बना लिया जायेगा, आगे के शेष समस्त जीवन में वह उतना ही दिव्य संदिव्य होता रहेगा। बाल्यावस्था में जीवन की चादर जितनी पवित्र, पुनीत और निर्मल रखी जायेगी, उसपर यावदायुष्य दिव्यता का रङ्ग उतनी ही सरलता और शोभनीयता के साथ खिलता चला जायेगा। बाल्यावस्था में गृहविद्यालय के भीतर जीवन का जितना परिष्कार और परिमार्जन होगा, मानव जाति के दिव्यीकरण के प्रवाह को उतना ही सुप्रवाहित और चिरप्रवाहित रखा जा सकेगा।

बाल्यावस्था मानव जीवन का मूल है। मूल को सींचने से ही वृक्ष फलते फूलते हैं। मूल के नष्ट होने पर न पत्ते लगते हैं, न फूल खिलते हैं, न फल लगते हैं। बालक मानव का पिता है। आदर्श बच्चे ही आदर्श मानव बनते हैं। दिव्य बच्चे ही दिव्य मानव बना करते हैं। महान् बच्चे ही महानात्मा, महा मानव और महा पुरुष बनते हैं। मही बालिकायें ही मही महिला और मही देवी बन सकती हैं। और वह गृह-महाविद्यालय ही है, जहां बाल्यावस्था में आदर्श, दिव्य, महान् बच्चों की सृष्टि सृष्ट की जाती है। आदर्श, दिव्य और महान् माता पिता ही हैं, जो गृह-महाविद्यालय के आचार्या तथा आचार्य पद को सुशोभनीयता के साथ सुशोभित कर सकते हैं। पत्नी ही है, जो गृहरूपी सुमहान् साधनास्थल की आदर्श साधिका सिद्ध हो सकती है। इसी भावपूर्ण भावना से पति अपनी पत्नी से कहता है—देवि ! तू (नारी असि) नारी है। मैं (त्वा) तुझे (देवस्य सवितुः प्र-सवे) देव सविता के समुत्पन्न संसार में (आ-ददे) ग्रहण करता हूं, (अश्विनोः बाहुभ्यां) अश्वियों के दो बाहुओं से, तथा (पूष्णः हस्ताभ्यां) पूषा के दो हाथों से।

नृ नये धातु से नारी शब्द का जन्म हुआ है। नारी का अर्थ है नयन करनेवाली, नेतृत्व करनेवाली, लेजानेवाली, आगे बढ़ानेवाली।

जैसाकि यजुः १/१० और ५/२२ में व्याख्यात किया गया है, (१) प्र-सव का अर्थ है प्रकृष्ट रचना, सुन्दर संसार, (२) अश्विनोः का प्रयोग हुआ है दो नासिका-छिद्रों के लिये, जिनके दो बाहु [पुरुषार्थ-साधन] हैं प्राण और अपान, (३) पूषा है शरीर का पोषण और पुष्टीकरण करनेवाला आत्मा, जिसके दो हस्त [हनन-गमन-साधन] हैं मन और बुद्धि, जिनके द्वारा आत्मा दुरितों का हनन और भद्रों का गमन [प्राप्ति] करता है।

पत्नी गृह-महासंस्था की नयनकर्त्री वह आदिम नेत्री है, जो गृह में जन्मनेवाली मानव प्रजा का सुनयन करके उनमें राष्ट्र और विश्व के आदर्श नागरिकों व नागरिकाओं का बीज-वपन करती है। पत्नी गृह-महाविद्यालय की वह आचार्या है, जो न केवल जन्म से, अपि तु गर्भ से ही, मानव सन्तति का न केवल शिक्षण, अपि च उनका परिष्करण तथा सुसंस्करण भी करती है।

बाह्ट प्रयत्ने। बाह्ट धातु का अर्थ है प्रयत्न, पुरुषार्थ। दो छिद्रों से युक्त नासिका प्राणेन्द्रिय है, जिसके प्राण अपान रूपी दो बाहु [पुरुषार्थ-साधन] सतत सन्तत जीवन का संचार तथा मृत्यु का संहार करते रहते हैं। प्राण शरीर में जीवित कणों का, जीवन-तत्त्वों का, संचार करता रहता है। अपान शरीर में से मृत कणों का, निर्जीव तत्त्वों का, निराकरण करता रहता है।

हस्त का अर्थ है हिंसा-साधन और गति-साधन, हनन-साधन और प्राप्ति-साधन। आत्मा के दो हस्त हैं–मन और बुद्धि। मन से संकल्प किया जाता है और बुद्धि से चिन्तन। संकल्प और चिन्तन–ये दो साधन हैं, जिनके द्वारा आत्मा दुरितों का परासुवन [निराकरण] तथा भद्रों का आसुवन [सम्प्राप्ति] करता है।

देव सविता का यह समुत्पन्न संसार दुरित और भद्र का एक सतत द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में तथा प्रत्येक पिंड में अनवरत चल रहा है। यह द्वन्द्व प्रत्येक जीवन, परिवार, समाज और राष्ट्र में निरन्तर चलता रहता है।

पत्नी वह सुनयनकर्त्री प्राणेन्द्रिय है, जो गृह में जन्मने और पलने वाली जीवनियों में प्राणवत् पवित्र जीवित जीवन का संचार और अपानवत् मल का निराकरण करके उनके जीवनों का निखार करती रहती है। पत्नी का आत्मा वह पूषा है, जो अपने शिव संकल्प तथा निर्विकार चिन्तन के द्वारा उनके दुरितों का परासुवन और उनमें भद्रों का आसुवन करती है।

पति का अपनी पत्नी के प्रति यह सम्बोधन कि "तू नारी है। देव सविता के समुत्पन्न संसार में मैं तुझे अश्वियों के बाहुओं से तथा पूषा के हस्तों से ग्रहण करता हूं" उसमें उपरि-व्याख्यात रहस्य संनिहित है। पति की वह पत्नी ही है और सन्तति की वह माता ही है, जो गृह के वातावरण में जीवन का सतत संचार तथा निखार कर सकती है और साथ ही दुरितों का परासुवन तथा भद्रों का आसुवन करती रह सकती है।

देव सविता के इस समुत्पन्न संसार में अकेले की न कोई गति है, न कोई साधना। पत्नी के बिना पति निराधार है, तो पति के बिना पत्नी सर्वथा अबला है। पति पत्नी दो जीवन एक जान हैं। इसी तथ्य का उद्घाटन करता हुआ पति कहता है—देवि ! तू नारी है, आत्मजों की जीवनियों में जीवन का संचार और निखार करनेवाली तथा उनके दुरितों का परासुवन और उनमें भद्रों का आसुवन करनेवाली है, तो (इदं अहं) यह मैं (रक्षसां ग्रीवाः अपि–कृन्तामि) राक्षसों की ग्रीवाओं को निरन्तर काटता रहता हूं।

पत्नी नारी है। पति रक्षःहन है; राक्षसों का हनन करनेवाला है। जैसाकि पूर्व अध्यायों में स्थान स्थान पर उल्लेख किया जा चुका है, मोह, क्रोध, द्वेष, काम, अहंकार और लोभ—ये षड्विकार ही वे राक्षस हैं, जो वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में महा अनर्थों का कारण होते हैं। इनका हनन अथवा निर्मूलन यदि कहीं किया जा सकता है, तो वह गृह-विद्यालय ही है, कभी किया जा सकता है तो वह शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था ही है और यदि किसी के द्वारा किया जा सकता है तो वह पिताचार्य ही है। पत्नी का वह पति ही है और सन्तति का वह पिता ही है, जो गृह के वातावरण को निर्विकार रख सकता है। इसी तथ्य का अनुमोदन करती हुई पत्नी कहती है—१) देव ! तू (यवःअसि) यव है, (अस्मत् द्वेषः यवय अरातीः यवय) हमसे द्वेषों को दूर कर, अरातियों को दूर कर।

"यु अमिश्रणे मिश्रणे च—पृथक् करना और मिलाना" धातु से यवः शब्द बना है। यव का अर्थ है

वियुक्त करनेवाला और युक्त करनेवाला। जो दुरित से वियुक्त और भद्र से युक्त करता है, उसे यव कहते हैं।

द्वेषः शब्द का प्रयोग यहां उपलक्षण से उपर्युक्त षड्विकारों के लिये हुआ है।

राति का अर्थ है दान। अराति का अर्थ है अदान। अरातीः शब्द का प्रयोग हुआ है यहां अदानताओं, कृपणताओं, कार्पण्य-दोषों के लिये। उत्साहहीनता, आलस्य, प्रमाद, अव्यवस्था, अनियमितता, असंयम, मलिनता, अपवित्रता आदि स्वभावजन्य दोषों के लिये वेदों में प्रायः अरातीः शब्द का प्रयोग हुआ है।

"पति देव ! मैं नारी हूं। मैं अपने कर्तव्य का निर्वहन करूंगी। तू रक्षःहन है। तू षड्राक्षसों का हनन करेगा। इससे भी अधिक तू यव है। गृहकुलवासियों में से तुझे जहां षड्विकारों को दूर तथा अरातियों का निराकरण करते रहना है, वहां उन्हें सकल दुरितों से वियुक्त और समस्त भद्रों से युक्त भी रखना है।

२) तू (पितृ-सदनं असि) पितृ-सदन है, (पितृ-सदनाः लोकाः) पितृ-सदन लोक (त्वा दिवे, त्वा अन्तरिक्षाय, त्वा पृथिव्यै) तुझे द्यौ के लिये, तुझे अन्तरिक्ष के के लिये, तुझे पृथिवी के लिये (शुन्धन्तां) शोधते रहें।

पितृ शब्द का प्रयोग यहां पिता के अर्थ में हुआ है। सदन शब्द का प्रयोग हुआ है यहां स्थान के अर्थ में। लोकाः हैं वे लोग, जो आलोक से आलोकित हैं, जो अनुभव और ज्ञान की ज्योति से ज्योतित हैं।

मानव में मस्तिष्क है द्यौ-स्थानीय, हृदय है अन्तरिक्ष-स्थानीय और देह है पृथिवी-स्थानीय।

"पते ! मैं मातृ-सदन हूं, मातृ-स्थानीय हूं। तू पितृ-सदन है, पितृ-स्थानीय है। मैं माता के पुनीत पद पर प्रतिष्ठित हूं। तू पिता के पवित्र पद पर सुशोभित है। मेरा कार्य है सन्तान का लालन, पालन, पोषण और सुसंस्कृतिकरण तथा परिष्कार, तो तेरा कर्तव्य है उनके मस्तिष्क, हृदय तथा उनके देह का शोधन। उनके मस्तिष्क के शोधन से उन्हें प्रबुद्ध करना, उनके हृदय के शोधन से उनका परिष्कार करना, उनके देह के शोधन से उन्हें संस्कारवान् बनाना—यह तेरा काम है। एतदर्थ पितृ-स्थानीय लोग अपने अनुभव और ज्ञान से सदा तेरा शोधन, बोधन और परिष्कार करते रहें।

नारी है तू,
ग्रहण करता हूं तुझे मैं,
देव सविता के प्रसव में,
अश्वियों के बाहुओं से,
और हस्तों से पूषा के।
काटता रहता हूं यह मैं,
ग्रीवाओं को राक्षसों की।
यव है तू कर दूर तू हमसे,
द्वेषों और अरातियों को।
तू है पितृ-सदन
आलोकित वे लोक पितर जन,
रहें शोधते तुझे द्यौ के लिये,
अन्तरिक्ष के लिये और पृथिवी के लिये॥

अग्रेणीरसि स्वावेश उन्नेतृणामेतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यति देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः । द्यामग्रेणास्पृक्ष आन्तरिक्षं मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणादृंहीः ॥ (य०६/२)

अग्रे-नीः असि सु-आवेशः उत्-नेतृणां एतस्य वित्तात् अधि त्वा स्थास्यति देवः त्वा सविता मध्वा आ-नक्तु सु-पिप्पलाभ्यः त्वा ओषधीभ्यः । द्यां अग्रेण अस्पृक्षः आ अन्तरिक्षं मध्येन अप्राः पृथिवीं उपरेण अदृंहीः ॥

पति के प्रति अपने आत्मनिवेदन को जारी रखती हुई पत्नी कहरही है—

१) पिता-स्थानीय होने के नाते तू (उत्-नेतृणां अग्रे-नीः सु-आवेशः असि) उत्-नेताओं का आगे-लेजानेवाला तथा सु-आवेश है, (एतस्य वित्तात्) इसका ज्ञान कर, इसका ध्यान रख।

उत् का अर्थ है ऊंचा। उत्-नेता हैं वे ऊंचे उठते हुए, उदीयमान, आरोहण करते हुए, उगते हुए, शिशु, जो आज माता पिता की गोद में और गृह-महासंस्था के आंगन में खेल रहे हैं। आज के शिशु अथवा सन्तान ही परिवार, समाज और राष्ट्र के उदीयमान नेता हैं।

अग्रे-णीः=आगे लेजानेवाला, समुन्नत करनेवाला, जीवन की प्रत्येक सत्य, शिव और सुन्दर दिशा में आगे बढ़ानेवाला, जीवन-उन्नायक, विधि-विधायक, मार्ग-दर्शक।

स्वावेशः=सु-आ-वेशः । सु सुष्ठुतया, आ समन्तात् [पूर्णतया], वेश प्रवेश। सुष्ठुतया और पूर्णतया प्रवेश करने कराने का नाम है स्वावेश। किसमें क्या प्रवेश करने कराने वाला ? जीवन में जीवन का प्रवेश करने कराने वाला, जीवन में वास्तविक जीवन का संचार करनेवाला।

"पते ! उत्-नेताओं का पिता होने के नाते तू उनका अग्रणी तथा स्वावेश है। तू उनका अग्रणी तथा जीवन-सम्पादक है। इस तथ्य का तू सदा ध्यान रख"।

२) (देवः सविता त्वा अधि-स्थास्यति) देव सविता तुझे अधिष्ठातेगा, देव सविता तुझपर अधिष्ठातृत्व करेगा, देव सविता तेरा अधिष्ठाता होगा।

देव सविता है अखिल दिव्यताओं से युक्त सृष्टि का रचयिता, संचालक तथा प्रकाशक परमात्मा।

"देव सविता तेरा अधिष्ठाता होगा", इस वाक्य में गहन आस्तिक्य संनिहित है। अधिष्ठाता अपने अधीनस्थ पर दृष्टि रखता हुआ देखता रहता है कि वह [अधीनस्थ] अपने कर्तव्य का यथावत् पालन कररहा है या नहीं। जिस प्रकार सृष्टि की रचना करके देव सविता अपने प्राकृत नियमों के द्वारा निरन्तर उसका संचालन तथा प्रकाशन कररहा है, उसी प्रकार स्वोत्पन्न सन्ततिरूपी सृष्टि का सुसंचालन और प्रकाशन करना पिता का कर्तव्य कर्म और धर्म है। देव सविता देखरहा है कि प्रत्येक पिता अपनी सन्तति का सुष्ठ संचालन और ज्योतिष्करण कररहा है या नहीं। जो पिता ऐसा नहीं कररहा, वह प्रभु के नियम का पालन नहीं कररहा है और वह विधाता के विधान से दुःख की मार खायेगा। उसकी सन्तति भ्रष्ट होकर दारुण दुःख का कारण होगी।

३) देव सविता (त्वा मध्वा) तुझे मधु से, (त्वा सु-पिप्पलाभ्यः ओषधीभ्यः) तुझे सुफला ओषधियों से, (आ-नक्तु) सम्पूर्णतया सींचे।

मधु नाम शहद का है। जिन वनस्पतियों पर सुन्दर सुगन्धित पुष्प लगते हैं, मधु-मक्षिकायें उन

गृहस्थी का गृह भोगालय और रोगालय नहीं है। यह तो वह योगालय अथवा साधनालय है, जिसमें आत्मविष्णु तथा प्रमातमविष्णु का साक्षात्कार किया जाता है। यह तो वह पुनीत धाम है, जिसमें आत्म-विष्णु आत्म-अवस्थित होकर परमात्म-विष्णु में प्रविष्ट होता है। यह तो वह आश्रम है, जहां लोक और परलोक की श्रमसाध्य साधना की जाती है।

३) मैं (त्वा ब्रह्म-वनि क्षत्र-वनि रायःपोष-वनि) तुझ ब्रह्म-सेवी, क्षत्र-सेवी तथा आत्मैश्वर्य की पुष्टि के सेवन करनेवाले को (परि-ऊहामि) सर्वतः वितर्कती हूं, सर्वतः विश्वास दिलाती हूं, आश्वस्त करती हूं।

ब्रह्म शब्द वेद में अधिकांश स्थलों पर ज्ञान अथवा विवेक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ज्ञानस्वरूप होने से परमात्मा ब्रह्म है। ज्ञानमय होने से आत्मा ब्रह्म है। ज्ञान का भण्डार होने से वेद की भी ब्रह्म संज्ञा है। ज्ञानपूर्वक रचा जाने से ब्रह्माण्ड का नाम भी ब्रह्म है। ब्रह्म-वनि का अर्थ है ज्ञान-सेवी, ज्ञान का सेवन करनेवाला, ज्ञानी, विवेकी।

क्षत्र नाम है शक्ति अथवा क्षमता का। क्षत्र-वनि का अर्थ है क्षमता-सेवी, क्षमता का सेवन करनेवाला, सक्षम। क्षमतावान् ही क्षत्र [राज्य, साम्राज्य] का सम्पादन करते हैं। क्षमतावान् ही राज्य साम्राज्य का संचालन करते हैं। क्षमतावान् ही गृह-साम्राज्य का सुसंचालन करते हैं।

रायःपोष-वनि, आत्मैश्वर्य की पुष्टि का सेवन करनेवाला, आत्मैश्वर्य का सतत संवर्धन करनेवाला, जो होता है, वह सदा सर्वदा आत्मसंबल से युक्त रहता हुआ साधना के पथ पर समारूढ़ रहता है।

पत्नी के पति और सन्तति के पिता के लिये यह आवश्यक है कि वह विवेकी, सक्षम तथा आत्म-संबलोपेत हो, अन्यथा वह गृहमहाविद्यालयरूपी महान् संस्था का यथावत् संचालन न कर सकेगा। इन तीनों गुणों से युक्त होने पर ही वह इस कार्य में अपनी सफलता के विषय में सर्वतः आश्वस्त हो सकता है। इस रहस्य का उद्घाटन करने के लिये ही वेदमाता ने पत्नी के मुख से कहलवाया है, "पते ! तू ज्ञानी है, सक्षम है, आत्मसंबल से युक्त है। मैं तुझे आश्वस्त करती हूं, तुझे विश्वास दिलाती हूं, कि तू इस गृह को उरुगाय विष्णु का परम पद बनाये रखने में सफलकाम होगा। तू इस सुमहान् संस्था का सुसंचालन करने में पूर्ण साफल्य प्राप्त करेगा"। आत्मविश्वास में ही विजय और साफल्य का निवास है। विश्वासः फलति सर्वत्र। विश्वास, आत्मविश्वास, जहां है, वहां विजय साफल्य में सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं।

४) (ब्रह्म दृंह) ज्ञान को बढ़ा, (क्षत्रं दृंह) क्षमता को बढ़ा, (आयुः दृंह) जीवन को बढ़ा, (प्रजां दृंह) प्रजा को बढ़ा।

दृह वृद्धौ, वृद्धि करना, बढ़ाना, उन्नत करना।

प्रजा शब्द का प्रयोग हुआ है यहां प्र-जा, प्रकृष्ट-सन्तान, सुसन्तान के अर्थ में।

इस सूक्ति में पत्नी ने गहन कामना-मिश्रित उत्प्रेरणा की है—

"पते ! ज्ञान, क्षमता तथा आत्मसंबल से युक्त जीवन पर आधारित होकर ही तू स्व सन्तान को सुसन्तान बना सकेगा। अतः दिन प्रति दिन तू अपने ज्ञान का वर्धन, अपनी क्षमता का संवर्धन तथा अपने जीवन का उन्नयन करता हुआ अपनी प्रजा को समुन्नत करता रह। उनके जीवन में संविकास करता रह। इन कलियों को विश्व-वाटिका का सुन्दर सुगन्धित पुष्प बना"।

तेरे जिन धामों की प्राप्ति-हेतु,
निरन्तर सतत कामना हम करते हैं,
तेरा गृह हो,
जहां भूरि-प्रकाशमयी रश्मियां प्राप्त हों

यहां ही बहु-स्तुत्य विष्णु का,
अव-धारित वह भूरि परम पद ।
मैं आश्वस्त सर्वतः करती,
हूं तुझ ब्रह्मवनि को,
क्षत्रवनि को,
रायस्पोषवनि को ।
बढ़ा ब्रह्म को, बढ़ा क्षत्र को,
बढ़ा आयु को, बढ़ा प्रजा को ॥

सूक्तिः—अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदम् ।
यहां ही है बहु-स्तुत्य विष्णु का वह परम पद ॥
ब्रह्म दृंह ।
ज्ञान बढ़ा ॥
क्षत्रं दृंह ।
क्षमता बढ़ा ॥
आयुः दृंह ।
जीवन को उन्नत कर ॥
प्रजां दृंह ।
प्रजा को उन्नत कर ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ (य० ६/४)
[ऋ० १.२२.१९, य० १३/३३, साम १६७१, अ० ७.२६.६]

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतः व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥

पति को सम्बोधन करती करती भावविभोर होकर वह आकाश की ओर देखने लगती है और अपनी दृष्टि को चारों दिशाओं में घुमाकर वह मानों सर्वजनों को सम्बोधन करती हुई सी कहती है—

१) (विष्णोः कर्माणि पश्यत) विष्णु के कार्यों को देखो, (यतः) जिस प्रकार से वह (व्रतानि पस्पशे) व्रतों को बांधे हुए है ।

व्रतानि शब्द का प्रयोग यहां प्राकृत नियमों के लिये हुआ है ।

सृष्टि के सृजन, धारण तथा प्रलयन में जितने कार्य होरहे हैं, वे सब विष्णु की व्याप्ति से प्राकृत नियमों के द्वारा होरहे हैं । देखिये, विष्णु के समस्त प्राकृत कार्यों को विष्णु के प्राकृत नियमों ने किस प्रकार कसकर बांधा हुआ है ।

"पते ! जिस प्रकार विष्णु के समस्त कार्य निर्धारित नियमों के आधीन होरहे हैं, उसी प्रकार तेरी गृहसाधना के समस्त कार्य व्रतों से बद्ध सम्बद्ध होने चाहियें" ।

२) विष्णु प्रत्येक (इन्द्रस्य) इन्द्र का (युज्यः सखा) युक्त सखा है ।

इन्द्रियों का स्वामी होने से आत्मा का नाम इन्द्र है ।

विष्णु प्रत्येक आत्मा का युक्त सखा है । विष्णु किसी भी आत्मा से कभी एक क्षण के लिये भी वियुक्त नहीं होता है । विष्णु आत्मा-आत्मा से बंधा हुआ है । जिसे जिससे स्नेह होता है, वह उसीसे युक्त सुबद्ध रहता है । स्नेह ही कर्म का प्रेरक है । जिसे जिससे स्नेह होता है, उसी के सुख आनन्द के लिये वह असंख्य कर्म करता है । विष्णु आत्मा से स्नेह करता है । इसीसे वह आत्मा से युक्त रहता है और इसीसे वह आत्मा के सुख आनन्द के लिये असंख्य कर्म करता है" ।

"पते ! जिस प्रकार विष्णु आत्मा-आत्मा से युक्त है, उसी प्रकार तू भी अपनी प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति से युक्त रह और उनके सुख सौभाग्य के लिये व्रतानुकूल नियमपूर्वक कर्मों का अनुष्ठान कर" ।

विष्णु के कर्मों को देखो,
जिस प्रकार बांधे हुए है वह कर्मों को।
आत्म-आत्म का युक्त सखा वह ।।

सूक्ति—**विष्णोः कर्माणि पश्यत ।**
विष्णु के कार्यों को देखो ।।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ।। (य० ६/५)
[ऋ० १. २२. २०, साम १६७२, अ० ७. २६. ७]

तत् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवि इव चक्षुः आ-ततम् ।।

वह विष्णु आत्मा-आत्मा से युक्त है, परन्तु साधारण जनों को उसकी अनुभूति अथवा प्रतीति नहीं होती। साधारण जन तो विष्णु के प्राकृत कर्मों को देखकर ही उसकी सत्ता में विश्वास करते हैं। कर्ता का साक्षात्कार न होने पर भी कृतियों को देखकर कर्ता के प्रति आस्था होती है। इस भाव की अभिव्यक्ति पत्नी ने अपने पति को पूर्व मन्त्र में कराई है।

यहां वह कहरही है—पते ! (सूरयः) सूरि जन (विष्णोः तत् परमं पदं सदा पश्यन्ति) विष्णु के उस परम पद को सदा देखते हैं। कौनसे पद को ? जो (दिवि चक्षुः इव आ-ततं) आकाश में चक्षु के समान फैला-व्यापा हुआ है।

सूर्य के समान जो ज्ञानरश्मियों तथा अन्त-र्ज्योतियों से युक्त होते हैं, उन्हें सूरि कहते हैं।

चक्षुरादित्यः। चक्षुस्तदसौ सूर्यः। चक्षु नाम आदित्य का है। वह सूर्य वह चक्षु है। दर्शन-साधन होने से सूर्य चक्षु है। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से तथा अपने प्रकाश से आकाश में व्यापता है, उसी प्रकार विष्णु अपनी विश्वव्यापिनी ज्योतियों से इस अनन्त असीम अखिल आकाश में व्याप रहा है। विष्णु की सर्वव्याप्ति ही विष्णु का वह परम पद है, जो सूरियों की दृष्टि में सदा समाया रहता है और सूरि जन जिसका सदा अवलोकन करते रहते हैं।

"पते ! विष्णु के कर्मों को देखकर विष्णु के प्रति आस्थावान् होने मात्र से ही हमें सन्तुष्ट नहीं होना है। हमें तो इस गृह में आत्मसाधना द्वारा सूरि बनकर उसके उस परम पद का, उसके उस ज्योतिष्मान् निज स्वरूप का, साक्षात् दर्शन करना है, उसका जो पद अखिल आकाश में एकरूप एकसार व्याप रहा है।

सूरि सदा देखते रहते हैं विष्णु के,
उस परम पद को, जो व्यापा हुआ है,
आकाश में सूर्य के समान ।।

सूक्ति—**विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।**
ज्ञानी जन विष्णु के परम पद को सदा देखते हैं ।।

परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानं रायो मनुष्याणाम् । दिवः सूनुरस्येष ते पृथिव्याँल्लोक आरण्यस्ते पशुः ।। (य० ६/६)

परि-वीः असि परि त्वा दैवीः विशः वि-अयन्तां परि इमं यजमानं रायः मनुष्याणाम् । दिवः सूनुः असि एषः ते पृथिव्यां लोकः आरण्यः ते पशुः ।।

विष्णु के साक्षात्कार की कामना व्यक्त करती करती, अब वह विष्णु से कामना करने लगती है—

१) तू (परि-वीः असि) परि-वी है ।

वी का अर्थ है व्यापना और प्रकाशना । परि-वी का अर्थ है सब ओर सर्वत्र व्यापने और प्रकाशने वाला । सर्वव्यापक होने से विष्णु सबमें सर्वत्र प्रकाशता रहता है ।

"विष्णो ! तू सर्वव्यापक और सर्वप्रकाशक है" ।

२) (दैवीः विशः) दैवी प्रजायें (त्वा) तुझे (परि-वि-अयन्तां) परि-वि-अयन करें, सर्वतः प्रापित रहें ।

मानव प्रजायें दो प्रकार की हैं– दैवी और आसुरी । दैवी प्रजायें सदा सर्वदा सर्वत्र अपनी भावना द्वारा विष्णु को प्रापित रहती हैं ।

"विष्णो ! इस गृहकुल के निवासी हम सब तेरी दैवी प्रजा हैं । तेरी ये दैवी प्रजायें तुझे सर्वतः प्रापित रहें, ताकि वे तेरे प्रकाश से प्रकाशित होकर व्यापनशील होजायें" ।

३) विष्णो ! हमारे (इमं यजमानं) इस यजमान को (मनुष्याणां रायः) मनुष्यों का आत्मैश्वर्य, मानवों की आत्मनिजता, मनुष्यों की आत्मश्रद्धा (परि) सर्वतः [प्रापित रहे] ।

"विष्णो ! मेरा यह पति इस गृहयज्ञ का श्रद्धेय यजमान है । गृहकुल-वासी हम सब मानवों की आत्मश्रद्धा इसके प्रति सर्वतः प्रापित रहे" ।

श्रद्धया विन्दते वसु । श्रद्धया सत्यमाप्यते । मानव श्रद्धा से सकलैश्वर्य प्राप्त करता है । श्रद्धा से ही सत्य की प्राप्ति होती है । जब पत्नी की पति के प्रति और सन्तान की पिता के प्रति आत्मश्रद्धा होती है, तब ही वे उससे ऐश्वर्य और सत्य की यथावत् प्राप्ति कर पाते हैं ।

४) विष्णो ! तू (दिवः सूनुः असि) दिव्यता का प्रेरक है, प्रकाश का संचारक है ।

"विष्णो ! तू दिव्यता का प्रेरक है । मेरे पति और परिवार को दिव्यता से युक्त और प्रकाश से प्रकाशित रख" ।

४) (पृथिव्यां) पृथिवी पर (एषः लोकः) यह लोक, यह जन-मानव (ते) तेरा है, (आरण्यः पशुः ते) जंगली पशु तेरा है ।

"विष्णो ! मानव और पशु, उभय प्रजायें, तेरी हैं । हमारे जीवनों से तेरी उभय प्रजाओं की यथावत् सुसेवा हो । हमारे जीवन लोकोपयोगी तथा परोपकारमय हों" ।

परि-वी है तू,
रहें प्रापित तुझे,
प्रजायें दैवी सर्वतः ।
इस यजमान सुगृहपति को,
रहे प्रापित सदा सर्वतः,
सकल मानवों का श्रद्धा-धन ।
तू है दिव्यता का संचारक,
पृथिवी पर यह लोक है तेरा,
और आरण्य पशु है तेरा ।।

उपावीरस्युप देवान् दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान् ।
देव त्वष्टर्वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम् ॥ (य० ६/७)

उप-अवीः असि उप देवान् दैवीः विशः प्र-अगुः उशिजः वह्नितमान् । देव त्वष्टः वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम् ॥

विष्णु से अपनी मनःकामनायें व्यक्त करती हुई पत्नी विनय करने लग जाती है—

१) (देव त्वष्टः) दिव्य त्वष्टः ! तू (उप-अवीः असि) उप-अवी है ।

तक्षू त्वक्षू तनूकरणे धातु से त्वष्टा शब्द सिद्ध होता है । जो छीलकर, तराशकर, सूक्ष्म करके, सुन्दर आकृतियां आकृत करता है, उसे त्वष्टा कहते हैं । त्वष्टा वै रूपकृद्रूपपतिः । त्वष्टा हि रूपाणि विकरोति । त्वष्टा वै रूपाणामीशे । त्वष्टा निश्चय से रूपकृत् रूपपति है । त्वष्टा ही विविध रूपों को बनाता है । त्वष्टा निश्चय से सौन्दर्यों का स्वामी है । आचार्य त्वष्टा है, जो अपने विद्यार्थियों या शिष्यों को सूक्ष्म बुद्धि से युक्त और विविध गुणसौन्दर्यों से सुयुक्त करता है । माता त्वष्टा है, पिता त्वष्टा है, जो अपने सन्तान का तनूकरण और जीवननिष्पादन करके उन्हें सर्वतः सुन्दर बनाते हैं । पति त्वष्टा है । पत्नी त्वष्टा है । विष्णु भी तो त्वष्टा है, वह दिव्य त्वष्टा, जो रूप-रूप में सुरूपता का प्रतिरूपण कररहा है, जिसने सौन्दर्यों से सुसुन्दर सृष्टि की रचना की है । विष्णु को ही यहां देव त्वष्टः कहकर सम्बोधन किया गया है ।

उप का अर्थ है समीप । अवी का अर्थ है रक्षा करनेवाला । समीप आये की जो रक्षा करता है, शरणागत का जो प्रतिपालन करता है, उसे उपावी कहते हैं । सचमुच देव त्वष्टा वह उपावी है, जो अपने शरणागत की सर्वतः रक्षा करता है । जो भी आत्मना उसके समीप जाता है, जो भी आत्म-भावना से उससे सुयुक्त होता है, वह दिव्य त्वष्टा पाप ताप सन्ताप से उसकी रक्षा करके उसके जीवन का सुरूपकरण करता है, उसमें सर्वाङ्गीण दिव्यता की प्रस्थापना कर देता है ।

"देव त्वष्टः ! इस गृहकुल की प्रजा तुझे अर्पित रहे और तू इस प्रजा की सदा सर्वदा सर्वतः रक्षा करता रहे" ।

२) देव त्वष्टः ! इस गृहकुल की (दैवीः विशः) दैवी प्रजायें (उशिजः वह्नितमान् देवान्) कमनीय वाहकतम देवों को (उप प्र-अगुः) प्राप्त हुआ करें ।

देवान् शब्द का प्रयोग यहां दिव्य गुणों से युक्त सिद्ध आप्त जनों अथवा विद्वान् अतिथियों के लिये हुआ है । देवान् के लिये जो दो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, उनके अर्थ विचारणीय हैं । उशिजः का अर्थ है प्रातःकालीन उषा के समान मनोहारी और चित्ताकर्षक, उषा के समान सुन्दर और शोभनीय । वह्नितमः का अर्थ है अतिशय वहन करनेवाले, सर्वातिशय अभीष्ट तक पहुंचानेवाले । जो स्वयं पहुंचे हुए होते हैं, वे ही अन्यों को पहुंचाते हैं । वह्नितमः शब्द का प्रयोग यहां आप्त के अर्थ में हुआ है ।

जिस गृहकुल की प्रजा कमनीय आप्त देवों से संगत होती रहती है, वह प्रजा निस्सन्देह दैवी प्रजा बन जाती है । कमनीय आप्त देवों की संगति के दो ही प्रकार हैं—(१) उनके निवास-स्थान पर जाकर उनके सत्संग का लाभ उठाना, (२) अपने गृह में ठहराकर उनका आतिथ्यमय सत्संग प्राप्त करना । कमनीय आप्त देवों को अपने अपने गृह में अतिथि-रूप में ठहराने से जो लाभ होता है, वह शब्दों द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता । जिन गृहकुलों में ऐसे देवों का आगमन तथा निवास होता रहता है, उन

गृहों की प्रजा निश्चय ही दैवी प्रजा होगी, देवकोटि की प्रजा होगी। यह सौभाग्य देव त्वष्टा की कृपा और उसके आशीर्वाद से प्राप्त होता है। एक उत्तम कोटि की दैवी गृहणी प्रभु से सदैव यह आशीर्वाद चाहती रहती है कि उसके गृह में सदा ही कोई न कोई कमनीय आप्त देव अतिथिरूप में निवास करते रहें। धन्य है वह गृहकुल, जिसमें ऐसी दैवी गृहणी सुशोभित है और धन्य है वह पति, जिसने ऐसी भार्या का वरण किया है।

३) देव त्वष्टः ! (वसु रम) वसु को रमणीय कर, वसु को रमणीय रख।

वसु नाम धन का है। वसु असंख्य और अनन्त हैं। प्राण वसु है। जीवन वसु है। प्रकाश वसु है। पशु वसु है। भूमि वसु है। राष्ट्र वसु है। धर्म वसु है। ज्ञान वसु है। गृह वसु है। परिवार वसु है। वसु का प्रयोग यहां गृहरूपी अथवा परिवाररूपी धन के लिये हुआ है।

दैवी भार्या के मुख से वेदमाता ने "वसु रम" कहलवाकर एक अमूल्य विज्ञान का उद्घाटन किया है। गृहकुल का वातावरण अतिशय रमणीय रहना चाहिये। गृह का वातावरण अनवरत रमणीयता से ओत प्रोत रहे। स्वच्छता, पवित्रता, रोचकता, सुन्दरता, प्रसन्नता, मोद, प्रमोद, विनोद, प्रेम, समादर, शिष्टता, मर्यादित स्वतन्त्रता, समता, मधुरता, प्रियता-गृहरमणीयता के अनिवार्य अंग हैं। रमणीय वातावरण में दैवी प्रजा का निर्माण होता है। जहां दैवी प्रजा निवास करती है, वहां रमणीयता निवास करती है।

४) देव त्वष्टः ! इस गृहकुल के निवासी (ते हव्या स्वदन्तां) तेरी हवियों को चखें, तेरी हवियों का आस्वादन करें।

दिव्य त्वष्टा की हवियां दिव्य हवियां हैं। दैवी प्रजायें दिव्य हवियों का ही सेवन किया करती हैं। हव्या शब्द का प्रयोग यहां दैवी सम्पदाओं के लिये हुआ है। दैवी सम्पदाओं के सेवन से गृहकुल की प्रजा दैवी प्रजा बनेगी। आसुरी सम्पदाओं के सेवन से वह आसुरी प्रजा बनेगी। देवी ने यहां देव त्वष्टा से कितनी सुन्दर प्रार्थना की है—"देव त्वष्टः ! इस गृहकुल की दैवी प्रजायें सदा तेरी दैवी सम्पदाओं का सेवन करें, आसुरी सम्पदाओं का नहीं"। जो कुछ भी सत्य, शिव, सुन्दर और दिव्य है, वह सब दैवी सम्पदा के अन्तर्गत है। सब जो असत्य, अशिव, असुन्दर और अदिव्य है, वह सब आसुरी सम्पदा है।

तू रक्षक है शरणागत का,
कमनीय वाहकतम देवों को,
प्राप्त रहें दैवी प्रजायें।
रख रमणीय देव सवितः वसु,
चखें वे तेरी हवियों को ॥

सूक्ति—**उपावीरसि।**
तू शरणागत का रक्षक है ॥
देव त्वष्टर्वसु रम।
देव त्वष्टः ! वसु को रमणीय कर ॥
हव्या ते स्वदन्ताम्।
वे तेरी हवियों को चखें ॥

रेवती रमध्वं बृहस्पते धारया वसूनि।
ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रति मुञ्चामि
धर्षा मानुषः ॥ (य० ६/८)

रेवतीः रमध्वं बृहस्पते धारय वसूनि।
ऋतस्य त्वा देव-हविः पाशेन प्रति-मुंचामि, धर्ष मानुषः ॥

पत्नी ने पूर्व मन्त्र में विनय की थी–"देव त्वष्टः! मेरे गृहकुल के निवासी तेरी दैवी सम्पदाओं का आस्वादन करें"। अपनी प्रियतमा की इस विनय से प्रभावित होकर पति भावातिरेक से अतिरेकित होकर अनायास कह उठता है–(रेवतीः रमध्वं) रेवतियो! रमण करो।

वैदिक वाङ्मय में रेवती शब्द का प्रयोग ज्योति, नक्षत्र विशेष तथा ऐश्वर्यशालिनी के अर्थ में हुआ है। यहां इस शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में हुआ है, जिस अर्थ में, पूर्व मन्त्र में, हव्या शब्द का प्रयोग हुआ है। रेवती वे दैवी सम्पदायें हैं, जो सर्वातिशय ऐश्वर्यशालिनी हैं, जो सर्वातिशय ज्योतिर्मयी हैं, जो भाग्योदय करने कराने वाली हैं।

पति ने दैवी सम्पदाओं का भावनामय सम्बोधन किया, "दैवी सम्पदाओ! तुम मेरे गृहकुल में रमण करो"।

पत्नी बोल उठी, (बृहस्पते वसूनि धारय) बृहस्पते! वसुओं को धारण कर, वसुओं का सम्पादन कर, वसुओं की प्राप्ति कराता रह।

जैसाकि पूर्व मन्त्र में कहा गया है, वसु नाम धन का है। अनन्तानि वै वसूनि। जो कुछ भी सुनिवास और सुनिर्वहन में साधनरूप है, वह सब वसु है। आवास, अन्न, धन, ऐश्वर्य, धर्म, सदाचार, आस्तिक्य, पशु, भूमि, सत्य, संयम इत्यादि अनेक वसु हैं।

बृहस्पति का अर्थ है बृहत् पति, महान् पति, महा पति, पति महान्।

दैवी सम्पदायें वसुदायिनी हैं। जहां दैवी सम्पदायें होंगी, वहां वसुओं का निश्चय ही निवास होगा। वसुओं के अभाव में दैवी सम्पदायें ठहर नहीं पाती हैं। इसी लिये ज्यों ही पति ने दैवी सम्पदाओं को सम्बोधन किया, त्यों ही पत्नी ने पति को सम्बोधन किया, "बृहस्पते! दैवी सम्पदाओं के आगमन तथा स्थायित्व के लिये वसुओं का सम्पादन करता रह"।

रेवतीः और वसूनि का युग्म सदा साथ साथ रहता है। वे एक दूसरे से पृथक् कभी नहीं रहते।

पत्नी फिर बोली, (देव-हविः) देव-हवि मैं (त्वा) तुझे (ऋतस्य पाशेन) ऋत की पाश से (प्रति-मुंचामि) प्रति-मुक्त करती हूं, खुला करती हूं।

ऋत का प्रयोग यहां सही [Right] या सत्य के अर्थ में नहीं हुआ है, प्राकृत [स्वाभाविक] काम-संस्कार के लिये हुआ है। काम अनृत नहीं है, ऋत है, एक वास्तविकता है। नर हो या नारी, उसकी उत्पत्ति काम से हुई है। अत एव प्रत्येक नर नारी में काम संस्कार-रूप से अन्तर्निहित है। कौन है, जो काम की पाश से बंधा नहीं है। अथर्व १६. ५२. २ में काम को विभु कहा है।

काम रमा है एक एक जन में,
काम बसा है बस्ती वन में,
काम रमा है एक एक कण में,
काम बसा है तन में मन में ॥

जहां यह ऋत [Right, सही, ठीक] है, कि काम विभु है, वहां यह भी ऋत है कि काम

पर विजय पाकर काम की पाश से मुक्त हुए बिना न दैवी सम्पदाओं की सम्पादना हो सकती है, न सुपावन वसुओं की निष्पादना सम्भव है। सब ऋतों का एक ऋत यह है कि जितनी भी योनियां हैं, केवल मानव ही है, जो आत्मसाधना द्वारा काम पर विजय पाकर काम की पाश से मुक्त होने और रहने की क्षमता रखता है।

सब विकारों में काम-विकार जहां सर्वाधिक प्रबल है, वहां सर्वाधिक विनाशकारी भी है। काम आदि-विकार है। काम-विकार से ही अन्य सब विकार उत्पन्न हुए हैं। काम-विकार से मुक्त होने पर मनुष्य अन्य सब विकारों से अनायास ही मुक्त होकर सर्वथा निर्विकार होजाता है।

ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रम में काम सर्वथा वर्जित है, किन्तु गृहस्थाश्रम में काम विहित है। इसीलिये यहां गृहकुल के प्रसंग में काम की पाश से मुक्त होने की प्रेरणा है, काम के नितान्त त्याग की नहीं। गृहस्थ में अति-काम वर्जित है, मित-काम विहित है। जिस प्रकार विधिवत् विष का सेवन अमृतोपम सिद्ध होता है, उसी प्रकार विधिविहित सेवित मित-काम सुसंस्कारों से सुसंस्कृत सन्तान प्राप्त कराता है।

प्रत्येक पति स्वभाव से अति-कामी होता है, काम की पाश से आबद्ध होता है। यह धारणा नितान्त निराधार है कि नारी नर की अपेक्षा अधिक कामी होती है। वास्तविकता यह है कि नारी में नर की अपेक्षा बहुत कम कामुकता होती है। वह कामुक नर ही है, जो नारी को अतिकामुक बना देता है। हां, यह सही है कि एक बार अति-कामुक होजाने पर नारी काम की धधकती हुई भट्टी बन जाती है। यदि पति पत्नी के शील पर प्रहार और उसके संयम पर आक्रमण न करे, तो पत्नी सहजतया ही मित-कामी बनी रहती है। इसी भाव का व्यक्तीकरण करने के लिये पत्नी ने अपने आपको देव-हवि कहा है। देव-हवि का अर्थ है दिव्य हवि, जिसके द्वारा देव-यजन अथवा दिव्य-याग किया जाता है।

"गृहकुल-पते ! मैं इस गृहकुल की देव-हवि हूं, वह दिव्य हवि, वह दिव्य सम्पदा, जिसके द्वारा इस गृहकुलरूपी दिव्य यज्ञ का दिव्य यजन होगा। मैं तुझे काम की पाश से मुक्त करती हूं"।

सौभाग्यशालिनी हैं वे पुत्रियां, सौभाग्यशाली हैं वे पुत्र, जिनके माता पिता काम की पाश से मुक्त हैं। काम की पाश से बद्ध दम्पती सर्वविकारों से विकृत, लम्पट और निर्लज्ज होजाते हैं और परिणामतः उनकी सन्तान भी वैसी ही होजाती है। धन्य है वह पत्नी, जो इस रहस्य को समझती है और अपने पति को काम की पाश से मुक्त रखकर अपने गृहकुल के वातावरण को विशुद्ध तथा सुसंस्कृत बनाये रहती है। ऐसे निर्विकार और संशुद्ध वातावरण में ही मही महिलाओं का तथा महा पुरुषों का संसृजन होता है।

एक आदर्श भार्या जब जब अपने पति को कामासक्त और असंयत पाती है, तब तब वह उससे मर्म-स्पर्शी शब्दों में कहती है—(मानुषः) मानुष तू (धर्ष) प्रसहन कर।

मानुष का अर्थ है मननशील। मननशील प्राणी होने से ही वह मनुष्य या मानुष कहलाता है।

धृष प्रसहने। धृष धातु का अर्थ है सहन करना, अच्छी प्रकार सहना, सम्यक् शमन करना।

काम का दमन नहीं, शमन किया जाता है। दमन से काम का वेग प्रबल से प्रबलतर होता चला जाता है। वह शमन है, जिससे काम पर विजय प्राप्त की जाती है। दमन अमननशीलता का द्योतक है। शमन मननशीलता का द्योतक है। प्रत्यक्षतः काम और मनन का परस्पर गहन सम्बन्ध है। विकृत मनन [चिन्तन] से काम का उत्तेजन होता है। निर्विकार मनन से काम का शमन होता है।

"मानुषः धर्ष–तू मानुष है, शमन कर"–कितनी सुन्दर प्रेरणा की है यहां सुभार्या ने अपने प्राणप्रिय भर्ता को।

रेवतियो ! तुम रमण करो,
वसुओं को धार, बृहस्पते।
देव-हवि मैं ऋत की पाश से,
तुझे मुक्त करती हूं,
मानुष तू प्रसहन सदा कर।।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नि युनज्मि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि।। (य० ६/९)

देवस्य त्वा सवितुः प्र-सवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णः हस्ताभ्याम्। अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नि-युनज्मि। अत्भ्यः त्वा ओषधीभ्यः अनु त्वा माता मन्यतां अनु पिता अनु भ्राता स-गर्भ्यः अनु सखा स-यूथ्यः। अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्र-उक्षामि।।

पत्नी अपने पति के प्रति कहे चली जारही है—१) पते ! मैं (त्वा) तुझको, (त्वा जुष्टं) तुझ जुष्ट को, (देवस्य सवितुः) दिव्य स्रष्टा परमात्मा के (प्र-सवे) समुत्पन्न संसार में (अश्विनोः बाहुभ्यां) दो अश्वियों के दो बाहुओं से, (पूष्णः हस्ताभ्यां) पूषा के दो हाथों से, तथा (अग्नीषोमाभ्यां) अग्नि और सोम से (अत्भ्यः ओषधीभ्यः) जलों और ओषधियों के लिये (नि-युनज्मि) बांधती हूं।

जुषी प्रीतिसेवनयोः। जुष धातु का अर्थ है प्रीति और सेवन। जुष्ट का अर्थ है प्रीतिपूर्वक सेवित। अपने पति को जुष्ट कहकर पत्नी ने पति की एक योग्यता का संकेत किया है। पति अपनी पत्नी, सन्तान तथा परिवार के लिये प्रीतिपूर्वक सेवनीय होना चाहिये। उसका शील और स्वभाव ऐसा मृदु और आकर्षक हो कि गृहकुल उससे सस्नेह संगत हुआ करे। उसका शील और स्वभाव अप्रिय और कटु न हो।

जैसा कि य० १/१० की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है, अश्वियों का प्रयोग हुआ है दो नासिका-छिद्रों के लिये, जिनके दो बाहु [पुरुषार्थ-साधन] हैं प्राण और अपान; पूषा शब्द का प्रयोग हुआ है शरीर के पोषक आत्मा के लिये, जिसके दो हस्त [हनन-गमन-साधन] हैं मन और बुद्धि।

प्रत्यक्षतः अग्नीषोमाभ्यां से तात्पर्य सूर्य और चन्द्रमा से है। अग्निपुञ्ज होने से सूर्य अग्नि-संज्ञक है। सोम नाम चन्द्रमा का है ही। अग्नि [सूर्य] उग्र, पावक, प्रकाशक, आकर्षक और सर्वैश्वर्य-निष्पादक है। सोम [चन्द्रमा] सोम्य, कलान्वित, शीतल, शान्त, आह्लादक और तरंगोत्पादक है।

जलों से सिंचन होता है। ओषधियों से दोषों [रोगों] का निवारण होता है। जल सिंचनों के प्रतीक हैं। ओषधियां दोषों को धोने की प्रतीक हैं।

"मैं तुझे, प्रीतिपूर्वक सेवनीय तुझे, देव सविता के इस समुत्पन्न संसार में अश्वियों के प्राणापान-रूपी बाहुओं से, पूषा के मनबुद्धिरूपी हस्तों से तथा सूर्य और चन्द्र से, जलों और ओषधियों के लिये, बांधती हूं", पति से कहे गये पत्नी के इन शब्दों में एक गूढ़ रहस्य निहित है।

प्राण का कार्य है जीवन-संचार, तो अपान का कार्य है मलनिवारण अथवा शोधन। मन का कार्य

है संकल्प, तो बुद्धि का कार्य है बोध। सूर्य का कार्य है वाष्प बनाकर जलों का बरसाना, तो चन्द्रमा का कार्य है ओषधियों में जलों का संचार।

पत्नी पति को बांधती है। किससे ? गृहकुल से और गृहकुल के सदस्यों से। किन करणों से ? संचार और शोधन, संकल्प और बुद्धि तथा सूर्य और चन्द्र-इन छः करणों द्वारा। किस लिये ? जलों और ओषधियों के लिये, सर्वसिंचनों और सर्वदोष-निवारणों के लिये।

पत्नी वह सुन्दर सुकोमल किन्तु सुदृढ़ रस्सी है, जो पति को धर्मणा गृहकुल से बांधती है। धर्मणा गृहकुल से बंधकर पति का पुनीत कर्तव्य है कि वह गृहकुल के सदस्यों में प्राणवत् उत्तम गुण कर्म स्वभाव का संचार करे, अपानवत् उनके दुर्गुणों का निवारण करे, उनमें संकल्प-शक्ति और सुबोध की प्रस्थापना करे। संकल्प और सुबोध ही दो साधन हैं, जिनसे उत्तम गुणों का धारण और दुर्गुणों का निवारण होता है। और, जैसाकि ऊपर कहा गया है, सर्वगुणसिंचनों तथा सर्वदोष-निवारणों के लिये ही तो पत्नी पति को गृहकुल से बांधती है।

२) पते ! (त्वा) तुझे (माता अनु-मन्यतां) माता अनुमाने-पहंचाने। माता तुझपर अभिमान करे, माता तुझपर गर्व अनुभव करे।

पत्नी कामना कररही है और पति को आत्मप्रेरणा कररही है कि उसके पति का जीवन वह प्रेरणाप्रद जीवन हो कि उसकी माता अपने पुत्र की महानता को पहंचाने और उसपर गौरव अनुभव करे। वह अपनी माता का मान हो, अभिमान हो।

३) पते ! तुझे (पिता अनु) पिता अनु-मन्यताम्, पिता अनुमाने-पहंचाने। पिता तुझपर अभिमान करे, पिता का तू गौरव सिद्ध हो।

पत्नी की अभिलाषा हो कि उसका पति अपने पिता को गौरवान्वित करे और उसका पिता अपने पुत्र की गरिमा को पहंचाने।

४) पते! तुझे (सगर्भ्यः भ्राता अनु) सगर्भ्यः भ्राता अनु-मन्यताम्, सहोदर भाई अनुमाने-पहंचाने। सहोदर भाई तेरा मान और तुझपर गर्व करे।

पत्नी की आस्था हो कि उसका पति अपने सहोदर भाई बहन का अर्मान और अभिमान बने।

५) पते! तुझे (सयूथ्यः सखा अनु) सयूथ्यः सखा अनु-मन्यताम्, सयूथ्य सखा अनुमाने-पहंचाने। तेरे सखा-समूह के प्रत्येक सखा के हृदय में तेरे लिये अनुमान्यता हो।

एक सच्ची आदर्श पत्नी कभी यह न चाहेगी कि उसका पति अपने माता, पिता, भ्राता, भगिनी, सखा, आदि से पृथक् होजाये अथवा उनके द्वारा अमान्य अवमान्य हो। वह अपने पति को सदा ऐसी प्रेरणा करेगी कि वह [पति] अपने माता, पिता, भ्राता, सखा–सबसे सदा सुयुक्त और प्रीतिमान रहे। वह ऐसा प्रयत्न करेगी कि उसका पति अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों की दृष्टि में श्रेष्ठता तथा उच्चता के साथ अनुमाना जाये।

प्रत्येक पति के लिये यहां यह उदात्त प्रचेतना है कि बात तो तब है कि वह अपने माता, पिता, भ्राता, सखा, आदि निकटवर्ती व्यक्तियों के मान का भाजन बने। सर्वप्रिय बनना सरल है। सगे–सम्बन्धियों का प्रिय बनना कठिन है। साधारण जनता में मानास्पद बनना कोई बड़ी बात नहीं। पर सदा संग साथ रहनेवालों का हार्दिक मान प्राप्त किये रहना टेढ़ी खीर है। दूरस्थों की दृष्टि में सुहावना लगना सामान्य बात है। कमाल तो तब है कि निकटस्थों की दृष्टि में कोई सुहावना बना रहे।

जिनके व्यक्तिगत जीवन ओच्छे [क्षुद्र] होते हैं, वे बनावट और दिखावट से सार्वजनिक जीवन में क्षणिक नाम और मान पा लेते हैं, परन्तु निकटस्थों की दृष्टि में वे गिरे रहते हैं। जिनके व्यक्तिगत

जीवन वास्तव में उत्कृष्ट होते हैं, वे निकटस्थों अपि च दूरस्थों के हृदयों में स्थिर और स्थायी स्थान पाते हैं।

६) पते! मैं (त्वा जुष्टं अग्नीषोमाभ्यां प्र-उक्षामि) तुझ सप्रेमसेवनीय को सूर्य और चन्द्रमा से प्रकृष्टतया सींचती हूं, तुझे सौर और चान्द्र गुणों से सुयुक्त करती हूं।

पत्नी का धर्म है कि वह गृहकुल के वातावरण को ऐसा प्रेरणाप्रद, मनोरम और सुष्ठु रखे कि उसका पति सतत सन्तत सूर्य समान प्रकाशक पावक आकर्षक और चन्द्रमा के समान सोम्य तथा कलान्वित रहे।

देव सविता के प्रसव में,
अश्वियों के बाहुओं से,
और पूषा के हस्तों से,
सूर्य से और चन्द्रमा से,
जलों ओषधियों के लिये,
बांधती हूं तुझको,
मैं तुझ जुष्ट को।
माता अनुमाने तुझे,
और तुझको अनुमाने पिता,
भ्राता सहोदर तुझको अनुमाने,
सखा स-यूथ्य अनुमाने तुझे।
सींचती हूं मैं तुझे प्रकृष्टतः,
सौर-गुणों चान्द्र-गुणों से सतत ॥

अपां पेरुरस्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देवहविः।
सं ते प्राणो वातेन गच्छतां समङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञपतिराशिषा ॥

(य० ६/१०)

अपां पेरुः असि आपः देवीः स्वदन्तु सु-आत्तं चित् सत् देव-हविः।
सं ते प्राणः वातेन गच्छतां सं अङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञ-पतिः आशिषा ॥

पत्नी अपने पति को आत्मबोध कराती हुई कहे जारही है—

१) तू (अपां पेरुः असि) प्रजाओं का पेरु है।

अप् के बहुत प्रसिद्ध अर्थ हैं जल, प्रजा और कर्म। अप् का मूलार्थ है प्रवाह। प्रवाहमय होने के कारण ही जलों को अप कहते हैं। अप् नाम उन जलों का नहीं है, जो तालाब आदि में रुके रहते हैं, अपि तु उन जलों का है, जो नदियों अथवा वृष्टिस्रोतों में बह रहे होते हैं। जलों अथवा जलधाराओं के समान ही मानव-प्रजायें भी भिन्न भिन्न प्रवाहों अथवा दिशाओं में प्रवाहित रहती हैं। इसीसे अप् का प्रयोग मानव प्रजाओं के अर्थ में भी होता है। कर्म भी तो प्रवाहमय हैं। इसीसे अप् का प्रयोग कर्मों के अर्थ में भी होता है। यहां अप् का प्रयोग प्रजाओं के अर्थ में हुआ है।

पति को प्रजाओं का पेरु कहा गया है। पेरु नाम रक्षक और प्रेरक का है। पति जब गृहकुल की प्रजा का संरक्षक और सुप्रेरक बनता है, तब ही उसकी प्रजा दिव्य प्रजा बन पाती है।

"पते! तू गृहकुल की अपनी प्रजाओं का पेरु बनकर उनका सतर्कता के साथ संरक्षण और संप्रेरण कर, ताकि वे दिव्य प्रजायें बनें और बनी रहें।

२) गृहकुल की तेरी (देवीः आपः) दिव्य प्रजायें (सु-आत्तं) सु-आत्त, सु-भक्ष्य (सत्) सात्त्विक (देव-हविः) दिव्य-हवि, हविरूप दिव्य आहार (चित्) ही (स्वदन्तु) आस्वादें/चखें/सेवन करें।

यथा आहार तथा सत्त्व। यथा सत्त्व तथा गुण। यथा गुण तथा कर्म। यथा कर्म तथा जीवन। तामसिक आहार से बना सत्त्व तामसिक होता है। राजसिक आहार से बना सत्त्व राजसिक होता है। सात्त्विक

आहार से बना सत्त्व सात्त्विक होता है। सात्त्विक सत्त्व ही दिव्यताग्राही होता है। सात्त्विक सत्त्व में ही दिव्यता का संचार होता है। दिव्यता के संचार से ही गृहकुल की प्रजायें दिव्य प्रजायें बन सकेंगी, अन्यथा नहीं, कदापि नहीं।

गृहकुल की प्रजाओं को दिव्य-प्रजायें बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि वे सुभक्ष्य का ही सेवन करें, कुभक्ष्य का नहीं; वे शुद्ध सात्त्विक भोजन का ही सेवन करें, मलिन का नहीं; वे हविरूप दिव्य आहार का ही आस्वादन करें, अदिव्य आहार का नहीं।

"तेरी दिव्य प्रजायें सुभक्ष्य, सात्त्विक, हविरूप दिव्य आहार का ही सेवन करें", वेदमाता ने गृहस्वामिनी के मुख से गृहस्वामी के प्रति यह कहलवाकर आहार-सम्बन्धी एक सुन्दर विज्ञान का उद्घाटन किया है।

३) (ते प्राणः वातेन सं-गच्छतां) तेरा प्राण वात के साथ सम्यक्-गमन करे।

प्राण से ही प्राणियों का जीवन है। प्राण से ही प्राणी जीता है। प्राण जीवन का प्रतीक है। प्राण ही जीवन है। प्राण शब्द का प्रयोग यहां जीवन के अर्थ में हुआ है।

वात गतिसुखसेवनेषु। वात नाम वायु का है, उस वायु का, जो सुखपूर्वक गति करता है और जिसका सुखपूर्वक सेवन किया जाता है। प्रातःकालीन शीतल मन्द समीर का नाम वात है। आकाश में विचरते हुए या आकाश से बरसते हुए बादलों के सम्पर्क से शीतल होकर जो समीर प्रवाहित होता है, उसे वात कहते हैं। जलधर-वाहक पवन का नाम भी वात है।

"तेरा जीवन शीतल मन्द समीर के साथ प्रगमन करे", पति से कहे गये पत्नी के इस वाक्य में एक दिव्य सन्देश अन्तर्निहित है। पति का जीवन शीतल मन्द समीर के समान गृहकुल को सुख, शान्ति तथा आनन्द देनेवाला हो, दुःख, अशान्ति तथा क्लेश देनेवाला नहीं। शीतल, शान्त और आनन्दप्रद वातावरण में ही गृह-प्रजायें दिव्य प्रजायें बनती हैं। ऐसे वातावरण में ही दिव्यता का नियोजन तथा द्योतन होता है।

४) तेरे (अङ्गानि यजत्रैः सं) अङ्ग यज्ञशीलताओं के साथ संगमन करें।

यजत्र नाम है यज्ञशील का तथा यज्ञशीलता का। जो यज्ञशील होते हैं, उन्हीं में यज्ञशीलता निवास करती है। "मेरा यज्ञशील पति सदा यज्ञशीलताओं के साथ प्रगमन करे", पत्नी की इस प्रिय कामना में एक प्रशस्त साध निहित है। गृह-प्रजाओं को दिव्य प्रजायें बनाने तथा बनाये रखने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि गृहपति स्वयं यज्ञशील रहता हुआ यज्ञशीलताओं के साथ प्रत्येक गति और चेष्टा करे। गृहस्वामी का आचार तथा आचरण यज्ञशीलतायुक्त होगा तो गृहकुल की प्रजा उसके अनुकरण से यज्ञशील हो जायेगी। यज्ञशीलता में दिव्यता का संचार अतिशय सरल होजाता है।

५) मेरे गृहयज्ञ का (यज्ञ-पतिः आशिषा सं) यज्ञपति आशीर्वाद के साथ संगमन करे।

यज्ञशीलता तथा आशीर्वाद का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। जो यज्ञशील होता है, उसका प्रत्येक व्यवहार यज्ञशीलता से युक्त होता है। अतः उसे गृह में तथा बाहर सर्वत्र आशीर्वाद प्राप्त होता है। साथ ही जो यज्ञशील होता है, वह स्वयं भी घर बाहर सर्वत्र सबको आशीर्वाद देता है।

आशीर्वाद का अर्थ है मंगल वचन। यज्ञशील पुरुष स्वयं सबके प्रति मंगल वचन बोलता है और उसके प्रति भी सब मंगल वचन बोलते हैं। मंगल वचनों से मंगल होता है और अमंगल वचनों से अमंगल। निश्चय ही मंगल वचनों से प्रजाओं का जो दिव्यीकरण होता है, वह अन्य प्रकार से सम्भव नहीं। कटु कर्कश गाली गलोंच तथा अमंगलसूचक

शाप कटाक्ष से गृहकुल का वातावरण क्षुब्ध, विषम, विषैला, अशान्त और तामसी रहता है। स्नेहस्निग्ध आशीर्वादों तथा मंगलवचनों से गृहकुल का वातावरण अतिशय सुखद, शान्त, उत्साहवर्धक तथा प्रेरणाप्रद रहता है और ऐसे वातावरण में ही देवियों तथा देवों का संसृजन होता है।

जहां आशीर्वादों से गृह प्रफुल्ल रहता है।
वही घर देवताओं का सदन प्रफुल्ल रहता है॥

तू पेरु है प्रजाओं का,
सेवन करें दिव्य-प्रजायें,
स्वात्त सात्त्विक देवहवि ही।
तेरा जीवन करे संगमन,
शीतल मन्द समीर वात से,
तेरे अङ्ग प्रगमन करें,
यज्ञशीलताओं के साथ।
करे संगमन सदा यज्ञपति,
आशिष मंगलवचनों के सह॥

सूक्ति—आपो देवी स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देवहविः।
सेवन करें दिव्य-प्रजायें,
स्वात्त सात्त्विक देवहवि ही॥

घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथां रेवति यजमाने प्रियं धा आ विश। उरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्मना यज समस्य तन्वा भव। वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥ (य० ६/११)

घृतेन अक्तौ पशून् त्रायेथां रेवति यजमाने प्रियं धाः आ-विश। उरोः अन्तरिक्षात् सजूः देवेन वातेन अस्य हविषः त्मना यज सं अस्य तन्वा भव। वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञ-पतिं धाः स्वाहा देवेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा॥

अब पति पत्नी दोनों मिलकर अपने आपको आत्मसम्बोधन करते हैं—(घृतेन अक्तौ) घृत से अक्त, स्नेह से सिक्त [तुम दोनों] (पशून् त्रायेथां) पशुओं को लांघो/तरो।

घृत प्रतीक है स्निग्धता का, स्नेह का। कामुकता, क्रोध, विषयलम्पटता, कुशीलता, निर्लज्जता, असंयम, मदान्धता, आदि, वे भयंकर पशु हैं, जो सुरम्य गृहवाटिका को भयानक जंगल में परिणत कर देते हैं।

तॄ प्लवनसंतरणयोः। तॄ धातु का अर्थ है कूदना और तरना, लांघकर पार उतरना।

पति पत्नी के इस आत्मसम्बोधन के मिष से वेदमाता ने एक प्रचेतनामय चेतावनी दी है। जहां यह सर्वथा वाञ्छनीय है कि पति पत्नी परस्पर स्नेह-स्निग्ध रहें, वहां यह भी नितान्त वाञ्छनीय है कि वे विकारजन्य विकृतियों से अपने आपको सावधानी के साथ बचाये रहें।

और पत्नी के प्रति पति द्वारा की गयी विहित स्नेहात्मक निम्न विनयों में वेदमाता आदर्श पत्नी-धर्म का निर्देश कर रही है—

१) (रेवति)! (प्रियं धाः) प्रिय धारण कर, मुझ (यजमाने) यजमान में (आ-विश) प्रवेश कर।

रेवति शब्द ज्योतिपरक तथा ऐश्वर्य-परक है। ज्योति में सकल ऐश्वर्य निवास करते हैं। जहां ज्योति है, वहां किसी भी ऐश्वर्य की क्या कमी रह सकती है। रेवति—यह बड़ा सुन्दर और उद्बोधक सम्बोधन है। सम्बोधन कहते ही उसे हैं, जिससे सम्बोधित को सम्बोध [सं+बोध] हो। इस सम्बोधन से सम्बोधित

होकर पत्नी को सम्बोध होरहा है कि गृहकुल की पत्नी को ज्योतिष्मती और ऐश्वर्यशालिनी होना चाहिये।

प्रिय शब्द का प्रयोग यहां प्रियता के लिये हुआ है। सब कुछ जो प्रियता से युक्त है, वह सब प्रिय है। रेवती की प्रत्येक बात प्रिय हो। उसकी हर बात में प्रियता हो। वह हर बात में प्यारी लगे। उसके विचार प्रिय हों। उसकी दृष्टि में प्यार हो। उसकी श्रुति में प्रियता हो। उसकी वाणी में प्यार हो। उसकी भावनाओं में प्यार हो। उसकी प्रत्येक चेष्टा और गति में, उसकी प्रत्येक क्रिया और कृति में, प्रियता आपूर हो।

पत्नी की वह सर्वतोधार प्रियता ही है, जिसके द्वारा वह अपने पति में प्रवेश करती है। पत्नी का वह सुपावन और विमोहक प्रिय आचरण ही है, जिसके द्वारा वह अपने पति के हृदय में प्रवेश करके उसके अन्तरतम में समा जाती है। "ज्योष्मते! ऐश्वर्यशालिनि! प्रियता से युक्त रहती हुई तू मुझ यजमान में प्रवेश कर और प्रविष्ट रह," कितना सुन्दर सम्बोधन है यह पति की ओर से अपनी सहगामिनी के प्रति।

२) रेवति! अपने (उरोः अन्तरिक्षात्) विशाल अन्तरिक्ष से [आनेवाले] (देवेन वातेन) दिव्य वात से (सजूः) जुष्ट, सुयुक्त, रहकर, तू (अस्य) इस [मुझ यजमान] की (हविषः) हवि से, धनैश्वर्य से (यज) यज्ञ कर, शुभ कर्म कर, (अस्य) इस [मुझ यजमान] के (तन्वा) तनू से (त्मना सं-भव) आत्मना संगत हो।

समष्टि में उरु अन्तरिक्ष है यह विशाल आकाश। व्यष्टि में विशाल अन्तरिक्ष है यह विशालाशय अन्तःकरण। रेवती पत्नी का अन्तःकरण विशालाशय होना चाहिये, क्षुद्राशय नहीं।

वात नाम प्रातःकालीन शीतल मन्द समीर का है। वात नाम मेघ से अथवा मेघवृष्टि से शीतल हुए समीर का भी है। वात का गुण है स्पर्श। अतः वैदिक वाङ्मय में वात नाम शीतल मन्द समीर का भी है और शीतल प्रिय स्पर्श का भी है। वात के स्पर्श में कैसी दिव्यता होती है, कितनी प्रचेतना होती है।

षन्ज सङ्गे धातु से सजूः शब्द बना है। जिस प्रकार विशाल आकाश से प्रवाहित वात के स्पर्श से युक्त होने पर बड़ा आराम मिलता है, उसी प्रकार पत्नी के विशालाशय अन्तःकरण से प्रस्फुरित होनेवाले शीतल स्नेह-वात के स्पर्श से युक्त रहकर पति का जीवन-सर्वस्व पुल्कित और आनन्दित रहता है।

हविस् [हविः] नाम शुद्ध, पवित्र, यज्ञीय हवन-सामग्री का है। धर्म से कमाये पवित्र धनैश्वर्य का नाम भी हवि है। हवि शब्द का प्रयोग यहां धर्मपूर्वक सम्पादित शुद्ध ऐश्वर्य के अर्थ में हुआ है। पति हविरूप शुद्ध ऐश्वर्य का सम्पादन करे और पत्नी उसका यज्ञीय शुभ कार्यों में सद्व्यय करे, यह कितनी सुन्दर वैदिक व्यवस्था है।

तान अथवा विस्तार का साधन होने से मानव-जीवन को तनू कहते हैं। तनू शब्द का प्रयोग केवल मानव-देह अथवा मानव-जीवन के लिये होता है, पशुओं के शरीर के लिये नहीं।

पत्नी के प्रति अपने सम्पूर्ण स्नेह और सम्मान के साथ पति ने कितना प्यार-भरा सार्थक सम्बोधन किया है—"ज्योतिष्मते! सुभगे! अपने विशालाशय हृदय के दिव्य स्पर्श से सुयुक्त रहकर तू मेरे शुद्ध ऐश्वर्य से शुभ कर्म कर और मेरे जीवन से आत्मना संगत रह"। कितने हैं, जो अनुभव कर सकेंगे इस मर्मस्पर्शी सम्बोधन की मर्म-गहनता को।

३) (वर्षो) वर्षयिणि! वृष्टि करनेवाली। इस गृहकुलरूपी (वर्षीयसि यज्ञे) वृष्टिकारक यज्ञ में, मुझ (यज्ञ-पतिं) यज्ञपति को (धाः) धार, सहार।

गृहकुल का सुष्ठु संचालन वह वृष्टिकारक यज्ञ है, जिससे उभय लोकों के ऐश्वर्यों की सुवृष्टि होती

है, जिसमें शरीर-सुखों और आत्मानन्दों की वर्षा होती है। किन्तु यह वृष्टियाग कृतकार्य तब ही होता है, जब इस याग के सुनिर्वहन में ज्योतिष्मती पत्नी अपने पति को, धारती, सहारती और सहारा देती है। पत्नी का सहारा पाकर पति सबल होजाता है। पत्नी के सहारे से वंचित होकर पति का यज्ञ निष्फल होजाता है।

"वर्षयिणि ! इस सुवृष्टि-याग में मुझ यज्ञपति को सहारती रहना, सतत सन्तत निरन्तर अन्त तक मुझे अपना सहारा देती रहना", कितने गहन सहयोग, सहकार और एकाकार की भावना निहित है इस आत्मीयतापूर्ण सम्बोधन में।

इस हृदयस्पर्शी सम्बोधन से सम्बुद्ध होकर पत्नी के मुख से सहसा निकल पड़ता है, "प्रियतम ! मैं तुझ पर (स्वाहा) बलि जाऊं, तेरी (देवेभ्यः) दिव्यताओं के लिये, तेरे दिव्य गुणों के प्रति। मेरे गुणवन्त पते ! मैं तेरे दिव्य गुणों पर बलिहारी जाती हूं"।

और पति बोल पड़ता है, "प्रियतमे ! मैं तेरी (देवेभ्यः) दिव्यताओं के लिये, तेरे दिव्य गुणों के प्रति (स्वाहा) बलि जाऊं। गुणशीले ! मैं तेरे दिव्य गुणों पर बलिहारी जाता हूं"।

दोनों घृत से अक्त,
तरो लांघो पशुओं को।
रेवति ! प्रिय धारण कर,
कर प्रवेश प्रेम से,
अपने मुझ यजमान पति में।
उरु हृदय से आनेवाले,
दिव्य वात से संगत रहकर,
इस अपने यजमान पति को,
शुद्ध हवि से शुद्ध यजन कर।
इस अपने यजमान पति के,
प्रिय तनू से,
सतत आत्मना,
संगत रहना।
वर्षयिणि ! सहारती रहना,
वृष्टिकारक गृहयजन में,
अपने इस प्रिय यज्ञपति को।
जाती हूं तुझपर बलिहारी,
तेरी दिव्यताओं के लिये।
तेरी दिव्यताओं के लिये,
जाता हूं तुझपर बलिहारी ॥

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्त आतानानर्वा प्रेहि।
घृतस्य कुल्या उप ऋतस्य पथ्या अनु ॥

(यo ६/१२)

मा अहिः भूः मा पृदाकुः नमः ते आतान अनर्वा प्र इहि।
घृतस्य कुल्याः उप ऋतस्य पथ्याः अनु ॥

उपर्युक्त सम्बोधन से सम्बुद्ध और प्रभावित होकर पत्नी अपने पति के प्रति निवेदन करती है—१) (आ-तान) विस्तार करनेवाले ! (मा अहिः भूः मा पृदाकुः) न अहि हो न पृदाकु।

पति को यहां आतान सम्बोधन से सम्बोधित किया गया है। सन्तानरूपी तन्तु का विस्तार करनेवाला होने से पति आतान है। पत्नी भूमिरूपा है। पति बीजरूप है। पत्नीरूपी भूमि में पति वीर्यरूपी बीज बोता है। वीर्य-बीज से सन्तति का विस्तार होता है। इस प्रकार पति आतान है।

अहि नाम है सर्प का और पृदाकु कहते हैं व्याघ्र को। सर्प और व्याघ्र दोनों ही हिंसक प्राणी हैं,

किन्तु सर्प प्रतीक है विष का तो व्याघ्र प्रतीक है क्रूरता का। पति को न तो विषयविष से विषैला होना चाहिये, न क्रूरता से क्रूर होना चाहिये। बीज के गुण फल में निहित होते हैं। पिता के शील और स्वभाव का प्रभाव सन्तान में संस्काररूप से जाता है। पिता की प्रकृति में न सर्पता होनी चाहिये, न व्याघ्रता। अन्यथा उसकी सन्तान देवस्वरूप न होकर सर्परूप तथा व्याघ्ररूप होगी।

यह मान्यता नितान्त निराधार है कि स्त्री पुरुष की अपेक्षा अधिक कामुक अथवा क्रूर होती है। स्त्री में पुरुष की अपेक्षा स्नेह अधिक होता है, पर काम की मात्रा उसमें बहुत कम होती है। नारी प्रकृति से सुस्नेहा तथा सुसंयत होती है। वह पुरुष ही है जो अपने असंयत आचार से नारी को कामुक तथा क्रूर बना देता है।

कामात् जायते क्रोधः। काम से क्रोध की उत्पत्ति होती है। कामुकता से क्रूरता उत्पन्न होती है। सर्पता से व्याघ्रता का जन्म होता है। जब जब पति की प्रकृति में सर्पता और व्याघ्रता की झलक दिखाई पड़े, तब तब पत्नी उसे सावधान करे, "सन्तति-तन्तु का विस्तार करनेवाले! तू मत सर्पता के वशीभूत हो, मत व्याघ्रता के"।

२) (नमः ते) नमस्कार तेरे लिये! मैं तुझे नमस्कार करती हूं।

पत्नी जब जब अपने पति को सर्पता तथा व्याघ्रता से वर्जे, तब तब नमस्कार के साथ विनय करे, तिरस्कार के साथ नहीं। सचमुच वह नमस्करणीय है, जो सर्पता तथा व्याघ्रता से बचे रहने की क्षमता रखता है।

"मैं तुझे नमस्कार करती हूं और निवेदन करती हूं कि तू सर्पता और व्याघ्रता से मुक्त रह"।

३) (अन्-अर्वा प्र-इहि) अन्-अर्वता के साथ प्र-गमन कर। व्यवहार कर।

अर्व का अर्थ है हिंसा। अनर्व का अर्थ है अहिंसा। अनर्वा का अर्थ है अहिंसा के साथ, अहिंसा-वृत्ति के साथ, सुशीलता और शालीनता के साथ, स्नेह और सोम्यता के साथ। गृहपति को चाहिये कि वह अपने गृहकुल की प्रजा के प्रति स्नेह और सुशीलता के साथ व्यवहार करे, निर्दयता तथा कुशीलता के साथ नहीं। सन्तति के जीवन का सुनिर्माण तथा परिवार का हितसाधन स्नेहपूर्वक समझाने और सिखाने से होता है, मार-पीट तथा फटकार से नहीं। हर समय झिल्लाने, चिल्लाने और मारने पीटने से परिवार के व्यक्तियों का स्वभाव सुधरने के बजाय बिगड़ता है।

जब जब पति किसी के प्रति अर्वता, निर्दयता और कुशीलता के साथ बर्ताव करे, तब तब पत्नी उससे निवेदन करे, "देव! नमः ते, अनर्वा प्र-इहि—देव! नमस्कार तेरे लिये, अनर्वता के साथ व्यवहार कर। मैं सनमस्कार निवेदन करती हूं कि तू धैर्य और शान्ति से काम ले"।

४) (घृतस्य कुल्याः उप-इहि) घृत की कुल्याओं को उपगमन कर।

जैसाकि पूर्व मन्त्र की व्याख्या में लिखा जा चुका है, घृत प्रतीक है स्नेह का।

कुल्या कहते हैं उस सुप्रवाहित सुनिर्मित नदी को, जिसकी जलधारा दोनों ओर उठे हुए किनारों के मध्य में समगति से बहती है और जिससे खेतों की सिंचाई होती है। आजकल की बोली में उसे नहर, उपनहर और बम्बा कहते हैं। नहर कभी उफनती नहीं है, क्योंकि वह नियत तथा मित गति से बहती है। खेती के लिये उपयोगी होने से वह जनकल्याण करनेवाली होती है।

पत्नी अपने पति से कहरही है, "ते नमः, घृतस्य कुल्याः उप-इहि—मैं तुझसे सनमस्कार विनय करती हूं कि तू नहरों [के शील] को प्राप्त रह। तू न कभी

बबल, न उफन, न कभी मर्यादा तथा कर्तव्य की उभय सीमाओं का उल्लंघन कर। अपने जीवन-प्रवाह को संयत तथा मित रखता हुआ अपने इस गृहकुल को स्नेहवारि से सींच और इसे सर्वतः सम्पन्न रख।

५) (ऋतस्य पथ्याः अनु-इहि) ऋत की बटियाओं को अनुगमन कर।

ऋत का अर्थ है ठीक [Right], सही। जो कुछ धर्मानुकूल, नियमानुकूल, तथा सदाचारयुक्त है, वह सब ऋत है। पत्नी के इस सम्बोधन में एक मनोहारिणी प्रेरणा निहित है। आचार की भाषा मौखिक प्रचार की भाषा से कहीं अधिक तीव्र तथा प्रभावशाली होती है। पत्नी यही रहस्य खोल रही है, "पते! इस गृहकुल के आदर्शों की रक्षा तथा गृहकुलवासियों में उन आदर्शों की प्रस्थापना के लिये तू सदा ऋत की बटियाओं पर चल। तेरा चिन्तन ऋत [ठीक, सही, Right] हो। तेरी दृष्टि ऋत हो। तेरी श्रुति ऋत हो। तेरी वाणी ऋत हो। तेरी कृति ऋत हो। तेरी प्रत्येक गति और चेष्टा ऋत हो। तेरा जीवन ऋत पर आश्रित हो। तेरा जीवन-रथ ऋत की बटियाओं पर अनुगमन करनेवाला हो। तू अपने जीवन से ऋत की वे अमिट रेखायें खींच, जिनपर चलकर तेरी प्रजा [सन्तान] ऋतगामी बने।

मत हो सर्प न हो पृदाकु,
नमस्कार तेरे लिये विस्तार के करनेवाले,
कर प्रगमन अनर्वा।
कर उपगमन स्नेह की धाराओं पर,
कर अनुगमन तू ऋत की बटियाओं पर॥

सूक्ति—**माहिर्भूर्मा पृदाकुः।**
न सर्प हो, न व्याघ्र॥

देवीरापः शुद्धा वोढ्वं सुपरिविष्टा देवेषु सुपरिविष्टा।
वयं परिवेष्टारो भूयास्म॥ (य० ६/१३)

देवीः आपः शुद्धाः वोढ्वं सु-परि-विष्टाः देवेषु सु-परि-विष्टाः
वयं परि-वेष्टारः भूयास्म॥

जिसमें प्रवेश किया जाता है, उसे विष्ट कहते हैं। जो प्रवेश करता है, उसे वेष्ट कहते हैं। विष्ट का स्त्रीलिंग है विष्टा। विष्टा का बहुवचन है विष्टाः। वेष्ट का बहुवचन है वेष्टारः। पत्नियां विष्टाः हैं। पति वेष्टारः हैं। पति अपने वीर्यरूपी बीज के द्वारा अपनी पत्नियों के गर्भ में प्रवेश करते हैं, जिससे सन्तानरूपी सुफल की प्राप्ति होती है।

पति कहते हैं—

१) (आपः शुद्धाः देवीः) जलशीला शुद्ध देवियो!

२) तुम (देवेषु) [हम] देवों में (सु-परि-विष्टाः) सु-परि-प्रविष्टा होकर, (सु-परि-विष्टाः) सु-परि-प्रवेष्टा होकर (वोढ्वं) वहन करो। क्या? सुसन्तान।

३) (वयं) हम (परि-वेष्टारः भूयास्म) परि-वेष्टा हों। किस प्रकार? वीर्यरूप से, बीजरूप से।

सुपरिविष्टाः शब्द का दो बार प्रयोग सुष्ठुता की अतिशयता के लिये हुआ है।

देवीः शब्द का प्रयोग हुआ है यहां दिव्य गुणों से युक्त पत्नियों के लिये और देवेषु शब्द का प्रयोग हुआ है दिव्य गुणों से युक्त पतियों के लिये।

पत्नियां कैसी हों? पत्नियां हों (१) देवीः, दिव्य गुणों से युक्त देवियां, (२) आपः, जलधाराओं के समान शीतल, शान्त, सुसिंचिका, सुशोधिका तथा सुप्रवाहिका, (३) शुद्धाः, बाहर से स्वच्छ और भीतर से निर्मल पवित्र।

ऐसी देवियां ही देवोपम प्रजा अथवा दिव्य सन्तान का निर्माण करती हैं। ऐसी मातायें ही अपनी प्रजा का सुष्ठु जीवन बनाती हैं। जननी जनयित्री जीवन-निर्मात्री। जननी का कार्य केवल जनना ही नहीं है, जीवन-निर्माण करना भी है। जननेवाली और जनकर जीवन बनानेवाली माता ही वास्तव में जननी है।

सन्तान के जीवन-निर्माण का प्रारम्भ जन्म से नहीं, गर्भ से भी नहीं, गर्भ-धारण से भी पूर्व, बहुत पूर्व होता है। गर्भाधान से पूर्व माता पिता को अपने जीवन को दिव्य सुदिव्य और पूर्ण सुपूर्ण बना लेना चाहिये। गर्भाधान से पूर्व भूमि के परिष्कार तथा बीज की परिपक्वता का निष्पादन परमावश्यक है।

पिता से सन्तान का आकृतिकरण और माता से सन्तान का प्रकृतिकरण तथा संस्कारकरण होता है। माता के अङ्ग अङ्ग से सन्तान का अङ्ग अङ्ग निर्मित होता है। माता के मस्तिष्क से सन्तान का मस्तिष्क बनता है। माता के हृदय से सन्तान का हृदय बनता है। माता के विचारों से सन्तान का मस्तिष्क संस्कारित होता है। माता की भावनाओं से सन्तान का हृदय भावित होता है। अतः दैवी प्रजनन और दिव्य सन्तान की उपलब्धि के लिये यह परम आवश्यक है कि गर्भाधान से पूर्व दोनों अपने अपने जीवन को सर्वतः दिव्य सुदिव्य बनालें, अन्यथा माता पिता के जीवन की न्यूनतायें तथा त्रुटियां सन्तान के जीवनों में अन्तःस्थ होंगी और सन्तान दिव्य सन्तान न होकर अधम सन्तान होगी।

माता का जीवन पिता के जीवन से भी अधिक दिव्य सुदिव्य होना चाहिये। विशेषतः माता की प्रकृति, विचार और भावनायें जल के समान शीतल, शान्त और परिष्कृत होने चाहियें और उसका अन्तः बाह्य जीवन सम्पूर्णतः शुद्ध सुसंस्कृत होना चाहिये।

देवियां जब सर्वतः शुद्ध होजायें, तब वे गर्भ-स्थिति के लिये विष्टा बनें और तब उनके दिव्य पति गर्भाधान के रूप में वेष्टा बनें। इस प्रकार दिव्य देवियां दिव्य सन्तानों अथवा प्रजाओं का निर्वहन करें। इस प्रकार ही उनकी गोदियों में वे दिव्य शिशु क्रीड़ा करते हैं और उनके आंगनों में वे दिव्य बालक बालिकायें खेलते हैं, जो परिवार, समाज, राष्ट्र और संसार को अपनी दिव्यता से द्योतित कर देते हैं।

"जलशीला शुद्ध देवियो ! तुम अतिशय सुष्ठुता के साथ हम देवों में सुपरिविष्टा होकर दिव्य सन्तान का निर्वहन करो। हम दिव्य पति तुम्हारे परिवेष्टा हों", वेदमाता ने पतियों के मुख से उनकी पत्नियों के प्रति यह कहलवाकर दिव्य सन्तान के संसृजन का एक सुविज्ञान ज्ञात कराया है।

इससे पूर्व सर्वत्र पति पत्नी का परस्पर सम्बोधन तथा उद्बोधन एकवचन में हुआ है। यहां बहुवचन में क्यों ? पूर्व के एकवचन प्रयोग जातिवाचक होने से बहुपरक अथवा सर्वपरक ही हैं। मानव जाति के लिये जिस प्रकार एकवचन मानव शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार वेद में एकवचन प्रयोग प्रायः जातिपरक अथवा सर्वपरक होते हैं।

जलशीला संशुद्ध देवियो,
देवों में होकर परिविष्टा,
होकर सुष्ठुतया परिविष्टा,
होवें हम सर्वतः वेष्टा।

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि
श्रोतं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि
पायुं ते शुन्धामि चरित्राँस्ते शुन्धामि ।। (य० ६/१४)

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुः ते शुन्धामि
श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि
पायुं ते शुन्धामि चरित्रान् ते शुन्धामि ।।

गर्भस्थिति से लेकर जन्म तक और जन्म से लेकर पांच वर्ष की आयु तक बालक का प्रथम आचार्य है माता। गर्भावस्था में माता के प्रत्येक अङ्ग का जैसा व्यवहार होगा, गर्भस्थ बालक का प्रत्येक अङ्ग उसी के अनुरूप संस्कार तथा क्षमता ग्रहण करेगा। माता को चाहिये कि गर्भावस्था में अपनी समस्त इन्द्रियों को नीरोग, स्वस्थ और सुन्दर रखे और अपनी समस्त इन्द्रियों के चरित्रों को सर्वथा निर्दोष, निष्पाप और शुद्ध संशुद्ध रखे। पति को भी चाहिये कि वह इस विषय में अपनी पत्नी की पूर्णरूपेण सहायता करे।

जननी किस प्रकार अपने सन्तान का धारण तथा विकास करे, इस विषय का सुन्दर ज्ञान वेदमाता ने इस मन्त्र में मातृसम्बोधन द्वारा कराया है। जब तक गर्भ स्थित रहे, तब तक अपने गर्भस्थ शिशु को और जब बालक का जन्म होजाये, तब साक्षात् अपने शिशु को सम्बोधन करती हुई माता कहती है—

१) मैं (ते वाचं शुन्धामि) तेरी वाणी को शोधती हूं।

गर्भावस्था में माता जिस प्रकार का उच्चारण करती है और जिस प्रकार के वचन बोलती है, गर्भस्थ बालक की जिह्वा उसी प्रकार के संस्कारों से संस्कृत होती है। गर्भावस्था में यदि माता विशेष सावधानी के साथ प्रत्येक शब्द का शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण करे और साथ ही सदा सत्य, शिष्ट, शालीन और सुमधुर ही भाषण करे, तो गर्भ में ही बालक की जिह्वा की रचना इस प्रकार की होती है कि बड़ा होने पर उसकी बोली नितान्त स्पष्ट और उसका उच्चारण अतिशय शुद्ध होता है। जो माता ऐसा नहीं करती है, उसके बालक की जिह्वा की रचना ऐसी होती है कि वह बाल्यावस्था में पर्याप्त आयु तक तोतली बोली बोलता है और यावदायुष्य वह अशुद्धोच्चारण करता है।

माता तथा परिवार को चाहिये कि बालक के जन्म के उपरान्त भी बालक के कानों में जो वचन या शब्द पड़ें, वे सर्वथा शुद्ध, स्पष्ट, सत्य, शिष्ट, शालीन और सुमधुर हों। प्रत्येक शिशु अथवा बालक में जानने और सीखने की तीव्र इच्छा अन्तर्निहित होती है। किसी भी प्रकार का शब्द कान में पड़ने पर शिशु कान लगाता है अथवा कनेर करता है और बोलनेवाले के मुख की ओर देखता है। बोलनेवाले के ओष्ठों की तथा उसकी जिह्वा की चेष्टा का अनुकरण करता हुआ वह उसी प्रकार से अपने ओष्ठों तथा अपनी जिह्वा को गति देकर वह श्रुत शब्द या शब्दों को स्वयं उच्चारने की चेष्टा करता है। शिशुओं को मुख समुख खिलाते हुए अथवा लोरियां गाते हुए प्रत्येक व्यक्ति को, विशेषतः सततसंगिनी बालक की माता को, इस वैदिक रहस्य का सदा ध्यान रखना चाहिये। इसी गुह्य रहस्य का उद्‌घाटन करते हुए माता के मुख से बालक के प्रति कहलवाया गया है, "मैं तेरी वाणी को

शोधती हूं। मैं तुझे शुद्ध, स्पष्ट, सत्य, प्रिय बोलना सिखाती हूं''।

२) मैं (ते प्राणं शुन्धामि) तेरे प्राण को शोधती हूं।

गर्भस्थ बालक माता के प्राण से अनुप्राणित होता है। जिस माता को अस्थमा आदि प्राण-विकार अथवा प्राण-रोग होता है, उसका जन्मा बालक भी प्रायः उस रोग का रोगी होता है। माता को चाहिये गर्भावस्था से पूर्व प्रति दिन पूर्ण प्राणायाम करके अपने प्राण को पूर्णतया स्वस्थ और सम रखे और गर्भावस्था में नित्य गर्भ-प्राणायाम करके गर्भस्थ बालक के प्राण को स्वस्थ और सम बनाये।

बालक के जन्मने पर माता बालक की नासिका को सदा शुद्ध रखे, जिससे उसके श्वास प्रश्वास की गति स्वस्थ और निर्बाध रहे। माता इस बात का भी ध्यान रखे कि सोते जगते बालक के ओष्ठ सदा बन्द रहें, ताकि बालक सदा नाक से सांस लेवे, मुंह से नहीं। जिस बालक के ओष्ठ खुले रहते हैं, वह मुख और नासिका दोनों से सांस लेता है, जिसके परिणामस्वरूप बालक की प्राणशक्ति तथा पाचन-शक्ति दुर्बल होती रहती है। मस्तिष्क तथा चिन्तन-शक्ति पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। मुंह खुला रखनेवाले की स्मरणशक्ति प्रायः दुर्बल होती है और उसके मस्तिष्क में एकाग्रता का भी प्रायः अभाव होता है। ठोरना, नाक बजाना, अच्छी प्रकार सांस न लेना—प्राणसम्बन्धी दोष हैं। इन दोषों से बालक को मुक्त रखना चाहिये।

प्राण की शक्ति को शुद्ध अक्षुण्ण रखने के लिये माता इस बात का भी सदा ध्यान रखे कि बालक को ऐसी स्थिति में सुलाने का अभ्यास डाले कि सोते हुए उसका श्वास प्रश्वास निर्बाधता के साथ प्रवाहित रहे और शयन करते हुए बालक ठोरने न पाये। श्वास प्रश्वास के ठीक प्रकार से प्रवाहित न होने के कारण ही बालक सोते हुए नासिका से ठोरा करता है। माता बालक को लम्बा और गहरा सांस लेने का अभ्यास डाले।

पांच वर्ष की आयु तक नित्य तैल की मालिश तथा गर्म जल के स्नान से बालक की प्राणशक्ति का संवर्धन और परिपाक होता है। आयुर्वेदानुसार प्राणप्रद खाद्य पदार्थों के सेवन से भी बालक का प्राण स्वस्थ और सशक्त होता है।

''मैं तेरे प्राण को शोधती हूं'', इस सम्बोधन में माता के लिये चेतावनी है कि वह अपने शिशु के प्राण की शक्ति के विकास का सदा सर्वदा ध्यान रखे।

३) मैं (ते चक्षुः शुन्धामि) तेरे चक्षु को शोधती हूं।

गर्भावस्था में माता अपने नेत्रों को सर्वथा स्वच्छ, नीरोग और स्वस्थ तथा अपनी दृष्टि को अक्षुण्ण निर्विकार रखेगी, तो गर्भस्थ बालक के नेत्र पूर्णतया स्वच्छ, सुन्दर, नीरोग और स्वस्थ तथा उसकी दृष्टि अक्षुण्ण और निर्विकार होगी।

जन्मोपरान्त माता सतर्कता के साथ अपने बच्चे के नेत्रों को सदा सर्वदा स्वच्छ, सुन्दर और नीरोग रखे। साथ ही वह गृह के वातावरण को इतना पवित्र और सुरम्य रखे कि बालक की दृष्टि सदा निर्विकार और निर्दोष रहे। माता सावधानी के साथ ध्यान रखे कि बच्चे की आंखें ऐंडी, भेंडी, ऐंची बेंची, ऐंकी बेंकी न होने पायें। बच्चे को ऐसा अभ्यास डाला जाये कि वह अवलोकनीय वस्तुओं का एकाग्रता तथा गहनता के साथ अवलोकन किया करे। बच्चे की आंखें सोहनी रहें और उसकी दृष्टि मोहनी रहे। साथ ही उसकी दर्शनशक्ति अक्षुण्ण और उसकी दृष्टि विकासोन्मुख रहे।

''मैं तेरे नेत्र को शोधती हूं'', माता की इस उक्ति में उपर्युक्त प्रेरणायें निहित हैं।

४) मैं (ते श्रोत्रं शुन्धामि) तेरे कर्ण को शोधती हूं।

गर्भावस्था में माता अपने श्रोत्रों को अन्दर बाहर से नितान्त स्वच्छ, सुन्दर, नीरोग और स्वस्थ तथा अपने श्रवण को शुद्ध और निर्विकार रखेगी, तो गर्भस्थ बालक के श्रोत्र भी स्वच्छ, सुन्दर, नीरोग और स्वस्थ होंगे तथा उसका श्रवण भी अक्षुण्ण और निर्विकार होगा।

जन्मोपरान्त माता सतर्कता के साथ अपने शिशु के श्रोत्रों को सदैव स्वच्छ, सुन्दर और नीरोग रखे। साथ ही वह सतर्कतापूर्वक इस बात का ध्यान रखे कि बालक के कानों में अश्लील शब्द या ध्वनि न पड़ने पाये। बच्चे के कानों में जो शब्द या ध्वनियां गूंजें, वे निर्विकार और सुप्रेरणाप्रद तो हों ही, सुसंस्कारों के सुसम्पादक भी हों। बच्चे को पालने में झुलाते हुए जो लोरियां अथवा गीत गाये जायें, वे सुमधुर सुबोधक और सुपावन हों। बच्चे को ऐसा अभ्यास डाला जाये कि वह प्रत्येक बात कान लगाकर ध्यान से सुने। साथ ही ऐसे साधनोपाय वर्ते जायें कि बच्चे की श्रवणशक्ति सदा अक्षुण्ण और विकासोन्मुख रहे।

बच्चे के कानों का मैल निकालने में बड़ी सावधानी वर्तनी चाहिये। इस विषय में असावधानी वर्तने से बच्चे के कानों में मवाद पड़ जाता है। कानों में तैल डालने से मैल फूल जाता है। तब एक सींक या सलाई पर मुलाइम रुई लपेटकर हल्के हाथ से मैल निकालना चाहिये। ख़ुश्क कानों में से नंगी आल्पीन, सींक या शलाका से मैल निकालना बहुत हानिकारक है। कुपच के कारण भी अनेक कर्णरोग होजाते हैं। कानों में शीतल पवन के प्रवेश तथा पैर के तलवों में सर्दी का असर होजाने से भी कानों में कतिपय रोग होजाते हैं।

"मैं तेरे श्रोत्र को शोधती हूं", माता की इस वैदिक लोरी से इसी कर्णविज्ञान का बोध कराया गया है।

५) मैं (ते नाभिं शुन्धामि) तेरी नाभि को शोधती हूं।

शरीर में तीन कमल होते हैं—शीर्षकमल, हृदयकमल, नाभिकमल। शीर्षकमल का स्थान मस्तक में भ्रुओं [भौओं] के मध्य से लेकर दो अंगुल ऊपर तक है। हृदयकमल हृदयाकाश में है। नाभिकमल नाभि में है। तीनों कमल किस प्रकार खिलते और विकसित होते हैं और उनका योग और भोग में क्या क्या प्रभाव व परिणाम होता है, यह एक लम्बा विषय है। यहां नाभि के प्रसंग में इतना संकेत कर देना अनिवार्य है कि नाभिस्थ कमल शरीर के मध्य लोक में स्थित है और वह ऊर्ध्व लोक [नाभि से ऊपर का सम्पूर्ण भाग] तथा अधोलोक [नाभि से नीचे का सम्पूर्ण भाग] का नियन्त्रण करता है। स्नेहन, जलधार, नाभि-स्नान तथा नाभिप्राणायाम द्वारा नाभि को स्वच्छ, सुन्दर, स्वस्थ और सुविकसित रखने से नाभिकमल, हृदयकमल तथा शीर्षकमल के खिलने और विकसित होने में सहज स्वाभाविक सहायता मिलती है। नाभि तथा नाभिकमल की अवस्था और स्थिति का सम्पूर्ण शरीर के गठन, स्वास्थ्य और विकास पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

गर्भावस्था में माता अपनी नाभि को पूर्णतया स्वच्छ, सुन्दर, और स्वस्थ रखेगी, तो गर्भस्थ बालक की नाभि स्वच्छ, सुन्दर और स्वस्थ होगी। यदि माता नित्य अपनी नाभि में स्नेहन करके उसमें जलधार देकर नाभिस्नान करेगी, तो उसके नाभि-कमल का खिलाव तथा विकास होगा और उसके प्रभाव से गर्भस्थ बालक का नाभिकमल सुविकसित होगा।

जन्मोपरान्त माता को चाहिये कि वह अपने शिशु की नाभि को सदा स्वच्छ, सुन्दर और सुविकसित रखने के साधनोपाय करती रहे। बालक

के समझदार होजाने पर वह उसे नाभि की स्वच्छता तथा स्वस्थता का महत्त्व और उसकी विधि बताये।

"मैं तेरी नाभि को शोधती हूं", माता की इस वैदिक उक्ति में यह नाभिविज्ञान निहित है।

६) मैं (ते मेढ्रं शुन्धामि) तेरे मेढ्र को शोधती हूं।

लिङ्ग, मेहनेन्द्रिय, मूत्रेन्द्रिय, सिञ्चनेन्द्रिय अथवा उपस्थेन्द्रिय का नाम मेढ्र है। नरशिशु की इस इन्द्रिय का नाम मेढ्र है। नारीशिशु की इस इन्द्रिय का नाम भग है।

माता को चाहिये गर्भावस्था में अपने भग को कामचेष्टा से सर्वथा मुक्त और शुद्ध रखे। गर्भावस्था में जो माता कामातुर तथा कामरत रहती है, उसकी सन्तान कामी और विषय-लम्पट होती है। जो माता गर्भावस्था में पूर्ण संयम तथा ब्रह्मचर्य से रहती है, उसकी सन्तान में संयम तथा यौनशुचिता के संस्कार होते हैं।

बालक के जन्म के उपरान्त भी माता सर्वथा संयम तथा यौनशुचिता के साथ रहे। जिस कमरे में बालक का निवास अथवा रहन सहन हो, उसके वातावरण को पूर्णतया निर्विकार और शुद्ध रखें। बालक की दृष्टि, श्रुति और उसके वातावरण में माता पिता किसी भी प्रकार की ऐसी बात न आने दें, जिससे उसके संस्कार में विषय विषमता आये।

बालक को स्नान कराते हुए माता नित्य बालक के मेढ्र अथवा बालिका के भग को जल से सम्यक्तया स्वच्छ करे। इस विषय में सावधानी न रखने से बालक के मेढ्र में प्रायः छोटे छोटे अंडे से पड़ जाते हैं। अंडों के पड़ जाने से एक प्रकार की सुरसुराहट होती है, जिससे बालक बार बार अपने मेढ्र को अपने हाथ से पकड़ता और सुरसुराता है और कुचेष्टा करने लगता है।

"मैं तेरे मेढ्र को शोधती हूं", माता की इस वैदिक उक्ति में इसी सावधानी का संकेत है।

७) मैं (ते पायुं शुन्धामि) तेरी गुदा को शुद्ध करती हूं।

मेढ्र के समान ही माता अपने शिशु की गुदा का भी सम्यक् शोधन करती रहे। विशेषतः शौच के उपरान्त तथा स्नान कराते समय माता अपने बालक की गुदा को जल से अच्छी प्रकार धोये।

८) मैं (ते चरित्रान् शुन्धामि) तेरे चरित्रों को शोधती हूं।

चरित्रान् से तात्पर्य इन्द्रियों के व्यवहार से है। माता सावधानी के साथ बच्चे को प्रत्येक इन्द्रिय से शुद्ध चेष्टा और शुद्ध व्यवहार सिखाये। किस प्रकार बोलना, किस प्रकार सांस लेना और सूंघना, किस प्रकार देखना, किस प्रकार सुनना, किस प्रकार खेलना, किस प्रकार मल मूत्र त्यागना, प्रत्येक इन्द्रिय का किस प्रकार प्रयोग करना—इत्यादि व्यवहार माता सावधानी के साथ अपने बालक बालिका को सिखाये।

चरित्र नाम शिष्ट आचार का भी है। गोदी में से ही माता अपने बच्चे को शिष्ट आचारों की शिक्षा करे। जी अजी और अदब आदर के साथ सत्य सुमधुर शिष्ट भाषण करना, नीची शालीन दृष्टि से देखना, बड़ों के आदेश को आदर और एकाग्रता के साथ श्रवण करके उसका यथावत् पालन करना, शिष्टता के साथ बैठना, शालीनता के साथ चलना, प्रत्येक कार्य यथाविधि करना, खड़े होकर स्वागत और अभिवादन करना, मान मर्यादा तथा परम्पराओं का ध्यान रखना, इत्यादि शिष्ट आचारों की रीति नीति भी माता बच्चे को सिखाये।

शोधती हूं तेरी वाणी को,
शोधती हूं मैं तेरा प्राण,
शोधती हूं तेरे चक्षु को,
शोधती हूं मैं तेरा श्रोत्र,
शोधती हूं तेरी नाभि को,
शोधती हूं मैं तेरा मेढ्र,
शोधती हूं तेरे पायु को,
शोधती हूं तेरे चारित्र ॥

मनस्त आ प्यायतां वाक्त आ प्यायतां प्राणस्त आ प्यायतां चक्षुस्त आ प्यायतां श्रोत्रं त आ प्यायताम् । यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आ प्यायतां निष्ट्यायतां तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः । ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः ॥ (य० ६/१५)

मनः ते आ-प्यायतां वाक् ते आ-प्यायतां प्राणः ते आ-प्यायतां चक्षुः ते आ-प्यायतां श्रोत्रं ते आ-प्यायताम् । यत् ते क्रूरं यत् आ-स्थितं तत् ते आ-प्यायतां निःत्यायतां तत् ते शुध्यतु शं अहःभ्यः । ओषधे त्रायस्व स्व-धिते मा एनं हिंसीः ॥

छटे वर्ष से आठवें वर्ष की आयु तक बालक का दूसरा आचार्य है पिता। माता संस्कारदा। पिता विकासदा। पांच वर्ष तक की आयु संस्कारायु है। पांच वर्ष तक की आयु में बालक के जीवन में जो जैसे संस्कार समंकित होजाते हैं, उन्हीं के आधार पर वह यावज्जीवन विकसित अथवा वृद्धिगत होता रहता है। अतः पांच वर्ष की आयु तक माता बालक बालिका को सुसंस्कारों से सुसंस्कृत करे और तदुपरान्त पिता उन सुसंस्कारों को विकसित करे, तो बालक का और संसार का महान् हित होता है। इसी उद्देश्य से वेदमाता पिता के मुख से बालक के प्रति कहलवा रही है—

१) (ते मनः आप्यायताम्) तेरा मन आप्यायित हो/सुविकसित हो/व्याप जाये।

आप्लृ व्याप्तौ। प्यायताम् क्रिया का जन्म आप्लृ धातु से हुआ है, जिसका अर्थ है व्यापना, फैलना, विकसित होना।

जीवन के विकास में मन के विकास का सर्वोपरि स्थान है। जब कोई पर्यटक किसी नये नगर में उस नगर के किसी सुपरिचित व्यक्ति के साथ भ्रमण [सैर] करने जाता है, तो वह वहां की प्रत्येक वस्तु के विषय में जिज्ञासा-भाव से प्रश्न करता है—यह क्या है, यह कैसी इमारत है, यह किसका भवन है, यह किसका उद्यान है, इस बाग़ में क्या क्या फल उगते हैं, इत्यादि। उसका साथी उसके प्रत्येक प्रश्न का समाधानकारक उत्तर देकर उसकी जिज्ञासानिवृत्ति करता जाता है। इस प्रकार उस नगर के विषय में ज्यों ज्यों पर्यटक की जानकारी बढ़ती जारही है, त्यों त्यों उसे प्रसन्नता होती जारही है।

दम्पति का नन्हा सा बालक भी इस संसार का एक नवागन्तुक पर्यटक है। कभी वह सूर्य की ओर अंगुली करके पूछता है—यह क्या है। कभी वह चन्द्रमा की ओर इशारा करके पूछता है—यह क्या है। कभी वह पूछता है—सूर्य को किसने बनाया, कैसे बनाया, चन्द्रमा को किसने बनाया, कैसे बनाया, यह इतना ऊंचा पहाड़ कैसे बना, यह नदी इधर से उधर को क्यों बह रही है उधर से इधर को क्यों नहीं बहती, हवा दिखाई क्यों नहीं देती, आकाश कितना बड़ा है, ओम् कौन है कहां रहता है, आत्मा क्या है। बच्चे के इस प्रकार के प्रश्नों को उसकी बहक न

समझिये, उसकी स्वाभाविक जिज्ञासा समझिये और उसके प्रश्नों के ऐसी सहज सरल रीति से उत्तर दीजिये कि जिससे उसकी जिज्ञासा की निवृत्ति हो, उसके ज्ञान की वृद्धि हो और परिणामतः उसे प्रसन्नता की प्राप्ति के साथ साथ उसका मानसिक विकास भी हो। अपने बालक के जिज्ञासापूर्ण प्रश्नों के विनोदपूर्ण मिथ्या उत्तर देकर अथवा उसके प्रश्नों को टालकर आप अपने बालक के मन के विकास को रोक रहे होते हैं और उसका मानसिक ह्रास कररहे होते हैं। शैशवावस्था से ही बालक के माता पिता तथा परिवार परिजन इस बात का सदा ध्यान रखें कि बालक के जीवन के विकास के लिये उसके मन का विकास सर्वोपरि है। विश्व में कहीं भी विचरता हुआ बालक विश्व की हर वस्तु के विषय में सब कुछ जानना चाहता है। इसीलिये वह सर्वत्र प्रश्नों की झड़ी लगाता रहता है। अपने प्रश्नों के यथार्थ समाधान से उसके ज्ञान की वृद्धि होरही होती है। ज्ञान की वृद्धि से उसके मन का विकास हो रहा होता है।

पिता प्रसन्नतापूर्वक उसकी प्रत्येक जिज्ञासा का निवारण करता जाता है और मन ही मन कहता जाता है, "मेरे प्यारे बच्चे ! तेरा मन आप्यायित होता जाये, तेरा मन सुविकसित होता चला जाये, तेरा मन व्यापनशील होजाये।"

२) (ते वाक् आ-प्यायताम्) तेरी वाणी आप्यायित हो/सुविकसित हो/व्यापे।

मन अथवा ज्ञान के विकास के साथ साथ वाणी अथवा वाङ्मय का विकास भी होना चाहिये। पांच वर्ष की आयु से सोलह वर्ष की आयु तक बालक में स्मरण रखने और कण्ठाग्र करने की प्रबल क्षमता होती है, जबकि चिन्तन और विश्लेषण की क्षमता इस आयु में अपेक्षाकृत कम होती है। इसीलिये प्राचीन काल में आचार्यगण सोलह वर्ष की आयु तक अपने विद्यार्थियों को व्याकरण, वेद, शास्त्र, काव्य, आदि कण्ठाग्र कराया करते थे और तदुपरान्त कण्ठाग्र किये विषय के रहस्य समझाया करते थे। सोलह वर्ष की आयु तक बालक जो कुछ सुनता है, उसे झट याद कर लेता है। यह भी ध्रुव सत्य है कि सोलह वर्ष की आयु तक बालक में विविध भाषाओं के सीखने की बहुत तीव्र वृत्ति होती है। पिता को चाहिये कि बालक को प्राथमिक शिक्षा देता हुआ उसके वाङ्मय को समृद्ध और सम्पन्न करने की ओर विशेष प्रयत्नशील रहे।

३) (ते प्राणः आ-प्यायताम्) तेरा प्राण आप्यायित हो/सुविकसित हो/व्यापे।

गर्भ में निवास करते हुए बालक का प्राण सर्वथा रुन्धित रहता है। गर्भ में स्थित रहते हुए बालक के ग्यारहों प्राण सर्वथा सुप्त रहते हैं। गर्भ से बाहर निकलते ही शिशु के प्राण जागृत होते हैं। प्राण के जागरण से बालक की सुप्त चेतना प्रचेतित होती है। चेतना के प्रचेतने से वह देखने, सुनने, बोलने, उठने, बैठने, खड़े होने, चलने, फिरने और विविध प्रकार की गति, प्रगति तथा क्रीडा की ओर प्रवृत्त होता है। ज्यों ज्यों बच्चा होश संभालता जाता है, त्यों त्यों वह पिता के साथ बाहर जाकर विशाल संसार को देखने, जानने और आनन्द मनाने की इच्छा करता है। पिता को चाहिये कि वह अपने बालक या बालिका को यथासमय यथा-वसर अपने साथ बाहर लेजाकर उसे घुमाये फिराये। घूमने फिरने से प्राण का बल बढ़ता है। जो बालक घूमते फिरते नहीं हैं, उनका प्राण दुर्बल रहता है और परिणामस्वरूप उनका स्वास्थ्य प्रायः दीन रहता है। इसीलिये प्रातः सायं भ्रमण [सैर] करनेवाले व्यक्तियों का प्राण स्वस्थ और सक्षम रहता है। खेल कूद से भी बच्चे की प्राणशक्ति का विकास होता है। एक अच्छे पिता का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह अपने बच्चे के खेल कूद की सुचारु व्यवस्था अवश्य करे। विनोद और हास्य भी

प्राण के विकास में बहुत सहायक हैं और स्वभावतः ही बच्चों को विनोद और हास्य बड़ा प्रिय होता है। पौष्टिक और प्राणप्रद पदार्थों के सेवन से भी बालक का प्राण विकसित होता है। स्नेह और निर्भयता बालक के प्राण को पुष्ट करते हैं। कठोर व्यवहार और भय बालक की प्राण-शक्ति का ह्रास करते हैं। पूर्ण और गहन श्वास प्रश्वास तथा हल्के प्राणायाम से भी बच्चों का प्राण स्वस्थ और विकासोन्मुख रहता है। प्राण के विकास से जीवन का विकास होता है। इसीसे जीवन के लिये प्राण शब्द का प्रयोग होता है। इसीलिये कहा है–प्राणो वै जीवनम्, प्राण ही जीवन है। स्वस्थ प्राण स्वस्थ जीवन। अस्वस्थ प्राण अस्वस्थ जीवन। पिता को चाहिये कि प्राणविज्ञान के सब साधनोपायों से बालक की प्राणक्षमता तथा जीवनशक्ति का विकास करे।

४) (ते चक्षुः आ-प्यायताम्) तेरा नेत्र आप्यायित हो/विकसित हो/व्यापे।

चक्ष दर्शने। दर्शन अथवा देखने का साधन होने से नेत्रों का नाम चक्षु है। चक्षु शब्द का प्रयोग यहां दर्शन, अवलोकन तथा निरीक्षण के अर्थ में हुआ है। नन्हे बालक के लिये यह संसार उसका नया संसार है, जिसका उसे अभी कुछ भी ज्ञान नहीं है। इस संसार में वह जीने के लिये जन्मा है और यहां आकर उसे चन्द रोज़ नहीं, पूरे सौ वर्ष रहना है। तो उसे इस विशाल संसार की, इस संसार के प्राणियों और पदार्थों की, जानकारी की इच्छा और आवश्यकता होना स्वाभाविक ही है। वह अपने सब ओर नई नई अज्ञात वस्तुयें देखता है और उनके विषय में प्रश्न पर प्रश्न करता है। वह प्रत्येक पदार्थ को सरसरी निगाह से नहीं, ध्यानपूर्वक देखता है और पूछता है–यह क्या है, वह क्या है, यह कैसे, वह कैसे। पिता को चाहिये कि वह उसे प्रत्येक वस्तु या पदार्थ को अच्छी प्रकार अवलोकन कराये और उसके विषय में प्रत्येक बात अच्छी तरह समझाये, ताकि उसकी चक्षण-दर्शन-अवलोकन-निरीक्षण-शक्ति का सम्यक् विकास होता चला जाये।

५) (ते श्रोत्रं आ-प्यायताम्) तेरा श्रोत्र आप्यायित हो/विकसत हो/व्यापे।

श्रवण अथवा सुनने का साधन होने से कर्णों [कानों] को श्रोत्र कहते हैं। बाल्य काल से बालक को ऐसा अभ्यास कराना चाहिये कि वह प्रत्येक शब्द और प्रत्येक बात को ध्यानपूर्वक एकाग्रता के साथ सुने। ऐसा करने से जहां बालक सब प्राणियों की बोलियां पहचानता है, वहां उसका वाङ्मय भी समृद्ध होता जाता है। ध्यानपूर्वक देखने और सुनने के अभ्यास से बालकों में स्वभावतः और स्वयमेव एकाग्रता का संस्कार संनिहित होजाता है, जिससे उसके जीवन का निर्बाध संविकास होता है।

६) (ते यत् क्रूरं) तेरा जो क्रूर [स्वभाव] है, तेरी जो क्रूरता है, (ते तत्) तेरा वह (निःत्याय-ताम्) बाहर निकल जाये, (शुध्यतु) शुद्ध होजाये, धुल जाये।

ज्यों ज्यों बालक बड़ा होता जाये, त्यों त्यों उसके स्वभाव के सम्पादन की दिशा में सतर्कता वर्ती जानी चाहिये। स्वभाव का मानव के सुख दुःख तथा विकास और ह्रास से विशेष सम्बन्ध है। अपने उत्तम स्वभाव से मनुष्य जितना सुखी, समुन्नत तथा सुविकसित होता है, उतना अन्य किसी प्रकार से नहीं। स्वभाव दो प्रकार का होता है— सहृदय तथा क्रूर। स्वभाव की सहृदयता हृदय-हृदय को प्रसन्न करती है और क्रूरता हृदय-हृदय को खिन्न करती है। सहृदय व्यक्ति सबकी सुसेवा करके सबका प्यारा बनता है। क्रूर व्यक्ति सबकी कुसेवा करके सबका घृणापात्र बनता है। पिता और परिवार को योग्य है कि बालक के स्वभाव में से

क्रूरता का निराकरण करके उसे सोम्य, सुशील, सहृदय और शालीन बनायें।

७) तेरा (यत् आ-स्थितं) जो आ-स्थित है, (ते तत् आप्यायताम्) तेरा वह आप्यायित हो/विकसित हो/व्यापे।

आस्थित का अर्थ है आस्थित्य, स्थैर्य, धैर्य। बालक के स्वभाव में स्वभावतः आस्थित्य होता है। जिस बालक के स्वभाव में क्रूरता होती है, उसका आस्थित्य हठ या ज़िद में परिवर्तित होजाता है। जिस बालक के स्वभाव में सहृदयता होती है, उसका आस्थित्य स्थैर्य और धैर्य में परिवर्तित होता है। हठ या ज़िद से बालक हठी, ज़िद्दी, दुराग्रही बनता है। स्थैर्य और धैर्य उसे स्थिर, धीर, वीर, अडिग, गहन, गम्भीर बनाता है। बालक की प्रकृति में आस्थित्य की स्थापना का पिता विशेष ध्यान रखे।

८) (अहःभ्यः शम्) दिनों के लिये सुख-शान्ति।

बालक के जीवन, स्वभाव और प्रकृति में उपर्युक्त गुणों की स्थापना से बालक के दिनों के लिये, बालक के भावी जीवन-दिनों के लिये, सुख शान्ति की बुनियाद रखी जाती है। जिस बालक के जीवन में उपर्युक्त रीति से संविकास होता है, उस बालक से सब दिनों सबको सदा सर्वदा सुख शान्ति मिलती है।

९) (ओषधे) ! (त्रायस्व) तार।

पिता को यहां ओषधे शब्द से सम्बोधन करके वेदमाता ने पितृधर्म का प्रकाशन किया है। ओषधिर्वै दोषधिर्भवति। ओषधि निस्सन्देह दोषनिवारक होती है। पिता बालक के लिये ओषधिवत् दोषनिवारक होना चाहिये। पिता का भी, और माता का भी, जीवन ऐसा निर्दोष, निष्पाप और निष्पन्न हो कि उनके अनुकरण से बालक के जीवन में कोई दोष प्रवेश न करने पाये। पिता सतर्कता के साथ बालक को स्वभाव-दोष, व्यवहार-दोष, आचार-दोष, शरीर-दोष, आदि, सब प्रकार के दोषों से तारता रहे। माता भी बालक को सब प्रकार के दोषों से निस्तारती रहे।

१०) (स्व-धिते) ! (एनं मा हिंसीः) इसे मत हिंस।

स्व-धिति का अर्थ है आत्म-धृति, आत्म-धारणा। हिंसा का प्रयोग यहां त्यागने के अर्थ में हुआ है। स्वधिति नाम बरछी का भी है। पिता बरछी बनकर बालक की हिंसा न करे, अपि तु आत्म-धृति बनकर बच्चे की रक्षा करे।

स्वधिते एनं मा हिंसीः, इस वेदादेश में पिता के लिये एक गम्भीर चेतावनी है। जो पिता निर्दोष, निष्पाप और निष्पन्न नहीं है, वह अपने बालक के लिये वह बरछी है, जो बालक के जीवन की सदा के लिये हत्या कर देती है। जो पिता निर्दोष, निष्पाप और निष्पन्न है, वह अपने बालक के लिये वह आत्म-धृति है, जो अपने बालक के जीवन को सदा के लिये सर्वतः और सर्वथा सुरक्षित कर देती है।

मन तेरा आप्यायित होवे,
वाक् तेरी आप्यायित होवे,
प्राण तेरा आप्यायित होवे,
नेत्र तेरा आप्यायित होवे,
श्रोत्र तेरा आप्यायित होवे।
तेरा है जो क्रूर तेरा वह,
निराकृत होवे धुल जाये।
तेरा जो आस्थित्य,
तेरा वह हो आप्यायित।
सभी दिनों के लिये,
शान्ति होवे सुख होवे।
तार ओषधे,
स्वधिते इसको हन न कदापि॥

रक्षसां भागोऽसि निरस्तं रक्ष इदमहं रक्षोऽभि तिष्ठामीदमहं रक्षो ऽव बाध इदमहं रक्षोऽधमं तमो नयामि । घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथां वायो वे स्तोकानामग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृते ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम् ॥ (य० ६/१६)

रक्षसां भागः असि निःअस्तं रक्षः इदं अहं रक्षः अभि-तिष्ठामि इदं अहं रक्षः अव-बाधे इदं अहं रक्षः अधमं तमः नयामि । घृतेन द्यावापृथिवी प्र-ऊर्णु वाथां वायो वेः स्तोकानां अग्निः आज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृते ऊर्ध्व-नभसं मारुतं गच्छतम् ॥

पत्नी अपने पति से कहरही है—तू (रक्षसां भागः असि) राक्षसों का भाग है, (रक्षः निःअस्तम्) राक्षस-समूह निरस्त-निराकृत होजाये।

भाज पृथक्कर्मणि। भागः का अर्थ है पृथक् करनेवाला। विकार, कुशील, कुचेष्टा, कदाचार, अशिष्टता, अभद्रता आदि हैं, वे राक्षस, जिन्हें बालक के जीवन से सतर्कता के साथ निरस्त अथवा निराकृत रखना है।

पिता राक्षसों का पृथक् करनेवाला है और उसका कर्तव्य है कि वह अपने प्राणप्रिय बालक की राक्षसों से सर्वतः रक्षा करे। पिता परिवार के वातावरण को इतना परिशुद्ध और उसकी संगति को इतना विशुद्ध रखे कि बालक के जीवन में राक्षस प्रवेश ही न करने पायें और प्रवेश करने लग जायें तो सद्यः उनका निरस्तीकरण होजाये। ज्यों ही कभी वह देखे कि उसके बालक के भीतर राक्षस प्रवेश कररहे हैं, त्यों ही वह उनके प्रवेश के कारणों का पता लगाकर ऐसा साधनोपाय करे कि अविलम्ब उनका निराकरण होजाये। बालक उस सुकोमल पौधे के समान है, जिसे किसी भी ओर मोड़ा या विकसित किया जा सकता है और जिसमें कैसे भी संस्कार अंकित किये जा सकते हैं।

पति कहता है—(इदं अहं रक्षः अभि-तिष्ठामि) यह मैं राक्षसों के प्रति अभि-स्थित होता हूं, (इदं अहं रक्षः अव-बाधे) यह मैं राक्षसों को अवबाधता-रोकता हूं, यह मैं राक्षसों का अवबाधन करता हूं, (इदं अहं रक्षः अधमं तमः नयामि) यह मैं राक्षसों को तथा अधम अन्धकार को लेजाता हूं।

अभि का अर्थ है सब ओर। तिष्ठ का अर्थ है स्थित होना। यह मैं राक्षसों के प्रति अभि- तिष्ठित होता हूं—यह कहकर पिता ने अपती सतर्कता तथा निष्ठा का परिचय दिया है। पिता का कर्तव्य है कि वह अपने बालक के सब ओर स्थित रहे, सतर्कता के साथ उसके सब ओर देखता रहे। किसान जिस प्रकार अपने खेत के चारों ओर घूम-फिर-कर अन्न की रक्षा करता रहता है, उसी प्रकार पिता अपने पुत्र पुत्री के सब ओर के वातावरण को शोधता रहे।

किसान जिस प्रकार संनद्धता के साथ अपने धान्य के खेत से पशु-पक्षियों को अवबाधित करता रहता है, उसी प्रकार बालक के जीवन से पिता राक्षसों का अवबाधन करता रहे। यह मैं राक्षसों का अवबाधन करता हूं—यह कहकर पिता ने उसी संनद्धता का द्योतन किया है।

प्रकाश प्रकृष्ट है और तम [अन्धकार] अधम है। सूर्य जब उदय होता है, तो अधम तम स्वयमेव विलीन होजाता है। अन्यथा तो कितना भी प्रयत्न किया जाये, अन्धकार मिटाये नहीं मिटता है। उदय होता हुआ सूर्य ही अन्धकार को ले जाता है

[हटाता है], अस्त होता हुआ नहीं। राक्षस अधम अन्धकार में पनपते हैं और प्रकाश से उनका निवारण होता है। ज्ञानोदय से उदित पिता अपने बालक के मानस को विकसित और प्रकाशित करता हुआ उसके अज्ञानरूपी अधम तम का निवारण करे। अधम तम के निवारण से राक्षस स्वयमेव पलायन कर जाते हैं। किस किस कदाचार और कुचेष्टा से क्या क्या हानि होती है, कुशील और अशिष्टता से कैसी अशोभनीयता होती है, पिता यथासमय और यथावसर अपने बालक को यह सब कुछ सुझाता समझाता रहे। यह मैं राक्षसों को तथा अधम तम को लेजाता हूं—यह कहकर पिता ने इसी तत्त्व का प्रकाशन किया है।

अब वेदमाता पति पत्नी अथवा माता पिता दोनों को सम्बोधन करती है—

१) (द्यावा-पृथिवी) ! तुम दोनों इसे (घृतेन प्र-ऊर्णुथाम्) घृत से प्र-आच्छादित करो।

माता पृथिवी पिता द्यौः। द्यौः पिता पृथिवी माता। द्यौ द्युति का प्रतीक है। पृथिवी प्रतीक है सह और पोषण की। पिता सन्तान का द्योतन करता है। माता उसे सस्नेह सहारती है और उसका पालन पोषण करती है।

जैसाकि य० २/६ की व्याख्या में समझाया गया है, स्निग्धता, तेज, प्रज्वलन और प्रकाशन जिसमें हो, उसे घृत कहते हैं।

"पितः मातः ! तुम दोनों अपने बालक को स्निग्ध स्नेह, तेज, प्रज्वलन और प्रकाशन से प्राच्छादित करो", वेदमाता के इस सम्बोध-वाक्य में सन्तति-विज्ञान का एक गूढ़ रहस्य संनिहित है। माता पिता का यह पुनीत कर्तव्य है कि वे अपने बालक में तेज की स्थापना करके उसे तेजस्वी बनायें। तेजस्वी बनाने के लिये उसके बोध का प्रज्वलन [उद्‌बोधन] तथा उसके हृदय [भावना] का प्रकाशन करें। यह माता पिता को सस्नेह करना चाहिये, कठोरता के साथ कदापि नहीं। बच्चे के साथ कठोरता, मार पीट तथा गाली गलौच करने से वह या तो भयभीत रहता है अथवा ढीठ होजाता है। भयभीत होने से उसका विकास रुक जाता है। ठीठ होने से वह निष्ठुर होजाता है और माता पिता से विरोध तथा घृणा करने लगता है।

२) (वायो) ! तू (स्तोकानां वेः) स्तोकों का ज्ञान-ध्यान रख और (अग्निः आज्यस्य वेतु) अग्नि आज्य का ज्ञान-ध्यान रखे।

वायुः पिता अग्निर्माता। पिता वायु है, उसे वायु के समान वेगवान्, गतिशील और प्राणरम होना चाहिये। माता अग्नि है, उसमें अग्नि के समान स्नेह की ऊष्मा, प्रेम की गर्मी, होनी चाहिये।

स्तोक का अर्थ है जलबिन्दु, पानी की बहुत छोटी लघुतम बूंद। स्तोक स्तोक करके तालाब भर जाता है, बड़े बड़े जलाशय आपूर भर जाते हैं।

घृत के नामों में से एक नाम आज्य भी है। आज्य में और घृत में एक अन्तर है। आज्य में से घृत का जन्म होता है। आज्य नाम लौनी अथवा मक्खन का है। लौनी या मक्खन को तपाकर छाना जाता है, तब घृत का जन्म होता है।

वायुरूप प्राणप्रद पिता को चाहिये कि वह स्तोकों के रहस्य को सदा ध्यान में रखे। जिस प्रकार छोटी छोटी बूंदे जलाशय को जल से पूर देती हैं, उसी प्रकार छोटी छोटी बातों की शिक्षा से बालक में पूर्णता आती है। बिन्दु बिन्दु ज्ञान और अभ्यास बालक के जीवन-घट को पूरता चला जाये। बिन्दु बिन्दु अभ्यास से स्थिर और स्थायी सम्पूर्ति होती है। जल्दी जल्दी अधिकाधिक सिखाने पढ़ाने की धुन से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है।

प्रेमाग्निरूपा माता को सदा ध्यान रहे कि आज्य को आग पर तपाकर छानने से शुद्ध घी बनता है। उसी प्रकार बालकरूपी आज्य तब ही घृत बनेगा, जब उसे शनैः शनैः तपाया और छाना जायेगा। माता को चाहिये कि वह बचपन में ही अपने बच्चे के जीवन में तप और पवित्रता के संस्कार जमाती चली जाये।

पिता बालक के जीवन-घट में बूंद बूंद गुणामृत भरता रहे और माता उसके जीवन आज्य को तप और पवित्रता के संचार से शोधती रहे।

३) दोनों (स्वाहाकृते) स्वाहाकारियो ! (स्वाहा) स्वाहाकार द्वारा (ऊर्ध्व-नभसं मारुतं गच्छतम्) ऊर्ध्व-नभस मारुत को प्राप्त रहो।

ऊर्ध्व का अर्थ है ऊपर। नभस् के प्रसिद्ध अर्थ हैं आकाश और जल। मारुत नाम उस पवन का है, जो सागर से बादलों को ऊपर आकाश में ले जाता है और फिर उन्हें आकाश-मार्ग से दूर दूर उड़ा ले जाकर दूर दूर वृष्टि करता है।

माता पिता को यहां स्वाहाकारी कहकर प्रेरित किया गया है कि वे ऊर्ध्व-नभस पवन को प्राप्त रहें। सन्तान के सुख सौभाग्य और जीवन-निर्माण के लिये स्व सर्वस्व का त्याग करनेवाले माता पिता स्वाहाकारी हैं। आदर्श माता पिता अपने बालक के जीवन को समलंकृत करने के लिये न केवल अपने धनैश्वर्य का, अपि तु अपने व्यसन-विलासों तथा अपने दुरितों का भी त्याग करते हैं।

जिस प्रकार ऊर्ध्व-नभस मारुत बादलों को आकाश में ऊपर चढ़ाता है और दूर दूर प्रदेशों में वृष्टि कराता है, उसी प्रकार माता पिता ऊर्ध्व-नभस मारुत बनकर अपने पुत्र-पुत्रियों को सर्वतः ऊंचा उठायें और उनके जीवनों को ऐसा बनायें कि वे संसार में जहां कहीं भी जायें या रहें, वहीं सर्वत्र सबके लिये सुख सौभाग्य की सुवृष्टि करें।

तू है भाग राक्षसों का,
रहें राक्षस सदा निराकृत।
यह मैं रहता हूं अभितिष्ठित,
राक्षसों के निराकरण में।
यह मैं अवबाधन करता हूं,
राक्षसों के निराकरण में।
ले जाता हूं यह मैं सर्वतः,
राक्षसों को, अधम तम, को।
घृत से प्र-आच्छादित करदो,
द्यावापृथिवी !
वायो ! ज्ञान रहे स्तोकों का,
अग्नि रखे ध्यान आज्य का।
स्वाहाकारी तुम दोनों ही,
प्राप्त रहो सन्तत मारुत को,
ऊर्ध्व-नभस मारुत वायु को॥

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् ।
यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् ।
आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु ।। (य० ६/१७)
[ऋ० १.२३.२२, १०.६.८, अ० ७.८६.३]

इदं आपः प्र-वहत अ-वद्यं च मलं च यत् ।
यत् च अभि-दुद्रोह अनृतं यत् च शेपे अभीरुणम् ।
आपः मा तस्मात् एनसः पवमानः च मुञ्चतु ।।

माता और पिता सन्तान के लिये केवल आचार्या और आचार्य ही नहीं हैं, वे अपनी सन्तान के लिये प्रत्येक दिशा में आदर्श भी हैं। उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि बच्चों में जहां जानने और सीखने की स्वाभाविक वृत्ति होती है, वहां उनमें अनुकरण करने की प्राकृत प्रवृत्ति भी होती है। बच्चे जैसा देखते हैं, वैसा ही करते हैं और जैसा सुनते हैं वैसा ही बोलते हैं। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि बालक जैसा देखते और सुनते हैं, वैसे ही उनके विचार, व्यवहार और जीवन बनते हैं।

माता पिता को अपने चिन्तन, अपने विचार, अपनी दृष्टि, अपनी श्रुति, अपनी वाणी, अपने क्रतु [कर्तृत्व, चेष्टा, व्यवहार], अपनी भावना और अपने जीवन पर सदा सतर्क दृष्टि रखनी चाहिये। उन्हें प्रति प्रातः सोकर उठते ही और रात्रि को शयन से पूर्व कुछ मिनट नित्य आत्म-निरीक्षण करना चाहिये कि उनके जीवन में कोई ऐसी बात तो नहीं है, जिसके अनुकरण से उनकी सन्तान का जीवन नष्ट भ्रष्ट हो। वे दोनों मनोयोग के साथ देखें कि उठने से सोने तक और सोने से उठने तक उन्होंने कोई ऐसा विचार व्यवहार तो नहीं किया, जिसके अनुकरण से उनके बच्चों के जीवन-निर्माण में हानि हो। माता पिता को सर्वथा निर्दोष, निष्पाप, निर्व्यसनी और निर्विकार होना चाहिये। तब ही उनकी सन्तान आदर्श सन्तान होगी।

आत्मनिरीक्षण द्वारा अपनी त्रुटियों पर दृष्टि डालकर माता आत्मकामना करे, पिता आत्मभावना करे—

१) मुझमें (यत्) जो (अवद्यं) अवद्य (च च) अपि च (मलं) मल है, (आपः) आपो ! (इदं प्र-वहत) इसे प्रवहन करो, इसे बहा ले जाओ।

आप्लृ व्याप्तौ। आपः नाम व्यापनशील और प्रवाहशील का है। आपः शब्द का प्रयोग सदा बहुवचन में होता है। प्रवाह के साथ सतत प्रवाहित रहते हुए जो सदा व्यापते रहते हैं, उन्हें आपः कहते हैं। जल आपः हैं, क्योंकि वे सदा प्रवाहित और तरंगित रहते हुए व्यापते रहते हैं। आप्त पुरुष आपः हैं, क्योंकि वे सदा सर्वदा भ्रमण और रमण करते हुए विश्व में सर्वत्र उत्तम विचारों और कर्मों का सुप्रवाह प्रवाहित करते रहते हैं। आपः नाम कर्मों का भी है, क्योंकि वे प्रवाह से सततगामी हैं। आपः नाम प्रजाओं का भी है, क्योंकि वे सदा प्रवाहित रहती हैं। इसी प्रकार सुविचारों और सुभावनाओं से युक्त अन्तःप्रेरणायें आपः हैं, रश्मियां आपः हैं, पश्चात्ताप के अश्रु आपः हैं। लोकलोकान्तर आपः हैं। आपः शब्द का प्रयोग इस मन्त्र में सुविचारों और सुभावनाओं से युक्त आत्मप्रेरणाओं के लिये हुआ है।

वद व्यक्तायां वाचि। वद्य=बोलनेयोग्य, सुवाच्य। अवद्य=नहीं बोलनेयोग्य, कुवाच्य।

मल का अर्थ है त्याज्य, गन्दगी, अपवित्रता, अपवित्र विचार भावना, अपावन व्यवहार, अशुचिता। जो कुछ भी अपवित्र है, वह सब मल है, त्याज्य है। जो कुछ पवित्र है, वह सब निर्मल है, संग्राह्य है।

कुवाच्य और मल का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। जहां मल होता है, वहीं कुवाच्य होता है। जहां निर्मलता होती है, वहां सुवाच्य होता है। वाच्य अन्दर से बाहर आता है। यदन्तरं तद्बाह्यम्। जो अन्दर होता है, वही बाहर आता है। जिसके अन्तःकरण में पवित्रता होती है, उसके भीतर से सुवाच्यों का सुप्रवाह प्रवाहित रहता है। जिसके अन्तःकरण में अपवित्रता होती है, उसके भीतर से कुवाच्यों का कुप्रवाह प्रवाहित रहता है।

अवद्य का अर्थ निन्दनीय कर्म भी है। सुकर्म वद्य है। कुकर्म अवद्य है। पवित्र अन्तःकरण से युक्त व्यक्ति के जीवन से सदा सुकर्मों का सुप्रवाह बहता है, तो अपवित्र अन्तःकरण से युक्त जीवन से सदा कुकर्मों का कुप्रवाह बहता है।

आत्मनिरीक्षणकर्त्री जो माता और आत्म-निरीक्षणकर्ता जो पिता आत्मप्रेरणाओं द्वारा अवद्य और मल से अपने आपको मुक्त रखते हैं, वे अतिशय वद्य और निर्मल होते हैं, उनके अन्तःकरण इतने पवित्र और उनके वचन और कर्म इतने प्रशस्त होते हैं कि उनके सुप्रभाव तथा अनुकरण से उनके बालक अनायास ही वद्य और निर्मल होते चले जाते हैं। यह आत्मगीत प्रत्येक माता और प्रत्येक पिता की आत्मध्वनि बन जानी चाहिये—

इदं आपः प्र वहत,
अवद्यं च मलं च यत् ॥
इसे बहा लेजाओ आपः,
जो अवद्य है और जो मल है ॥

जो माता पिता निर्मल होते हैं, वे कुवाच्य नहीं बोलते हैं, कुकर्म नहीं करते हैं। उनके बालकों के संस्कार इतने विशुद्ध होते हैं कि वे जीवन-भर न कुवाच्य बोलते हैं, न कुकर्म करते हैं।

२) मैंने (यत् च अभि-दुद्रोह) जो अभिद्रोह किया, मुझमें जो (अनृतं) अनृत है, मैं (यत् च अभीरुणं शेपे) जो अभीरु को कोसता/कोसती हूं—(आपः) आत्मप्रेरणाओ! पश्चात्ताप के अश्रुओ! (मा) मुझे (तस्मात् एनसः) उस पाप से [मुञ्चत] मुक्त करो, (च पवमानः मुञ्चतु) और परम पावन प्रभु मुक्त करे।

मार पीट, झगड़ा टंटा, करना अभिद्रोह कहलाता है। जिस माता और जिस पिता का स्वभाव उत्तेजित तथा उग्र होता है, वे ज़रा ज़रा सी बात पर सबसे अभिद्रोह करते हैं, विरोध और शत्रुता करते हैं। उनकी अभिद्रोह-वृत्ति के प्रभाव से उनके बालकों का भी वैसा ही अभिद्रोहात्मक स्वभाव बन जाता है।

ऋत का अर्थ है ठीक, सही, युक्त। अनृत का अर्थ है अयुक्त। माता पिता का अयुक्त व्यवहार देखकर बच्चे भी अयुक्त व्यवहार करने लगते हैं।

अभीरुणं=अ+भीरु-नम्। अ का अर्थ है नहीं। भीरु का अर्थ है डरपोक। अभीरु का अर्थ है निडर, निर्भय। भीरु को सताना और अभीरु को कोसना—यह कापुरुषों का स्वभाव होता है। जो डरता है, उसे लोग प्रायः पीटने लग जाते हैं। जो निर्भय होता है, लोग न उसपर हाथ उठाते हैं, न उसके सामने बोल पाते हैं, परन्तु पीठ-पीछे उसे कोसते हैं। जिन माता पिता में यह कुटेव होती है, उनके बच्चे भी वैसा करना सीख जाते हैं।

प्रत्येक माता पिता को आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने उपर्युक्त दोषों पर पश्चात्ताप के अश्रु बहाने चाहियें और अपनी आत्मप्रेरणाओं के प्रबल प्रताप से उपर्युक्त तीनों दोषों से अपने आपको सर्वथा मुक्त करना चाहिये। साथ ही आत्म-संवेदना के साथ

इन दोषों से मुक्त होने के लिये परम पावन प्रभु से प्रार्थना भी करनी चाहिये।

आत्मप्रेरणा तथा प्रार्थना के संयोग में अद्भुत चमत्कार है। आत्मप्रेरणा के बिना प्रार्थना निरर्थक है तो प्रार्थना के बिना आत्म-प्रेरणा नितान्त निर्बल है। दोनों के सहचार से कठिन से कठिन साधना भी अतिशय सरल होजाती है।

इसे बहा लेजाओ आपः,
जो अवद्य है और जो मल है।
मैंने जो अभिद्रोह किया है,
जो अयुक्त व्यवहार है मुझमें,
मैं जो कोसता और कोसती हूं अभीरु को,
आत्मप्रेरणाओ ! तुम मुझको,
मुक्त करो उस निपट पाप से,
मुक्त करे पवमान भी उससे ॥

सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्।
रेडस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वापस्त्वा समरिणन्वातस्य
त्वा ध्राज्यै पूष्णो रंह्या ऊष्मणो व्यथिषत्प्रयुतं द्वेषः ॥ (य० ६/१८)

सं ते मनः मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्।
रेट् असि अग्निः त्वा श्रीणातु आपः त्वा सं-अरिणन्
वातस्य त्वा ध्राज्यै पूष्णः रंह्यै ऊष्मणः व्यथिषत्
प्र-युतं द्वेषः ॥

नवें वर्ष से विद्यासमाप्ति तक तीसरा आचार्य है पाठशाला, विद्यालय अथवा गुरुकुल का आचार्य। आचारात् आचार्यः। आचार्य अथवा आचार्या नाम आदर्श आचार से युक्त आदर्श व्यक्तित्व का है। आचार्य पद को सुशोभित करने के लिये केवल विद्वान् होना ही पर्याप्त नहीं है। आचार्य को आदर्श आचार से युक्त भी होना चाहिये। निर्विकार चिन्तन, निर्दोष स्वभाव और निष्पाप जीवन—ये तीन आचार के अपृथक्य अङ्ग हैं। जिसका चिन्तन निर्विकार नहीं है, स्वभाव निर्दोष नहीं है, जीवन निष्पाप नहीं है, उसे कदापि शिक्षा-विभाग में प्रविष्ट न होने देना चाहिये।

आचार्य का कार्य केवल अध्यापन और शिक्षण ही नहीं है, विद्यार्थियों को आचारवान् बनाना भी है। इसीलिये तो आचार्य को अग्नि की संज्ञा दी गयी थी। यह जो कहा गया था, "अग्निराचार्यस्तव" "तेरा आचार्य अग्नि है", इसमें यही रहस्य अन्तर्निहित था। अग्नि प्रज्वलक और प्रकाशक ही नहीं है, पावक [पवित्रकर्ता] भी है। विद्यार्थियों के जीवनों में प्रसुप्त आत्माग्नि को प्रज्वलित करके आचार्य उन्हें सर्वतः पवित्र और प्रकाशित करता है, उन्हें निर्मल और ज्योतिष्मान् बनाता है। वह उनके मस्तिष्कों को परिष्कृत, उनके हृदयों को प्रकाशित और उनके आत्माओं को प्रज्वलित करता है। वह उनके विचारों को पवित्र, उनकी भावनाओं को विशुद्ध और उनके आत्माओं को प्रबुद्ध करता है।

अपने बालक को आचार्य के या अपनी बालिका को आचार्या के सुपुर्द करते हुए माता कहती है, पिता कहता है—

१) हे बालक ! हे बालिके ! (ते मनः) तेरा मन [आचार्य/आचार्या के] (मनसा) मन के साथ (सं-गच्छताम्) संगमन करे, (ते प्राणः) तेरा जीवन [आचार्य/आचार्या के] (प्राणेन) जीवन के साथ (सं-गच्छताम्) संगमन करे।

आचार्य और ब्रह्मचारी [विद्यार्थी] अथवा आचार्या और ब्रह्मचारिणी [विद्यार्थिनी]—दोनों के मन और जीवन सदा सर्वदा संगत रहने चाहियें,

ताकि आचार्य या आचार्या के सुपावन आदर्श आचार को ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी सहज स्वाभाविक रीति से अपने जीवन में संग्रहण तथा समंकित कर सकें। ब्रह्मचारी का मन आचार्य के मन से मिला रहना चाहिये। आचार्य तथा ब्रह्मचारी के मनों में अभिन्नता तथा अनन्यता होनी चाहिये और साथ ही दोनों में एक दूसरे के प्रति प्राणप्रियता भी। जहां दोनों के मनों और जीवनों में संगमन नहीं होता है, वहां न परिवार के लिये आदर्श माता पिता बन पाते हैं न समाज के लिये आदर्श सभ्य सभ्या, वहां न राष्ट्र के लिये आदर्श नागरिक बन पाते हैं न विश्व के लिये सुरत्न सुरत्ना।

"प्यारे बच्चे! पितृकुल या मातृकुल में निवास करते हुए अब तक तेरा मन और जीवन हमारे मन और जीवन के साथ संगमन करता रहा है। अब गुरुकुल में निवास करते हुए तेरा मन और जीवन तेरे आचार्य के मन और जीवन के साथ संगमन करता रहे", बालक को माता पिता की यह वैदिक प्रेरणा कितनी महत्त्वपूर्ण है, यह गहन मनन और चिन्तन का विषय है।

२) तू (रेट् असि) परिभाषी है, प्रियभाषी है।

प्रत्येक बालक स्वभाव से परिभाषी और प्रियभाषी होता है। वह जो भी अज्ञात नयी वस्तु देखता है, उसी के विषय में बातचीतों की झड़ी लगा देता है। उसके जिज्ञासापूर्ण भोले भाले प्रश्न और उसकी प्यारी प्यारी बातें बड़ी सुहावनी तथा मनोभावनी लगती हैं।

अपने जिगर के टुकड़े को अलग करते हुए माता पिता को उसकी प्यारी प्यारी मन-बहलानेवाली बातें याद आरही हैं और उससे बिछुड़ते हुए वे कहने लगते हैं—"प्यारे बच्चे! तू परिभाषी है, प्रियभाषी है। जिस प्रकार तू हमारे साथ परिभाषण और प्रियभाषण करके हमारा मन प्रसन्न किया करता था, उसी प्रकार तू अब अपने आचार्यों के मन को प्रफुल्लित किया करेगा। वे भी तो तेरे पिता माता ही हैं। जिस प्रकार तू पितृकुल में किलोल किया करता था, उसी प्रकार अब इस गुरुकुल में किया करना"।

३) बालक का मन कच्चा होजाता है, उसका जी भर आता है। माता पिता कहते हैं—(अग्निः त्वा श्रीणातु) अग्नि तुझे पकाये, (त्वा वातस्य ध्राज्यै रंह्यै) तुझे वात की गति प्रगति के लिये (पूष्णः ऊष्मणः) पूषा की ऊष्मा से (व्यथिषत्) व्यथे, तपाये, (द्वेषः प्र-युतं) द्वेष से पृथक् करे, द्वेष से दूर रखे।

अग्नि शब्द का प्रयोग मन्त्र में आचार्य के लिये हुआ है। अग्नि [आचार्य] जहां प्रकाशक और पावक होता है, वहां उसे पाचक अथवा पकाने और परिपक्व करनेवाला भी होना चाहिये।

श्रीञ् पाके। श्री धातु का अर्थ है पकाना, परिपक्व करना।

प्रेम ही वह पूषा है, जिसकी ऊष्मा से प्रताड़ित होकर बालक सतर्क और सावधान बनता है।

व्यथ भयसंचलनयोः। भय से संचलन अथवा सतर्कता की उत्पत्ति होती है। भय [प्रताड़ना] और संचलन [सतर्कता] सदा सर्वत्र साथ साथ रहते हैं।

आज बच्चे का मन भी कच्चा है, जीवन भी कच्चा है। आचार्य उसके मन को पकायेगा और उसके जीवन का परिपाक करेगा।

बालक के जीवन में वात की सी गति प्रगति प्रस्थापन करने के लिये प्रेमपूरित प्रताड़ना की ऊष्मा से आचार्य उसे सतर्क और सावधान बनायेगा। आचार्य का अन्तःकरण जितना कोमल होना चाहिये, उसका बाह्यकरण उतना ही अनुशासक तथा प्रभावशाली होना चाहिये। उग्र तप, घोर परिश्रम और कठोर अनुशासन के सुसंस्कार बालकों के जीवनों में समंकित किये जाने ही चाहियें। यह

तभी सम्भव होगा, जब आचार्य व्यथन के महत्त्व को समझकर उसका यथावत् उपयोग करेगा।

आचार्य बालकों के स्वभाव और संस्कार में उस उदार शील का संचार करें कि वे परस्पर प्रेमपूर्वक वर्तें और कभी कदापि किसी से द्वेष न करें।

"आचार्याग्नि तुझे पकाये, वात की गति प्रगति के लिये प्रेम की गर्मी से तुझे व्यथे और तुझसे द्वेष को दूर रखे," माता पिता ने अपने बालक को इन वचनों से सान्त्वना देकर आचार्य के पुनीत कर्तव्यों का प्रकाशन किया है।

४) बालक उदास होगया है और माता पिता उसकी उदासी दूर करने के लिये कहते हैं—प्यारे बच्चे ! आचार्य की (आप:) आत्मप्रेरणायें, प्रेमप्रीतियां (त्वा सं-अरिणन्) तुझे प्र-प्रेरित करें, तुझे सम्यक् प्रीतिमान करें।

आचार्य बालक के प्रति ऐसा प्रीतिमान रहे और गुरुकुल के वातावरण को ऐसा रोचक, प्रेरणाप्रद, तरंगमय, स्नेहपूर्ण बनाये कि नवागन्तुक बालक वहां ऐसा रम जाये और आचार्य के प्रति ऐसा प्रीतिमान होजाये कि न उसे माता पिता का वियोग सताये, न उसे अपने घर की याद आये।

संगमन करे मन तेरा मन के साथ,
संगमन करे तेरा प्राण प्राण के साथ।
रेद् है तू आचार्याग्नि तुझे पकाये,
तुझे वात की गति और प्रगति के लिये,
पुष्ट प्रेम की तप्त ऊष्मा तुझे तपाये।
अरिणन करते रहें निरन्तर आपः तुझको ॥

सूक्ति—**सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्।**
जीवन जीवन के साथ संगमन करे ॥
अग्निष्ट्वा श्रीणातु।
अग्नि तुझे पकाये,
आचार्य तुझे परिपक्व करे ॥
आपस्त्वा समरिणन्।
आत्मप्रेरणायें तुझे प्रप्रेरित करें ॥

घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा। दिशः प्रदिश आदिशो विदिश उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा ॥ (य० ६/१९)

घृतं घृत-पावानः पिबत वसां वसा-पावानः पिबत अन्तरिक्षस्य हविः असि स्वाहा। दिशः प्र-दिशः आ-दिशः वि-दिशः उत्-दिशः दिक्-भ्यः स्वाहा ॥

आचार्य अपने ब्रह्मचारियों [विद्यार्थियों] से कह रहा है—

१) (घृत-पावानः) घृत पान करनेवालो ! (घृतं पिबत) घृत पान करो, (वसा-पावानः) वसा पान करनेवालो ! (वसां पिबत) वसा पान करो।

घृत शब्द का प्रयोग यहां उपलक्षण से घी, दूध, दही, तक्र आदि पेयों के लिये हुआ है और वसा शब्द का सुवासयुक्त खाद्यों के लिये। वेदों में वसा शब्द का प्रयोग सर्वत्र इसी अर्थ में हुआ है।

पा पाने। पा धातु का अर्थ पान करना अथवा पीना ही नहीं है, सेवन करना भी है। केवल पेय ही पान नहीं किया जाता है, खाद्य भी पान किया जाता है। ठोस खाद्य पदार्थ के एक एक ग्रास को बारीक चबाकर प्रथम मुख में रसरूप किया जाता है और फिर उसे पान किया जाता है।

सुपान और सुखान विद्यार्थियों की सर्वप्रथम आवश्यकता है। प्रचुर मात्रा में उत्तमोत्तम सुपेयों और सुखाद्यों से आपूर भरपूर गुरुकुल ही वास्तविक

कुल है। निस्सन्देह आचार्यों और ब्रह्मचारियों को मिताहारी होना चाहिये, किन्तु गुरुकुलों में पेय तथा खाद्य पदार्थों की कमी न रहनी चाहिये। आचार्यों तथा ब्रह्मचारियों की आवश्यकतायें निश्चय ही न्यूनतम होनी चाहियें, किन्तु रोगनिवारक स्वास्थ्यप्रद पौष्टिक सात्त्विक भोजन अवश्य ही उनकी प्रथम अनिवार्य आवश्यकता मानी जानी चाहिये, क्योंकि शरीर-सम्पदा और जीवन-सत्त्व की उपलब्धि एकमात्र स्वादिष्ठ और सत्त्वमय भोजन से ही होती है। विशेषतः नवीन प्रविष्टों के लिये तो मुख्य आकर्षण सुपेय और सुखाद्य ही हैं। बच्चे जहां भी जाते हैं, वहीं वे खाने पीने की अच्छी अच्छी वस्तुओं से आकर्षित होते हैं। बाल-मनोविज्ञान का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि बालक प्रायः उनसे सहजतया हिल जाते हैं, जो उन्हें अच्छे अच्छे पदार्थ खिलाते पिलाते हैं। "घृतं घृतपावानः पिबत, वसां वसापावानः पिबत", नवप्रविष्ट बच्चों के प्रति आचार्य के मुख से यह कहलवाकर इसी रहस्य का उद्घाटन किया गया है।

२) गुरुकुल में प्रविष्ट होनेवाले प्रत्येक नये छात्र को प्यार करते हुए आचार्य कहता है—तू (अन्तरिक्षस्य हविः असि) तू अन्तरिक्ष की हवि है, (स्वाहा) सुहुत हो।

अन्तरिक्ष का प्रयोग यहां अन्तःकरण अथवा हृदय के लिये हुआ है। हवि नाम उस शुद्ध सुगन्धित हवनसामग्री का है, यज्ञवेदि के प्रज्वलित अन्तःकरण में जिसकी आहुति दी जाती है। हुत आहुति यज्ञाग्नि में सुहुत होकर सर्वत्र व्यापती है और सारे वातावरण को सुवासित कर देती है।

आचार्य कहरहा है—प्रिय शिष्य ! तू मेरे हृदय की हवि है, वह शुद्ध सुगन्धित हवि, जो मेरे हृदय में सुहुत हुई है और पुष्ट प्रेमाग्नि की ऊष्मा से तृप्त होकर जो एक दिन मानव-मण्डल को सुवासित करेगी। शिष्यरूपी यह हवि मुझमें सुहुत होवे।

आहुति देते हुए जो हवि यज्ञवेदि के बाहर गिर जाती है, वह अहुत या कुहुत हवि है। आहुति देते हुए जो हवि यज्ञवेदि के हृदय के भीतर प्रविष्ट हो जाती है, वह सुहुत हवि है, उसीसे यज्ञ सिद्ध सार्थक होता है और उसीसे वातावरण सुवासित होता है।

जो शिष्य या ब्रह्मचारी अन्तेवासी [आचार्य के हृदय में निवास करनेवाला] बन जाता है, वह आचार्य के अन्तरिक्ष की सुहुत हवि है और वह ही सिद्ध सार्थक होकर, सर्वतः समुन्नत होकर, व्यापती है।

३) नवप्रविष्ट ब्रह्मचारी को उत्प्रेरित करते हुए आचार्य शुभ कामना करता है—ब्रह्मचारिन् ! ये (दिशः प्र-दिशः आ-दिशः वि-दिशः उत्-दिशः) दिशायें, प्रदिशायें, आदिशायें, विदिशायें, उद्दिशायें हैं, तू इन सब (दिक्-भ्यः) दिशाओं के लिये (स्वाहा) सुहुत हो।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—ये चार दिशायें हैं। आग्नेयी, नैर्ऋति, वायवी, ऐशानी–ये चार प्रदिशायें हैं। दिशाओं और प्रदिशाओं के अतिशय निकटवर्ती देश आदिशायें हैं, दूरवर्ती देश विदिशायें हैं, ऊर्ध्ववर्ती देश उद्दिशायें हैं।

आचार्य ने कामना की है—जिस प्रकार यज्ञाग्नि में सुहुत हवि की छोटी छोटी आहुतियां दिशाओं, प्रदिशाओं, आदिशाओं, विदिशाओं तथा उद्दिशाओं में सुगन्धि की व्याप्ति करती हैं, उसी प्रकार, मेरे प्रिय शिष्य, तू विकसित और समुन्नत होकर सब दिशाओं के लिये सुहुत होवे, सब दिशाओं में तेरी जीवनहवि से तेरी सुगन्धि व्यापे।

कितनी गहन और सुन्दर अभिव्यक्ति है यहां इस मन्त्र में आचार्य और ब्रह्मचारी के, गुरु और शिष्य के, अध्यापक और विद्यार्थी के, पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में।

घृतपानियो ! पान करो घृत,
वसापानियो ! वसा सुसेवो ।
मेरे हृदय की हवि है तू,
होवे तू हुत सु-हुत मुझमें ।
ये दिशायें प्रदिशायें आदिशायें,
विदिशायें और उद्दिशायें,
सब दिशाओं के लिये तू,
मुझमें हुत हो और सुहुत हो ॥

सूक्ति—घृतं घृतपावानः पिबत ।
घृतपानियो ! पान करो घृत ॥
अन्तरिक्षस्य हविरसि ।
तू हृदय की हवि है ॥

ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे नि दीध्यदैन्द्र उदानो अङ्गे अङ्गे निधीतः । देव त्वष्टर्भूरि ते सं समेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति । देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥ (य० ६/२०)

ऐन्द्रः प्राणः अङ्गे अङ्गे नि-दीध्यत् ऐन्द्रः उदानः अङ्गे अङ्गे निधीतः । देव त्वष्टः भूरि ते सं सं-एतु सलक्ष्म यत् वि-सु-रूपं भवाति । देवत्रा यन्तं अवसे सखायः अनु त्वा माता पितरः मदन्तु ॥

अपने बालक को आचार्य-कुल में प्रविष्ट कराकर वहां से विदा होते हुए प्रथम अपने बालक को शुभकामनापूर्ण आशीर्वाद देते हैं—ब्रह्मचारिन् ! तेरे (अङ्गे अङ्गे ऐन्द्रः प्राणः नि-दीध्यत्) अंग अंग में ऐन्द्र प्राण प्रकाशे। तेरे (अङ्गे अङ्गे ऐन्द्रः उदानः नि-धीतः) अंग अंग में ऐन्द्र उदान नि-हित होवे ।

इन्द्र से ऐन्द्र । इन्द्र नाम इन्द्रियों के स्वामी आत्मा का है । ऐन्द्र का अर्थ है आत्मा से सम्बन्धित, आत्मिक । प्राण प्रतीक है प्र-आन का, प्र-जीवन का, संजीवन का, और उदान प्रतीक है उत्-आन का, उत्थान का, समुत्थान का, उज्जीवन का, संविकास का ।

"तेरे अंग अंग में आत्मिक जीवन जगमगाये और तेरे अंग अंग में आत्मिक संविकास संनिहित हो", माता पिता के इन आशीर्वचनों में शिक्षा-विज्ञान का एक सत्य सिद्धान्त अन्तर्निहित है। शिक्षा एक बड़ा ही व्यापक शब्द है । केवल साक्षरता न शिक्षा का अंग है, न शिक्षा का लक्ष्य है । साक्षरता तो शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। साक्षरता लक्ष्य नहीं है, साधन है । शिक्षा साधन नहीं है, लक्ष्य है । शिक्षा नाम है आत्मिक संजीवन के प्रकाशन का तथा आत्मिक संविकास की प्रस्थापना का । आचार्य का कर्तव्य केवल साक्षर बनाना ही नहीं है, ब्रह्मचारियों [विद्यार्थियों] के जीवनों में आत्मिक संजीवन का संचार तथा आत्मिक संविकास का सुसंस्करण भी है। आत्मिक संजीवन तथा आत्मिक संविकास से शून्य साक्षर ज्ञान मनुष्य को हृदयहीन विलासी असुर बनाता है । वह तो आत्म-संजीवन तथा आत्म-संविकास से युक्त शिक्षा ही है, जो मानव को दैवी सम्पदा से सम्पन्न करके उसे दिव्य देव बनाती है ।

अब आचार्य के प्रति अपनी आत्मश्रद्धा तथा आस्था व्यक्त करते हुए बालक के माता पिता कहते हैं—(देव त्वष्टः) ! यह बालक (सलक्ष्म) स-आदर्श (ते) तेरे प्रति (भूरि सं) बहुत सम्यक्तया (सं-एतु) सं-आये, सं-आगमन करे, समाये, समाकृष्ट रहे,

(यत्) यतः, ताकि [यह] (वि-सु-रूपं भवाति) वि-सु-रूप होजाये।

आचार्य को यहां देव त्वष्टा, दिव्य तक्षक, दिव्य निर्माता कहा गया है। दिव्यताओं से जो युक्त हो, उसे देव कहते हैं। त्वष्टा शब्द का जन्म तक्षू त्वक्षू तनूकरणे धातु से हुआ है। तक्षू अथवा त्वक्षू धातु का अर्थ है सूक्ष्म करना, तराशना, छील तराश कर सुन्दर वस्तु का निर्माण करना। इस निरुक्ति के अनुसार त्वष्टा का अर्थ है सुनिर्माता, सुसंसृजक, कुशल कारीगर। परमात्मा त्वष्टा है, यह सृष्टि जिसकी कुशल कारीगरी है। काष्ठकार त्वष्टा है, जो कुशलता के साथ लकड़ियों की सुन्दर सुन्दर वस्तुयें बनाता है। विश्वकर्मा त्वष्टा है, जो कुशलता के साथ मिट्टी के सुन्दर सुन्दर खिलौने बनाता है। स्वर्णकार त्वष्टा है, जो कुशलता के साथ सौने के सुन्दर आभूषण बनाता है। आचार्य त्वष्टा है, जिसे कुशलता के साथ अपने ब्रह्मचारियों के जीवनों का सुष्ठु निर्माण करना है। आज के इन विद्यार्थियों को उसे कल के वे आदर्श और कुशल नागरिक बनाना है, जो अपने परिवार, समाज, राष्ट्र और संसार के लिये वरदान सिद्ध हों।

आचार्य देव त्वष्टा हो, वह देव त्वष्टा, विद्यार्थी स-आदर्श जिसके प्रति भूरि सम्यक्ता के साथ समाये रहें, समाकृष्ट रहें। आचार्य केवल बहुश्रुत और विद्वान् ही न हो, सम्पूर्ण मानवी आदर्शों का आदर्शपुञ्ज भी हो। आचार्य केवल दर्श [दार्शनिक] ही न हो, समस्त दर्शनों का साक्षात् आदर्श भी हो। आचार्य केवल सुवक्ता और सुव्यवस्थापक ही न हो, जीवन के प्रत्येक पार्श्व में प्रत्यक्ष आदर्श भी हो। आचार्य हो सम्पूर्ण सुष्ठुताओं और आचारों का जीता जागता जगमगाता हुआ आदर्श-कोश।

इस सबकी अभिव्यक्ति के लिये ही माता पिता के मुख से आचार्य के प्रति कहलाया गया है—देव त्वष्टः! तेरा यह ब्रह्मचारी, तेरा यह विद्यार्थी, सादर्श सदा सर्वदा सर्वतः सर्वथा तेरे प्रति समाया रहे, सम्पूर्णतया आकृष्ट रहे।

ऐसे आचार्य के प्रति आकृष्ट और संगत होकर ही विद्यार्थी वि-सु-रूप बनते हैं। वि=विविध, विशेष। सु=सुष्ठु, सुन्दर। रूप=स्वरूप। जीवन के विविध सभी पार्श्वों में जो विशिष्ट, सुष्ठु, सुन्दर रूप से समलंकृत हो, उसे विषुरूप कहते हैं। आदर्श आचार्य के साकर्ष अनुकरण तथा संगतिकरण से विद्यार्थी बुद्धि, मेधा, मन, चित्त, आत्मा तथा शरीर से सम्यक्तया सम्पन्न होकर सर्वतोमुखी उन्नति करते हैं।

"दिव्यताओं से युक्त कुशल आचार्यप्रवर! यह ब्रह्मचारी सादर्श तेरे प्रति समाकृष्ट संगत रहे, ताकि यह विषुरूप होजाये", बालक के माता पिता के मुख से आचार्य के प्रति यह वाक्य कहलवाकर वेदमाता ने शिक्षासम्बन्धी एक अमूल्य सिद्धान्त का उद्घाटन किया है।

विदा होते होते माता पिता अन्त में पुनः अपने बालक को दुलारते हुए कहते हैं—प्यारे बच्चे! (अवसे) अवार्थ (देवत्रा यन्तं त्वा) दिव्यताओं में गमन करते हुए तुझे (सखायः माता पितरः) सखा, माता और पितर (अनुमदन्तु) अनुहर्षित करें।

अव का अर्थ है संरक्षण, प्रगति, कान्ति और बोध।

दिव्यताओं में गमन करना एक प्रसिद्ध वैदिक ईडियम है, जिसका आशय है दिव्यताओं अथवा दिव्य वातावरणों में विचरना।

सखायः से तात्पर्य है यहां सहपाठी सखाओं से, सहाध्यायी मित्रों से।

माता से तात्पर्य है यहां आचार्य-पत्नी से। आचार्य न केवल सपत्नी अपि तु ससन्तान भी होना चाहिये। समान गुण कर्म स्वभाव वाली भार्या से

युक्त होकर जहां आचार्य पूर्ण पुरुष बनता है, वहां सन्तानवान् होकर वह पिता बनता है। पत्नीविहीन आचार्य के जहां पतन की सम्भावना रहती है, वहां सन्तानविहीन होने से उसके निष्ठुर होने की सम्भावना होती है। विद्यार्थियों को जहां आचार्य के रूप में एक प्रेमागार सूपायन पिता प्राप्त हो, वहां आचार्याणी के रूप में उन्हें एक स्नेहसुलभा सूपायना माता भी सुलभ होनी चाहिये।

पितरः शब्द पिता का बहुवचन है। आचार्य के आधीन पढ़ानेवाले समस्त अध्यापक हैं विद्यार्थियों के पिता। पितरः शब्द से यह स्पष्ट ध्वनित होरहा है कि अध्यापक सन्तानवान् होने चाहियें। निस्सन्तान अध्यापक प्रत्यक्षतः विद्यार्थियों के प्रति पितृभावना से भावित नहीं रह सकते।

यहां पुनः शिक्षाक्षेत्र के एक सुघड़ सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। गुरुकुल अथवा विद्यालय के वातावरण में दिव्यताओं का, दिव्य संस्पर्शों तथा सम्पर्कों का, दिव्य भावों और प्रभावों का, सुसंस्कार होना चाहिये। जहां गुरुकुल अथवा विद्यालय के दिव्य वातावरणों में आचार्य का पितृसंरक्षण तथा आचार्याणी का मातृसंरक्षण सम्प्राप्त होता है, वहां ही बालक प्रगति के पथ पर आरूढ़ रहते हुए कान्ति और बोध से सम्पन्न होते हैं और आचार्य आचार्याणी के उसी कुल में विद्यार्थियों का सखा-समूह परस्पर एक दूसरे को अनुहर्षित करता है, वहां ही अध्यापक गण अपने पुत्रतुल्य विद्यार्थियों को अनुहर्षित करते हैं, वहां ही विद्यार्थियों के माता पिता अपने पुत्रों और पुत्रियों के कुशलक्षेम के विषय में निश्चिन्त रहते हैं। अपने पुत्र को आचार्य के सुपुर्द करके अपने गृह को लौटते हुए माता पिता ने अपने बालक से जो यह कहा है, "प्रियवर! संरक्षण, प्रगति, कान्ति और बोध के लिये दिव्यताओं में गमन करते हुए तुझे सखा, माता और पितर अनुहर्षित करें", उसमें उपर्युक्त संज्ञान संनिहित है।

अंग अंग में ऐन्द्र प्राण प्रकाशे,
अंग अंग में ऐन्द्र उदान निहित हो।
त्वष्टः देव! सलक्ष्म तेरे प्रति,
भूरि समागम करे यह बालक,
होजाये विषुरूप ताकि वह।
अवार्थ विचरते हुए दिव्य वातावरणों में,
तुझे सतत अनुहर्षें पितर सखा और माता॥

समुद्रं गच्छ स्वाहान्तरिक्षं गच्छ स्वाहा देवं सवितारं गच्छ स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहाहोरात्रे गच्छ स्वाहा छन्दांसि गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा यज्ञं गच्छ स्वाहा सोमं गच्छ स्वाहा दिव्यं नभो गच्छ स्वाहाग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा मनो मे हार्दि यच्छ दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनापृण स्वाहा॥ (य० ६/२१)

समुद्रं गच्छ स्वाहा अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा देवं सवितारं गच्छ स्वाहा मित्रवरुणौ गच्छ स्वाहा अहोरात्रे गच्छ स्वाहा छन्दांसि गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा यज्ञं गच्छ स्वाहा सोमं गच्छ स्वाहा दिव्यं नभः गच्छ स्वाहा अग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा मनः मे हार्दि यच्छ दिवं ते धूमः गच्छतु स्वः ज्योतिः पृथिवीं भस्मना आ-पृण स्वाहा॥

इस मन्त्र में स्वाहा शब्द का प्रयोग सर्वत्र आत्मसाधना के अर्थ में हुआ है। स्वाहा=स्व+आ+हा। स्व=आत्मा। आ=पूर्ण। हा=त्याग। स्वाहा=पूर्ण आत्मत्याग, पूर्ण आत्मोत्सर्ग, उत्कट आत्मसाधना। किसी भी शुभ साध के लिये उत्कट साधना का महत्त्व प्रत्यक्ष है।

माता पिता अपने बालक को आचार्य के कुल में छोड़कर चले गये हैं। तदुपरान्त बालक को दीक्षित करते हुए आचार्य उत्प्रेरणा करता है—

१) (स्वाहा) उत्कट आत्मसाधना द्वारा (समुद्रं गच्छ) समुद्र को जा, समुद्रत्व को प्राप्त कर।

विद्यार्थी को उत्प्रेरित करता हुआ आचार्य कह रहा है–समुद्रत्व को प्राप्त कर, समुद्र के समान गहन और गम्भीर बन, समुद्र के समान सं-उत्-द्रवण कर, समुद्र के समान ऊर्मित [तरंगित] रह, समुद्रवत् आत्मप्रेरित रह।

गहनता, गम्भीरता तथा उत्प्रेरण—समुद्रत्व के ये तीन अङ्ग हैं। वह आचार्य आचार्य नहीं, वह शिक्षक शिक्षक नहीं, वह अध्यापक अध्यापक नहीं, जो स्वयं गहन, गम्भीर और उत्प्रेरित न हो और जो अपने विद्यार्थियों को गहन, गम्भीर और उत्प्रेरणा-मय न बनाये। जो आचार्य स्वयं समुद्र नहीं है, वह अपने विद्यार्थियों में समुद्रत्व की स्थापना नहीं कर सकता है।

समुद्रं गच्छ, इस उत्प्रेरणा में एक और भी उदात्त प्रेरणा संनिहित है। आचार्य कह रहा है—प्राणप्रिय शिष्य ! विद्या और बोध का समुद्र बन, सागर बन, महासागर बन। आचार्य विद्या और बोध का महा सागर होगा, तो ही वह अपने शिष्यों को विद्या और बोध का महासागर बना सकेगा।

"समुद्र बन, सागर बन, महा सागर बन। कूप न बन, कूपमण्डूक न बन, पोखर न बन, गागर न बन", यह है शिक्षाक्षेत्र का वह उद्घोष, जिससे यह सारी मही गूंजती रहनी चाहिये।

२) (स्वाहा) उत्कट आत्मसाधना द्वारा (अन्तरिक्षं गच्छ) अन्तरिक्ष को जा, अन्तरिक्षत्व को प्राप्त कर।

यस्मिन्नन्तरीक्षन्ते तदन्तरिक्षम्। जिसके अन्दर दर्शन करते हैं, वह अन्तरिक्ष है। अन्तःकरण ही है वह अन्तरिक्ष, जिसमें आत्मदर्शन होता है, ब्रह्मदर्शन होता है। अन्तर्मुख होना ही अन्तरिक्ष-गमन अथवा अन्तरिक्ष को प्राप्त होना है।

अन्तरिक्ष-गमन से ही समुद्र-गमन होता है। समुद्र के समान गहन, गम्भीर तथा ऊर्मिमय होने के लिये आत्मसाधना द्वारा अन्तर्मुख होने की परमावश्यकता है। बहिर्मुखता से क्षुद्रत्व की प्राप्ति होती है, अन्तर्मुखता से समुद्रत्व की। प्रथम कहा गया–समुद्रं गच्छ, तत्पश्चात् कहा गया–अन्तरिक्षं गच्छ, इसमें जो अनुक्रम निहित है, शिक्षाक्षेत्र के इस रहस्य में शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों के लिये एक दिव्य सन्देश संनिहित है।

३) (स्वाहा देवं सवितारं गच्छ) उत्कट आत्म-साधना द्वारा देव सविता को प्राप्त कर।

दिव्यताओं से युक्त होने के कारण परमात्मा देव है। अखिल ब्रह्माण्ड का रचयिता तथा प्रेरक होने से परमात्मा देव सविता है। शरीर में आत्मा देव सविता है।

अन्तर्मुख होकर जब उत्कट आत्म-साधना की जाती है, तब ही अन्तरिक्ष [अन्तःकरण] में देव सविता की प्राप्ति अथवा साक्षात्कृति होती है। अन्तरिक्षं गच्छ कहने के पश्चात् देवं सवितारं गच्छ कहकर फिर शिक्षा–क्षेत्र के एक गूढ़ रहस्य का उद्घाटन किया गया है। शिक्षा का लक्ष्य जहां विद्यार्थियों को गहन, गम्भीर और ऊर्मिमय बनाना है, वहां उन्हें अन्तस्साधना द्वारा आत्मदर्शन तथा ब्रह्म-साक्षात्कार कराना भी है।

४) (स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ) उत्कट साधना द्वारा मित्र और वरुण को प्राप्त कर।

मित्र नाम सूर्य का है और वरुण नाम चन्द्रमा का। सूर्य तेजस्वी है, चन्द्रमा सोम्य है। सूर्य तेज का प्रतीक है तो चन्द्रमा सोम्यता का।

यहां शिक्षा के लक्ष्यों में से एक लक्ष्य बताया गया है शिक्षार्थी के जीवन में सूर्य और चन्द्रमा का, अथवा तेज और सोम्यता का, समन्वय। सोम्यता से विहीन तेज जितना अशोभनीय है, उतनी ही अशोभनीया है तेज से विहीन सोम्यता। तेज और सोम्यता के संयोग में ही जीवन के सौन्दर्य का संविकास है, निखार है, खिलाव है।

५) (स्वाहा अहोरात्रे गच्छ) उत्कट साधना द्वारा दिन और रात को जा।

सूर्य प्रकाश प्रदान करता है, चन्द्रमा ज्योति। प्रकाश प्रखर है, ज्योति प्रशान्त और शीतल है। प्रकाश अन्धकार का निराकरण करता है, ज्योति अन्धकार में प्रविष्ट होकर अंधेरे में उजाला करती है। सूर्य रात्रि को अपने से वियुक्त करके प्रकाशता है। चन्द्रमा रात्रि से युक्त रहकर रात्रि को ज्योतित करता है। सूर्य का सम्बन्ध दिन से है, चन्द्रमा का रात्रि से।

शिक्षा का सौन्दर्य है शिक्षित होकर सोम्यता के साथ स्वयं प्रकाशना और अन्यों को प्रकाशित करना। शिक्षा का लक्ष्य है व्यक्ति के व्यक्तित्व को दिन के समान प्रखर और चन्द्रिकामयी रात्रि के समान मनोरम बनाना।

६) (स्वाहा छन्दांसि गच्छ) उत्कट साधना द्वारा छन्दों को प्राप्त कर।

छन्दांसि वै वेदानां मन्त्राः। छन्दांसि वै वेदाः। छन्दांसि वै दिशः। चारों वेदों के मन्त्र छन्द हैं। छन्दोमय होने से वेद छन्द हैं। छन्द स्वच्छन्द होने से दिशायें छन्द हैं। छन्द नाम छन्दता, स्वच्छन्दता अथवा स्वतन्त्रता का भी है।

"चारों वेदों के छन्दों का सम्यक् अध्ययन कर, वेदों के मन्त्र मन्त्र में निहित विज्ञान का साक्षात्कार कर, वेदछन्दों में निहित वैदिक शिक्षाओं से साचार शिक्षित होकर स्वतन्त्रता के साथ सब दिशाओं में विचर", आचार्य के इस सम्बोधन में शिक्षार्थी के लिये जीवन की एक प्रदिशा का प्रदर्शन है, एक मिश्नरी भावना का संकेत है।

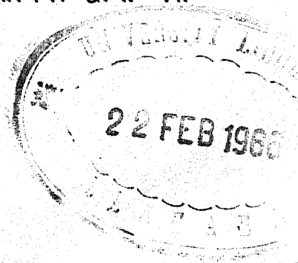
शिक्षा के लिये स्वतन्त्रता की और स्वतन्त्रता के लिये शिक्षा की अनिवार्य आवश्यकता है। शिक्षा का क्षेत्र विद्यालय की सीमाओं तक ही सीमित नहीं है, विशाल संसार की सारी दिशाओं से उसका सम्बन्ध है। शिक्षा-सम्पन्न होकर जब मनुष्य संसार की सब दिशाओं में विचरता है, वास्तव में तब ही शिक्षा की सम्पूर्ति होती है, किन्तु उसकी परिसमाप्ति तो कभी होती ही नहीं है।

७) (स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ) उत्कट साधना द्वारा द्यौ और पृथिवी को प्राप्त कर।

छन्दों से युक्त होकर, वैदिक आचार विचार और व्यवहार से समलंकृत होकर, तू द्यौलोक और पृथिवीलोक में कहीं भी विचर, द्यौलोक और पृथिवीलोक के बीच में कहीं भी निवास कर"।

शिक्षासम्पन्न उदार व्यक्ति के लिये सारा संसार ही उसकी अपनी मातृभूमि है और संसार में जहां कहीं भी वह निवास करे, वहीं उसका घर है। शिक्षा वह है, जो शिक्षार्थी को वसुधा–कुटुम्बी विश्वनागरिक बनाये। द्यौ और पृथिवी ही क्या, अखिल ब्रह्माण्ड एक सुशिक्षित व्यक्ति का उसका अपना निज ठाम है, निज धाम है। शिक्षा नाम संकोच का नहीं है, विकास का है।

८) (स्वाहा यज्ञं गच्छ) उत्कट साधना द्वारा यज्ञ को प्राप्त कर।



यज्ञ शब्द का प्रयोग यहां यज्ञीयता अथवा यज्ञीय जीवन के लिये हुआ है। वह शिक्षा शिक्षा नहीं है, जो जीवन को यज्ञीय न बनाये, जो जीवन को यज्ञीय सुरभि से सुरभित न करे। शिक्षा वही है, जो शिक्षार्थी के जीवन को ऐसा यज्ञीय बनाये कि उसकी सुगन्धित सुवास से सम्पूर्ण वातावरण महक जाये।

"द्यौ और पृथिवी के बीच में यज्ञीय बनकर महक और महका"।

९) (स्वाहा सोमं गच्छ) उत्कट साधना द्वारा सोम को प्राप्त कर।

वीर्यं वै सोमः। रसः सोमः। रेतो वै सोमः। शुक्रः सोमः। वर्चः सोमः। वीर्य अथवा रेत जीवन का परम रस है। इस परम रस से रसोपेत होकर मानव शुक्र [शुद्ध और सशक्त] बनता है। इस रस से रसोपेत होकर मानव वर्च और पराक्रम से युक्त होता है। इस रस से रसोपेत होकर मानव चन्द्रकान्ति से सम्पन्न होता है। रसाकर्षक, शुक्र और वर्चोपेत होने से ही चन्द्रमा सोम कहलाता है।

सोमं गच्छ कहकर आचार्य ने ब्रह्मचारी को वीर्योपेत, वीर्यवान्, शुक्र, शुद्ध और वर्चस्वी बनने की प्रेरणा की है।

शिक्षा वह है, जो शिक्षार्थी को यौनशुचिता, वीर्यरक्षण, संयम, जितेन्द्रियता के सुसंस्कारों से सुसंस्कृत करके उसे सदा के लिये विषयासक्ति से मुक्त करदे।

१०) (स्वाहा दिव्यं नभः गच्छ) उत्कट आत्म-साधना द्वारा दिव्य नभ को प्राप्त कर।

नभ नाम उस जलपूरित अथवा मेघाच्छादित आकाश का है, जिसमें बिजलियां कोंदती कड़कती हैं और जिससे सधार जल बरसता है।

वीर्यसम्पन्न, निर्मल, वर्चोपेत, कान्तिमय, पराक्रमशील, शिक्षास्नात व्यक्ति का जीवन ही वह दिव्य नभ बनता है, जिससे मानव समाज में दिव्यता की दिव्य रेखायें रेखांकित होती हैं और जिसमें से शीतलता तथा शान्ति की अजस्र धारायें सुप्रवाहित होती हैं।

शिक्षाशास्त्रियों के लिये यहां एक दिव्य संकेत है। शिक्षा का लक्ष्य शिक्षार्थी के जीवन को दिव्यता तथा नभनीयता से सुसंचारित करना भी है।

११) (स्वाहा वैश्वानरं अग्निं गच्छ) उत्कट साधना द्वारा वैश्वानर अग्नि को प्राप्त हो।

आत्मा एष वैश्वानरः। वैश्वानरः रश्मिभिः पुनाति। अग्निर्वै एषः सूर्यः। यह आत्म-सूर्य वह वैश्वानर है, जो अपनी रश्मियों से जीवन को ज्योतित और पवित्र करता है।

आत्माग्नि को प्रज्वलित करके सूर्यसम ।श-मान बनना शिक्षा का चरम लक्ष्य है। आत्मोन्नति तथा आध्यात्मिक सम्पदा से शून्य शिक्षा शिक्षा नहीं है, एक अन्धतम अन्धकार है। शिक्षा वही है, जिससे आत्मिक विकास और आध्यात्मिक संविकास हो। आत्मत्व से युक्त व्यक्ति वह वैश्वानर अग्नि है, वह विश्वनायक प्रकाश है, जो विश्व का सुनयन करता है।

१२) (मे हार्दि मनः यच्छ) मेरे हृदय में मन दे।

मन हृत्प्रतिष्ठ है। मन का अधिष्ठान हृदय है। मन शब्द का प्रयोग यहां हृदय के अर्थ में हुआ है।

शिक्षक और शिक्षार्थी के पारस्परिक सम्बन्ध हार्दिक होने चाहियें, औपचारिक नहीं। जैसे पिता माता हृदय से अपने पुत्र पुत्री को प्यार करते हैं और पुत्र पुत्री हृदय से अपने माता पिता को प्यार करते हैं, उसी प्रकार आचार्य और शिष्य आपस में हार्दिक प्रेम के बन्धन से सुबद्ध होने चाहियें।

"मेरे हृदय में अपना मन दे, मेरे हृदय में अपना हृदय दे", यह कहकर आचार्य अपने शिष्य से उसका हृदय मांग रहा है। हृदय के अर्पण में जीवन का

अर्पण है। शिक्षार्थी जब अपने शिक्षक को अपना मन, अपना हृदय, अर्पण कर देता है, तब ही वह वह सब कुछ बनता है, जो कुछ उसे उपर्युक्त सम्बोधनों के अनुसार बनना चाहिये।

१३) (ते धूमः दिवं गच्छतु) तेरा धूम द्यौ को जाये, तेरा यश द्यौ तक पहुंचे।

वेदों में धूम शब्द का प्रयोग सर्वत्र यश के अर्थ में ही हुआ है। श्रवो धूमः। लोक में भी धूम का प्रयोग यश के अर्थ में होता है। "अमुक व्यक्ति ने धूम मचादी। अमुक व्यक्ति की धूम मच गयी", धूम शब्द के ऐसे प्रयोग यश के अर्थ में ही होते हैं।

"द्यौ को तेरा धूम जाये, द्यौ तक तेरा यश पहुंचे"—यह एक वैदिक ईडियम है, जिसका तात्पर्य है "तेरा यश दिव्य हो और तेरे दिव्य यश की गूंज सारे संसार में गूंजे। तेरा यश सर्वत्र व्यापे"। जो शिक्षार्थी अपने शिक्षक को अपना मन समर्पित कर देता है, निस्सन्देह वह यशस्वी होता है।

जिस शिक्षा से शिक्षार्थी यशस्वी बने, वह शिक्षा धन्य है। और वही आचार्य धन्य है, जो शिक्षा के इस सुन्दर आदर्श को अपने हृदय में स्थापित करके अपने विद्यार्थियों को सर्वतः यशस्वी और यशःपुञ्ज बनाये।

१४) (स्वाहा) उत्कट साधना द्वारा (स्वः ज्योतिः) आनन्द और ज्योति [से युक्त होकर] (पृथिवीं) पृथिवी को (भस्मना आ-पृण) भस्मना पूरदे।

आचार्य कह रहा है, "वत्स ! अपने जीवन में आनन्द और ज्योति का सम्पादन करके सम्पूर्ण पृथिवी को भस्मना आनन्द और ज्योति से पूरदे। न केवल पृथिवी पर निवास करनेवाली प्रजा को, अपि तु स्वयं इस पृथिवी की भस्म के कण कण को आनन्द और ज्योति से आपूर भरदे। इस पृथिवी के रेणु रेणु को, पृथिवी माता की सम्पूर्ण धूल को आनन्द और ज्योति से संसिक्त करदे"।

कितनी सुन्दर, सुहावनी और सुभावनी उत्प्रेरणा अन्तर्निहित है यहां इस सूक्त में आचार्यों तथा शिक्षार्थियों के लिये।

आनन्द और ज्योति न केवल अपने लिये, अपि तु सम्पूर्ण पृथिवी के लिये—शिक्षासम्बन्धी यह आदर्श-वाक्य प्रत्येक विद्यालय और विश्वविद्यालय में गुंजाया जाये, तो शिक्षा के क्षेत्र में एक कान्त क्रान्ति होजाये।

प्रत्येक उपलब्धि स्वाहा की, उत्कट आत्मसाधना की, अपेक्षा रखती है, यह प्रत्यक्ष है। शिक्षक और शिक्षार्थी स्वाहाकार के इस तत्त्व से सदा सर्वदा उद्बुद्ध रहें।

उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
बन गम्भीर गहन उत्प्रेरित।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
अन्तर्मुख हो अन्तरिक्ष में।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
कर सम्प्राप्त देव सविता को।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
कर सम्प्राप्त तेज सोम्यता।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
कर सम्प्राप्त दिवस और रात।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
हो तू छन्दों को सम्प्राप्त।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
द्यौ और पृथिवी को कर प्राप्त।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
बन यज्ञीय महक और महका।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
वीर्य-सोम का संरक्षण कर।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,

बन नभ दिव्य और वृष्टि कर।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
कर प्रज्वलित अग्नि वैश्वानर।
मन दे तू मेरे हृदय में,
द्यौ तक पहुंचे तेरा धूम।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
सम्पादन कर स्वः और ज्योति,
पूर भस्मना इस पृथिवी को ॥

सूक्ति— मनो मे हार्दि यच्छ।
मेरे हृदय में मन दे ॥
दिवं ते धूमो गच्छतु।
द्यौ तक तेरा यश पहुंचे ॥
स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनापृण।
आनन्द और ज्योति [से युक्त होकर]
पृथिवी को भस्मना [आनन्द और ज्योति से]
पूरदे ॥

मापो मौषधीर्हिंसीर्धाम्नो धाम्नो राजँस्ततो वरुण नो मुञ्च।
यदाहुरघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च।
सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ (य० ६/२२)

मा आपः मा ओषधीः हिंसीः धाम्नः धाम्नः राजन् ततः वरुण नः मुञ्च। यत् आहुः अघ्न्याः इति वरुण इति शपामहे ततः वरुण नः मुञ्च। सु-मित्रियाः नः आपः ओषधयः सन्तु दुःमित्रियाः तस्मै सन्तु यः अस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥

अब आचार्य नवदीक्षित नवप्रविष्ट विद्यार्थियों में से प्रत्येक को शिक्षा करता है—(मा आपः हिंसीः मा ओषधीः) मत जलों को हिंस, मत ओषधियों को। न जलों की हिंसा कर, न ओषधियों की।

जलों से तात्पर्य यहां जलाशयों से है और ओषधियों से तात्पर्य है वृक्षों, लताओं, पौधों, अन्नों, फलों तथा जड़ी बूटी से। विद्यार्थियों में सार्वजनिक भावना की स्थापना करने के लिये आचार्य आरम्भ में ही उन्हें सिखाये कि सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं तथा स्थानों को खराब अथवा अपवित्र न करें।

स्नान, पान और सिंचाई के काम में आनेवाले जलाशयों के जल को गन्दा करना, उनके किनारे या उनके भीतर थूकना, कुल्ला करना अथवा मल मूत्र का त्याग करना, उनमें कूढ़ा कचरा फेंकना, उनका अपव्यय करना, इत्यादि जलों की हिंसा है।

फलदार वृक्षों को काटना; सड़कों, नहरों तथा रेलवे–लाइनों के दोनों ओर उगे हुए वृक्षों की टहनियों को तोड़कर दातून बनाना, उनकी पत्तियों को तोड़कर पशुओं को खिलाना; उद्यानों, वाटिकाओं, पार्कों, बाग़ों व बग़ीचों की लताओं, घासों तथा दूबों को उखाड़ना उजाड़ना; जड़ी-बूटियों को उखाड़ उखाड़ कर फेंकना–इत्यादि ओषधियों की हिंसा है।

जलों तथा ओषधियों की हिंसा न करने का यह आदेश उपलक्षणात्मक है। शिक्षक-गण शिक्षार्थियों को सिखायें कि वे सार्वजनिक हित व प्रयोग की सकल वस्तुओं को अशुद्ध, अपवित्र और नष्ट न करें।

अब शिक्षार्थियों के मुख से वेदमाता शिक्षक के प्रति कहलवाती है—

१) (राजन्)! (वरुण)! (धाम्नः धाम्नः) स्थान स्थान से (नः) हमें (ततः) उससे (मुञ्च) मुक्त रख।

विद्यार्थियों के मध्य में प्रकाशने और उनका रञ्जन करनेवाला होने से आचार्य अथवा शिक्षक को राजन् शब्द से सम्बोधन किया गया है। इस सम्बोधन से शिक्षक के प्रकाशन तथा रञ्जन रूपी दो प्रेरक गुणों का संकेत किया गया है।

वरुण नाम चन्द्रमा का है। चन्द्रमा सोम्यता का प्रतीक है। आचार्य और शिक्षक में चन्द्रमा के वरणीय गुण निहित होने चाहियें। चन्द्रिका, आह्लाद, सोम्यता, शीतलता—आचार्य और शिक्षक इन चारों गुणों से युक्त होना चाहिये। वरुण सम्बोधन में यही भाव अन्तर्निहित है।

प्रत्येक स्थान पर विद्यार्थियों के साथ उनका प्रमुख शिक्षक विद्यमान रहे और वह निरीक्षण करता रहे कि उसके विद्यार्थी कहीं भी जलों, ओषधियों तथा सार्वजनिक वस्तुओं तथा स्थानों की हिंसा न करें।

२) (वरुण) वरणीय आचार्यप्रवर ! विद्यार्थी (यत् इति आहुः) जो ऐसा कहते हैं (अघ्न्याः) अघ्न्याओ, और हम जो (इति शपामहे) इस प्रकार शपते हैं, (वरुण) वरणीय गुरुवर्य ! (ततः नः मुञ्च) उससे हमें मुक्त रख।

शप का अर्थ है कोसना, शपथ उठाना, सौगन्ध खाना।

अघ्न्या का अर्थ है अहन्या, अहननीया। मारना चाहें तो भी जिसे मारा न जा सके, जिसका कभी कदापि हनन न किया जा सके, किसी भी प्रकार जिसका वध न किया जा सके, वह अघ्न्या है। विद्यायें ही हैं, जिनका हनन नहीं किया जा सकता है।

विद्यार्थी प्रायः विद्याओं को कोसा करते हैं। कोई कहते हैं गणित बड़ा कठिन विषय है। कोई कहते हैं भूगोल बड़ा वाहियात विषय है। कोई कहते हैं इतिहास बहुत बुरा विषय है। यह इस प्रकार विद्याओं को कोसना है।

विद्यार्थी प्रायः विद्याओं की सौगन्ध भी खाया करते हैं। जब कोई विद्यार्थी किसी विद्यार्थी की किसी बात का विश्वास नहीं करता है, तो अपनी बात की सत्यता का विश्वास कराने के लिये वह विद्या की शपथ लेता है, इल्म की क़सम खाता है।

विद्याओं को कोसना या उनकी क़सम खाना, दोनों ही बहुत बुरी आदतें हैं। शिक्षक देखे कि उसके किसी भी विद्यार्थी में ये कुटेवें न हों, और यदि हों तो वह उन्हें वर्जे और उन्हें इन कुटेवों से मुक्त करे।

३) (आपः ओषधयः) जल और ओषधियां (सु-मित्रियाः सन्तु) सु-मित्रिया हों (नः) हमारे लिये, (दुःमित्रियाः सन्तु) दुःमित्रिया हों (तस्मै) उसके लिये, उस जनसमूह के लिये (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमें द्वेषता है (च) और (यं वयं द्विष्मः) जिसे हम द्वेषते हैं।

ओषधयः शब्द का प्रयोग यहां ओषधिरूप रोगनिवारक भोजन के लिये हुआ है। आपो विश्वस्य भेषजम्। जल तो स्वयं ओषधिरूप होते ही हैं। फिर भी जल ओषधियां सुमित्रवत् लाभ उन्हीं को पहुंचाते हैं, जो द्वेषरहित होते हैं। जो द्वेष करते हैं, उनके लिये जल ओषधियां सुमित्र नहीं, दूर्मित्र सिद्ध होते हैं।

मित्र दो प्रकार के होते हैं—एक सुमित्र, दूसरे दुर्मित्र। सुमित्र लाभ पहुंचाते हैं, दुर्मित्र हानि। जल और ओषधियां मित्रवत् सेवन की जाती हैं, किन्तु द्वेष करनेवालों के शरीर में वे विष की मात्रा बढ़ाती हैं और द्वेषरहितों के शरीर में वे अमृत की वृद्धि करती हैं।

अपने शिक्षक से सुशिक्षा-प्राप्त द्वेषरहित विद्यार्थी कह रहे हैं—"आपके शिक्षोपदेश से हम द्वेषरहित हो गये हैं। अतः हमारे लिये जल ओषधियां सदा सुमित्रिया हों, सुमित्रवत् लाभकारी

हों। दुर्मित्रिया [हानिकारक] वे उनके लिये हों, जो हमसे द्वेष करते हैं अथवा हममें से जो उनसे द्वेष करते हैं।"

मनुष्य, पशु, पक्षी—सभी प्राणियों में द्वेष अन्तर्निहित है। वह तो सुशिक्षा और सुसाधना ही है, जिसके द्वारा परिष्कृत और सुसंस्कृत होकर मनुष्य द्वेषरहित बनते हैं। शिक्षा ऐसी साधनामयी हो और शिक्षक ऐसे साधनाशील हों कि विद्यार्थियों के जीवन सर्वथा द्वेषरहित होजायें। यह सरल नहीं, बड़ा कठिन कार्य है। यह उत्कट साधना से ही सम्भव होता है, अन्यथा बिल्कुल नहीं।

शिक्षा द्वेषरहिता। शिक्षा वही है, जो शिक्षार्थी को द्वेषरहित बनादे। जो द्वेषरहित होता है, उसका खाया पिया सुष्ठुतया अङ्ग लगता है और उससे जो सत्त्व बनता है, वह सर्वथा शुद्ध होता है। शुद्ध सत्त्व से युक्त जीवन ही परिवार, समाज, राष्ट्र और संसार के लिये वरदान सिद्ध होता है।

न तो जलों को हिंस न ओषधियों को,
राजन् वरुण! मुक्त रख उससे,
धाम धाम से हमको।
वरुण! जो ऐसा कहते हैं "अघ्न्याओ",
इस प्रकार कोसते हैं हम शपथ उठाते,
वरुण मुक्त रख उससे हमको।
जल ओषधियां हों सुमित्रिया हमारे लिये,
दुर्मित्रिया हों उस जनसमूह के लिये,
जोकि द्वेषता हमें और हम जिसे द्वेषते॥

सूक्ति—**मापो मौषधीर्हिसीः।**
न जलों को हिंस न ओषधियों को॥
सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु।
सुमित्रिया हों हमारे लिये जल ओषधियां॥

हविष्मतीरिमा आपो हविष्माँ आ विवासति।
हविष्मान्देवो अध्वरो हविष्माँ अस्तु सूर्यः॥ (य० ६/२३)

हविष्मतीः इमाः आपः हविष्मान् आ-विवासति।
हविष्मान् देवः अध्वरः हविष्मान् अस्तु सूर्यः॥

पूर्व मन्त्र में विद्यार्थियों ने कहा है—जल ओषधियां हों सुमित्रिया हमारे लिये। जल ओषधियों की महिमा वर्णन करता हुआ आचार्य कहता है—(हविष्मतीः) हविष्मती हैं (इमाः आपः) ये जलधारायें। ये जलधारायें हविष्मती हैं—आचार्य के इस सुवाक्य में एक निगूढ़ रहस्य निहित है। ओषधियों के स्थान पर यहां हवि शब्द का प्रयोग हुआ है।

हविष्मतीः=हविस्+मतीः=हविःमतीः। हवि नाम शुद्ध पवित्र सामग्री का है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणियों का जीवन-निर्वहन एक यज्ञ है और इस पृथिवी पर उत्पन्न होनेवाली विविध सेवनीय वस्तुयें इस यज्ञ की हवि हैं। समस्त हवियां जल की सहायता से उत्पन्न होती हैं। जल के बिना हवियों की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है। हविष्मतीरिमा आपः—इस वेदवाक्य में यही रहस्य प्रकट किया गया है। ये जल हविष्मती हैं, ये जलधारायें हविप्रदा हैं।

२) (हविष्मान् आ-वि-वासति) हविष्मान् पूर्णतया–विविधतया–उपसेवता है।

वास उपसेवायाम्। वास धातु का अर्थ है उपसेवा करना, आत्म-भाव से अथवा आत्मनिजता के साथ सबकी सुसेवा करना। आ का अर्थ है पूर्णतया। वि का अर्थ है विविधतया। हविष्मान् वही है, जो अपनी हवि से सबको विविधतया तृप्त परितृप्त करता है। वृक्ष अपनी फल और छाया

रूपी हवि से हविष्मान् है, वह अपनी छाया और फल की हवि से सबकी सुसेवा करता है। समुद्र जलरूपी हवि से हविष्मान् है, वह अपनी बादल-हवि से जल की वृष्टि करके प्राणियों की सुसेवा करता है।

३) (देवः अध्वरः हविष्मान्) दिव्य अध्वर हविष्मान् है।

अध्वरो वै यज्ञः। अध्वर नाम यज्ञ का है। दिव्य अध्वर नाम उस दिव्य यज्ञ का है, जो अनवरत सदा से होता चला आरहा है और सदा सर्वदा चलता रहेगा। यह प्रकृतिजन्य विश्वरूप अथवा सृष्टिरूपी यज्ञ ही वह दिव्य यज्ञ है, जिससे नानाविध अनन्त असंख्य हवियां उत्पन्न होती रहती हैं और सदा होती रहेंगी। पञ्च तत्त्व तथा पञ्च तत्त्वों से उत्पन्न सकल हवियां इसी दिव्य यज्ञ की देनें हैं।

४) (हविष्मान् अस्तु सूर्यः) हविष्मान् होवे सूर्य।

यहां "हविष्मान् **अस्ति** सूर्यः–हविष्मान् **है** सूर्य" ऐसा नहीं कहा गया है, अपि तु "हविष्मान् **अस्तु** सूर्यः—हविष्मान् **होवे** सूर्य" ऐसी कामना की गयी है। वह कौनसा सूर्य है, जिसके लिये आचार्य ऐसी कामना कर रहा है? वह है उसका विद्यार्थीरूपी सूर्य, जिसके लिये वह यह प्रेरणाप्रद कामना कर रहा है।

"मेरा प्रत्येक विद्यार्थी सूर्यवत् तेजस्वी, प्रकाशक, आकर्षक तथा हवि-संसृजक बनकर संसार के लिये जलधाराओं तथा दिव्य अध्वर के समान हविष्मान् हो, मानव समाज के लिये शुभ श्रेष्ठ हवियों का सुसम्पादक हो, मानुषी प्रजा के लिये ज्ञान-विज्ञान-सुविचार-श्रेष्ठाचार आदि श्रेष्ठ सम्पदाओं का सम्पादक हो", आचार्य की इस कामना में विद्यालयों की महिमा तथा अध्यापकों की गरिमा की एक सुस्पष्ट झांकी हो रही है।

हविष्मती ये जलधारायें,
हविष्मान् है आविवासता।
हविष्मान् है देव अध्वर,
हविष्मान् होवे यह सूर्य॥

सूक्ति—**हविष्मतीरिमा आपः।**
ये जलधारायें हविष्मतीहैं॥
हविष्माँ आविवासति।
हविष्मान् सुसेवा करता है॥

अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीन्द्राग्नयोर्भागधेयी स्थ मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ। अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्॥ (यo ६/२४)

अग्नेः वः अपन्न-गृहस्य सदसि सादयामि इन्द्राग्नयोः भाग-धेयीः स्थ मित्रावरुणयोः भाग-धेयीः स्थ विश्वेषां देवानां भाग-धेयीः स्थ। अमूः याः उप सूर्ये याभिः वा सूर्यः सह। ताः नः हिन्वन्तु अध्वरम्॥

पूर्व मन्त्र में आचार्य ने कामना की है—"हविष्माँ अस्तु सूर्यः, मेरा विद्यार्थीरूपी सूर्य हविष्मान् हो"। इस मन्त्र में आचार्य सूर्याओं को सम्बोधन कर रहा है।

सूर्या नाम उषा का है, उस उषा का नहीं, जो प्रातः सूर्योदय से पूर्व कुछ क्षणों के लिये अपनी लालिमा से आकाश को ललाम करके लुप्त होजाती है। सूर्या नाम उस विद्यारूपी उषा का है, जो अपने

पात्र को सदा सर्वदा ललाम रखती है। विद्यारूपी उषायें ही वे उषायें हैं, जो विद्यार्थियों को सूर्य के समान रश्मित और प्रकाशित करती हैं।

आचार्य कहता है—

१) विद्यारूपी उषाओ ! मैं (वः) तुम्हें (अग्नेः अपन्न-गृहस्य सदसि सादयामि) अग्नि के अपन्न-गृह के सदन में स्थापन करता हूं।

अग्नि=अग् + नि=अग्र+नी=अग्र+णी= आगे लेजानेवाला। विद्यार्थी अग्नि है, विद्याओं को आगे लेजानेवाला है। विद्यार्थी ही है, जो परम्परा से वंशानुवंश विद्याओं को आगे ले जाता है और उन्हें लोप होजाने से बचाता है। अग्रणी होने से ही आग को भी अग्नि कहते हैं।

अपन्न-गृह=अ-पन्न+गृह। अ=नहीं। पन= व्यवहार। पन्न=व्यवहारयुक्त। अपन्न=व्यवहार-शून्य, अबोध। अपन्न गृह=अबोध-गृह। विद्यार्थी का जीवन निस्सन्देह अपन्न-गृह है, अबोधता का घर है। अभी उसे कुछ भी बोध नहीं है। आचार्य विद्यार्थियों के अपन्न-गृह में, अबोध जीवन में, विद्यारूपी बोधमयी उषाओं की स्थापना करने जारहा है, अबोध को प्रबुद्ध करने जारहा है।

विद्यार्थीरूपी अग्नि के अपन्न-गृह में वह कौनसा सदन [कमरा] है, जिसमें आचार्य विद्यारूपी उषाओं को बैठायेगा ? मस्तिष्क ही है वह सदन, जिसमें सूर्याओं की चिरस्थायी स्थापना की जायेगी।

सचमुच विद्यायें वे उषायें हैं, जो अबोधों को प्रबुद्ध करती हैं। और आचार्य है विद्याओं तथा प्रबोधों का पन्न सम्पन्न अक्षय भण्डार। विद्यार्थी है अपन्न असम्पन्न अबोध रिक्त गृह।

"सूर्याओ ! मैं तुम्हें अग्नि के अपन्न-गृह के सदन में स्थापन करने जारहा हूं", शिक्षणालयों के शिक्षा-शास्त्री गहन चिन्तन करें वैदिक आचार्य के मुख से निकले शिक्षा-शास्त्र के इस गहन सूत्र पर। आचार्य आचार्या, शिक्षक शिक्षिका, अध्यापक अध्यापिका की साध की महिमा तथा उनकी साधना की गुरुता अन्तर्निहित है इस दिव्य सूत्र में।

२) सूर्याओ ! तुम (इन्द्राग्नयोः भाग-धेयीः स्थ) इन्द्र और अग्नि की भाग-धारिका हो।

विद्यार्थीरूपी इन्द्रियों का स्वामी होने से आचार्य इन्द्र है, और जैसाकि ऊपर व्याख्यात किया जा चुका है, विद्यार्थी अग्नि है।

भाग शब्द का प्रयोग यहां कर्तव्य, उत्तरदायित्व अथवा कर्तव्यांश के लिये हुआ है। विद्यायें न केवल बोध अथवा ज्ञान की सम्पादिका हैं, वे कर्तव्यांश-निर्धारिका भी हैं। वे जहां एक ओर आचार्य के कर्तव्यांश अथवा उत्तरदायित्व का निर्धारण करती हैं, वे वहां दूसरी ओर विद्यार्थी के कर्तव्यांश अथवा उत्तरदायित्व का भी निर्धारण करती है। आचार्य अपने कर्तव्यांशों का पालन तथा अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन करे और विद्यार्थी अपने कर्तव्यांशों का पालन तथा अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन करे— विद्याओं का यही वह सुफल है, जिसके सेवन से आजके ये विद्यार्थी कलके कर्तव्यपरायण तथा उत्तरदायित्व-निर्वाहक नागरिक नागरिका बनेंगे।

३) विद्यारूपी सूर्याओ ! तुम (मित्रावरुणयोः भाग-धेयीः स्थ) मित्र और वरुण की भाग-धारिका हो।

मित्र नाम सूर्य का है। वरुण नाम चन्द्रमा का है। सूर्य अपना प्रकाश चन्द्रमा को देता है। चन्द्रमा सूर्य से प्राप्त प्रकाश को चन्द्रिका [चांदनी] के रूप में सब ओर बिखेर कर प्राणियों को शीतल शान्त ज्योति से आह्लादित करता है।

आचार्य मित्र है, सूर्य है। विद्यार्थी वरुण है, चन्द्रमा है। आचार्य का कर्तव्य है अपना प्रकाश, अपना ज्ञान विद्यार्थी को देना और विद्यार्थी का

कर्तव्य है आचार्य से प्राप्त प्रकाश को अपने जीवन में प्रस्थापन करना।

विद्याओं से पन्न सम्पन्न होकर ही आचार्य ज्ञानसूर्य बना है और उस ज्ञानसूर्य का ज्ञानप्रकाश ग्रहण करके ही विद्यार्थी प्राह्लादक चन्द्रमा बनेगा।

४) सूर्याओ ! तुम (विश्वेषां देवानां भाग-धेयीः स्थ) सब देवों की भाग-धारिका हो।

विद्यायें न केवल आचार्य-देव और विद्यार्थी-देव की, अपि च सभी देवों की कर्तव्य-निर्धारिका तथा उत्तरदायित्व-निर्वाहिका हैं। अनन्ता वै देवाः। देव अनन्त हैं। आचार्य देव हैं। आचार्या देव हैं। अध्यापक देव हैं। अध्यापिका देव हैं। माता देव हैं। पिता देव हैं। पुत्र देव हैं। पुत्रियां देव हैं। अतिथि देव हैं। नेता देव हैं। राजा देव हैं। नागरिक देव हैं। नागरिका देव हैं। समाज-व्यवस्था के सुचारु-संचालन में यह परम आवश्यक है कि प्रत्येक देव सदा सर्वदा अपने कर्तव्यांश से अनुभूत और अपने उत्तरदायित्व से प्रभूत रहता हुआ निज निज कार्य का यथावत् संचालन करे।

५) (याः) जो (अमूः) वे [विद्यारूपी सूर्यायें] आचार्यरूपी (सूर्ये) सूर्य में (उप) उपस्थित हैं, (वा) या (सूर्यः) [आचार्यरूपी] सूर्य (याभिः सह) जिन [विद्यारूपी सूर्याओं] से सहित है, (ताः) वे [विद्यारूपी सूर्यायें] (नः अध्वरं) हमारे विश्व-यज्ञ को (हिन्वन्तु) बढ़ायें।

आचार्य आचार्या, अध्यापक अध्यापिका में जो विद्यायें संनिहित हैं, वे विद्यालय और विश्वविद्यालय की ही नहीं, विश्व-यज्ञ की प्रवर्धिका हों, वे सृष्टि और समष्टि यज्ञ की संवर्धिका हों। आचार्य की विद्यायें सृष्टि के विज्ञानों तथा समष्टि के संज्ञानों के स्रोतों को खोलकर मानव जाति का सुख सौभाग्य बढ़ानेवाली हों।

तुम्हें स्थापन करता हूं मैं,
अग्नि के अपन्नगृह-सदन में।
भागधारिका हो तुम,
इन्द्र और अग्नि की।
भाग-धारिका हो तुम,
मित्र और वरुण की।
भाग-धारिका हो तुम,
सभी सकल देवों की।
वे जो सूर्य में उपस्थित,
या है जिनसे सहित सूर्य,
रहें बढ़ाती वे अध्वर को,
सदा हमारे॥

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा।
ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ॥
[य० ३७/१९] (य० ६/२५)

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा।
ऊर्ध्वं इमं अध्वरं दिवि देवेषु होत्राः यच्छ॥

विद्यार्थी विद्या समाप्त करके अब गुरुकुल अथवा विद्यालय से विदा होरहे हैं। दीक्षान्त-समारोह में आचार्य प्रत्येक स्नातक को उपाधि वितरण करता हुआ प्रत्येक को आदेश देता है—

१) पुत्र ! इस गुरुकुल में, इस विद्यालय में (त्वा हृदे) तुझे हृदय के लिये, (त्वा मनसे) तुझे मन के लिये, (त्वा दिवे) तुझे दिव्यता के लिये, (त्वा सूर्याय) तुझे सूर्य [सूर्यता] के लिये [शिक्षित और निर्मित किया गया है]। आचार्य के इस सम्बोधन का एक एक पद उदात्त प्रेरणा देरहा है।

तुझे हृदय के लिये शिक्षित और निर्मित किया गया है। तू सदा सहृदय और हृदयवान् रहना। कभी कदापि कहीं भी अहृदय और हृदयहीन न होना। सहृदयता ही है, जो विद्या को सुशोभित करती है।

तुझे मन के लिये शिक्षित और निर्मित किया गया है। तू सदा सर्वदा मनस्वी और मननशील रहना। कभी कदापि कहीं भी मनस्विता और मननशीलता से शून्य न होना। मनस्विता और मननशीलता ही है, जो विद्या को सार्थक करती है।

तुझे दिव्यता के लिये शिक्षित और निर्मित किया गया है। दिव्य गुण कर्म स्वभाव से समलंकृत रहते हुए संसार में दिव्यताओं का साचार प्रसार करना, सब ओर दिव्य गुण कर्म स्वभाव की संव्याप्ति करना। दिव्यता ही है, जो विद्या को प्रतिष्ठित करती है।

तुझे सूर्यता के लिये शिक्षित और निर्मित किया गया है। सदा सर्वदा सूर्य के समान तेजस्वी, प्रकाशक और आकर्षक रहता हुआ मानव समाज के अज्ञानान्धकार को हटाकर मानव समाज में ज्ञान-प्रकाश पूरते रहना। सूर्यता ही है, जो विद्या को कलान्वित करती है।

२) तू (इमं अध्वरं ऊर्ध्वं) इस विश्वयज्ञ को ऊंचा करना। तेरे जीवन से यह विश्वयज्ञ अधोगामी न होने पाये, अपि तु सतत सन्तत निरन्तर ऊर्ध्वगामी ही होता चला जाये।

ऊर्ध्वमिममध्वरम्—ऊंचा करना इस विश्वयज्ञ को, ऊंचा रखना इस विश्वयज्ञ को—यह आदर्श महा वाक्य दीक्षान्त के समय प्रत्येक स्नातक के मस्तिष्क तथा मन में अमिटरूपेण समंकित किया जाना चाहिये। विद्वान् स्नातक किसी एक देश या राष्ट्र की नहीं, विश्व की सम्पत्ति है। उसे किसी एक देश या राष्ट्र को नहीं, सारे विश्व को ऊंचा उठाना है और ऊंचा उठाये रखना है।

३) तू (दिवि) दिव्यता में [स्थित रहकर] (देवेषु) देवों में (होत्राः) होत्र (यच्छ) प्रदान करते रहना।

देवेषु शब्द का प्रयोग यहां विश्वदेवों अथवा विश्वमानवों के लिये हुआ है।

होत्र का अर्थ है पवित्र हवि और यज्ञ। हवि और यज्ञ का परस्पर सम्बन्ध है। हवि के बिना यज्ञ हो ही नहीं सकता। होत्राः शब्द का प्रयोग यहां शुद्ध पवित्र विचार-हवियों के लिये हुआ है। सुपावन विचार-हवियां ही हैं, जिनसे मानवीय यज्ञों का सुसम्पादन होता है। विचारदान ही महा दान है, परम दान है। सही और शुद्ध विचार ही हैं, जो विश्वयज्ञ को ऊंचा उठाते हैं और ऊंचा उठाये रख सकते हैं।

दिव्यता में स्थित रहकर दिव्यताओं से युक्त रहते हुए ही मानव की विचारहवियां शुद्ध और सही रहती हैं। इसीलिये आचार्य ने स्नातक को आदेश दिया है—"पुत्र! सदा दिव्यता में स्थित रहना, दिव्य गुण कर्म स्वभाव से युक्त रहना और विश्व के सकल मानवदेवों में शुद्ध सुपावन विचार-हवियां होमते रहना"।

तुझे हृदय के लिये,
तुझे मन के लिये,
तुझे दिव्यता के लिये,
तुझे सूर्यता के लिये।
ऊंचा रख इस विश्वयज्ञ को,
रहना युक्त दिव्यता से और,
होमते रहना तू देवों में,
शुद्ध सुपावन विचार-हवियां ॥

सूक्ति—**ऊर्ध्वमिममध्वरम्।**
ऊंचा रख इस विश्वयज्ञ को ॥
दिवि देवेषु होत्रा यच्छ।
दिव्यता में स्थित रहता हुआ
मानवदेवों में विचारहवियां दे ॥

सोम राजन्विश्वास्त्वं प्रजा उपावरोह विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्तु। शृणोत्वग्निः समिधा हवं मे शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीः। श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञं शृणोतु देवः सविता हवं मे स्वाहा ॥ (य० ६/२६)

सोम राजन् विश्वाः त्वं प्रजाः उप-अवरोह विश्वाः त्वां प्रजाः उप-अवरोहन्तु। शृणोतु अग्निः सं-इधा हवं मे शृण्वन्तु आपः धिषणाः च देवीः। श्रोत ग्रावाणः विदुषः न यज्ञं शृणोतु देवः सविता हवं मे स्वाहा ॥

प्रत्येक स्नातक के प्रति अपने सम्बोधन को जारी रखते हुए आचार्य आदेश दे रहा है—

१) (सोम राजन्)! (त्वं विश्वाः प्रजाः उप-अवरोह) तू सब प्रजाओं को आश्रय कर, (विश्वाः प्रजाः त्वां उप-अवरोहन्तु) सब प्रजायें तुझे आश्रय करें।

स्नातक को आचार्य का यह आदेश स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य तो है ही, शिक्षा जगत् में जन जन के श्रोत्रों में गुंजाये जाने योग्य भी है।

सम्पूर्ण कलाओं से कलान्वित पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र का नाम सोम है। सोम सम्बोधन में पूर्ण चन्द्र की सी कलान्वितता तथा आह्लादकता का भाव निहित है। राजन् सम्बोधन में राजने [प्रकाशने] तथा रञ्जन का भाव है।

प्रत्येक स्नातक पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र के समान कलान्वित तथा आह्लादक अपि च प्रकाशपुञ्ज तथा जनरञ्जक बनकर विद्यालय से निकल रहा है। और आचार्य उसे आदेश देरहा है कि वह अब विशाल संसार में प्रविष्ट होकर जनता को आश्रय करे और वह जनता में घुल मिल कर प्रजाओं की ऐसी सुसेवा और समुन्नति करे कि वह स्वयं जनता का अडिग आश्रय बन जाये। वह जनता का होजाये और जनता उसकी होजाये। पेटभराऊ विद्या भी कोई विद्या है। जनसेवी विद्या ही सच्ची विद्या है।

२) (अग्निः सं-इधा मे हवं शृणोतु) अग्नि प्रज्वलन के साथ मेरे आदेश को सुने।

जैसाकि मन्त्र २४ की व्याख्या में निरुक्त किया गया है, अग्नि शब्द का प्रयोग इस मन्त्र में विद्याओं को आगे लेजानेवाले के अर्थ में हुआ है। स्नातक विद्याग्नि से प्रज्वलित होकर विद्यालय से जारहा है। आचार्य आदेश देरहा है, "विद्याओं को मानव समाज में आगे लेजानेवाला मेरा यह स्नातकाग्नि प्रज्वलन अथवा प्रकाशन की भावना से मेरे उपर्युक्त आदेश को सुने"।

३) उपस्थित (आपः च धिषणाः देवीः शृण्वन्तु) जलशीला और सुभाषिणी देवियां सुनें।

दीक्षान्त समारोह में विराजी हुई जलशीला [सुशान्त सुशीला] और मृदुभाषिणी देवियों को सम्बोधन करके आचार्य कह रहा है कि वे स्नातकों को दिये गये मेरे आदेश को सुनें और आशीर्वाद दें कि वे मेरे आदेशों का यथावत् पालन कर सकें।

४) (ग्रावाणः) विवेचको! (विदुषः यज्ञं न श्रोत) विद्वान् के यज्ञ के समान सुनो।

यह दीक्षान्त समारोह विद्वान्मात्र का यज्ञ है। "जिस श्रद्धा तथा दत्तचित्तता के साथ यज्ञ में मन्त्रपाठ का श्रवण किया जाता है, उसी श्रद्धा तथा दत्तचित्तता के साथ, विवेचको, स्नातकों को दिये गये मेरे आदेश को सुनो और उसका सम्यक् विवेचन

करो", विवेचकों के प्रति आचार्य की यह प्रेरणा सार्वजनिकता की द्योतक तथा पोषक है।

५) (शृणोतु देवः सविता हवं मे) सुने देव सविता पुकार मेरी।

यहां आचार्य सृष्टि के रचयिता, धारक, संचालक और प्रकाशक देव सविता से विनय करता है—"देव सविता मेरी विनय को स्वीकार करे"। कैसी विनय? कि स्नातकों को जो आदेश दिया गया है, वह फलीभूत और सफलीभूत हो।

६) मेरा यह यज्ञ (स्वाहा) सुहुत हो, सार्थक सिद्ध हो।

सोम राजन्,
आश्रय कर तू सब प्रजाओं को,
सकल प्रजायें तुझे आश्रयें।
सुने अग्नि सप्रज्वलन आदेश मेरा,
सुनें जलशीला और सुभाषिणी देवियां।
सुनो विवेचको,
विद्वान् के यज्ञ के समान,
सुने देव सविता पुकार मेरी,
सुहुत सार्थक सिद्ध हो यज्ञ मेरा॥

सूक्ति—शृणोतु देवः सविता हवं मे।
सुने देव सविता पुकार मेरी॥

देवीरापो अपां नपाद्यो व ऊर्मिर्हविष्य इन्द्रियावान्मदिन्तमः।
तं देवेभ्यो देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यो येषां भाग स्थ स्वाहा॥
(य० ६/२७)

देवीः आपः अपां नपात् यः वः ऊर्मिः हविष्यः इन्द्रिय-वान् मदिन्तमः।
तं देवेभ्यः देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यः येषां भागः स्थ स्वाहा॥

अपने आदेश को जारी रखता हुआ आचार्य कहे जारहा है—

१) (देवीः आपः) दिव्य जलराशियो! (वः) तुम्हारा (यः) जो (अपां न-पात्) जलों का न गिरानेवाला, (हविष्यः) हविमय, (इन्द्रिय-वान्) इन्द्रिय-वान्, (मदिन्-तमः) आनन्दप्रद-तम (ऊर्मिः) तरङ्ग है, (तं) उसे [तुम, उन] (देवत्रा) देवों में [संस्थित रहते हुए], (येषां) जिनके [तुम] (भागः स्थ) भाग हो, (शुक्र-पेभ्यः देवेभ्यः) शुक्र-पेयी देवों के लिये (दत्त) प्रदान करती रहो।

सामान्यतः वैदिक वाङ्मय में ऊर्मि नाम तरङ्ग का है। यहां ऊर्मि शब्द का प्रयोग तरङ्गप्रवाह के लिये हुआ है। समुद्र का तरङ्ग-प्रवाह जलों का न गिरानेवाला अथवा जलों का उद्वाहक है, जलों का उत्प्रेरक है, जलों का ऊपर उठानेवाला है। प्रत्यक्षतः तरङ्गप्रवाह समुद्र की अक्षय जलराशियों को सदा ऊपर उछालता रहता है, उन्हें ऊर्ध्वगामी बनाये रहता है।

समुद्र का तरङ्गप्रवाह हविष्य, हविमय, हवि-सम्पादक भी है। सूर्यताप से सन्तप्त होकर सागर का तरङ्गप्रवाह वाष्प में परिणत होकर बादल बनाते हैं। वात पर आरूढ़ होकर बादल दूर दूर जाकर सर्वत्र मेंह बरसाते हैं। मेंह के जलों से जलाशय आपूर होते हैं। मेंह के जलों से ओषधियां, वनस्पतियां, अन्न, फल आदि हवियां उत्पन्न होती हैं।

सागर का जलतरङ्ग इन्द्रियवान् भी है। इन्द्रियवान् का अर्थ है बलवान्, वीर्यवान्, पराक्रमशाली। सागर का तरङ्गप्रवाह अदम्य और असह होता है। कौन है जो सागर की तरङ्गों को रोक या मोड़ सकता है।

समुद्र का तरङ्गप्रवाह मदिन्-तम भी है, आनन्द-प्रदतम भी है। तरङ्गों का उद्‌गम है ही आनन्द। तरङ्गें आनन्द की ही होती हैं। तरङ्गें आनन्द से ही तरङ्गित होती हैं।

"देवीः आपः" का प्रयोग यहां समुद्र की अक्षय दिव्य जलराशियों के लिये न होकर स्नातकरूप दिव्य ज्ञानराशियों के लिये हुआ है। विद्यायें स्वयं भी अनन्त, असीम और अपार ज्ञानराशियां हैं और उनका तरङ्ग [उत्प्रेरणा] उदात्तोदात्त है। ज्ञान-तरङ्ग सागरतरङ्ग की अपेक्षा कहीं अधिक अपां-नपात् [प्रजाओं को न गिरानेवाला], हविष्य [हविसम्पादक, सम्पन्नता का निष्पादक], इन्द्रियवान् तथा मदिन्तम होता है।

"दिव्य स्नातको ! दिव्य ज्ञानराशियो ! तुम्हारा जो ज्ञानतरङ्ग है, वह अपां-नपात् [प्रजाओं को उत्प्रेरनेवाला, हविष्य [उत्पादक, सृजनात्मक], इन्द्रियवान् तथा आनन्दप्रदतम है। उन देवों में संस्थित रहते हुए, जिनके तुम भाग हो, अपने इस ज्ञानतरङ्ग को तुम उन देवों में प्रदान करो, जो शुक्रपेयी हैं, जो शुक्रपान करते हैं"।

देव शब्द का प्रयोग यहां नागरिक के अर्थ में हुआ है। शुक्रपेयी देव उन नागरिकों का नाम है, जो शुक्र का, शुद्धता का, पवित्रता का, स्वयं पान करते हैं और अन्यों को पान कराते हैं। दूसरे शब्दों में पवित्रता की साधना तथा संव्याप्ति करनेवाले नागरिकों और नागरिकाओं को शुक्रपेयी देव कहते हैं।

विद्वान् स्नातकों का कर्तव्य है कि ज्ञान-तरङ्ग से तरङ्गित रहते हुए और राष्ट्रनागरिकों तथा विश्व-नागरिकों के मध्य में संस्थित रहते हुए वे सदा शुक्रपेयी नागरिकों को उत्प्रेरित करते रहें। नागरिकसाधारण में संस्थित रहकर स्वात्मप्रेरणा से उन्हें शुक्रपेयी नागरिक बनाना और लोकहिताय उन्हें सदा तरङ्गित तथा उत्प्रेरित रखना—सुशिक्षितों को आचार्य का यह आदेश अपने आपमें एक उदात्त सन्देश है।

२) मेरा यह आदेश (स्वाहा) सुहुत सार्थक सिद्ध हो।

दिव्य ज्ञानजल की सुराशियो,
तुम्हारा जो उत्तरङ्ग वह,
प्रजाओं को उठानेवाला,
और हविष्य इन्द्रिवान् मदिन्तम।
संस्थित रहते हुए,
सतत सन्तत देवों में,
जिनके हो तुम भाग,
उसे तुम देते रहना,
शुक्रपेयी देवों के लिये।
सुहुत सार्थक सिद्ध रहे,
आदेश यह मेरा॥

कार्षिरसि समुद्रस्य त्वाक्षित्या उन्नयामि।
समापो अद्‌भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः॥ (य० ६/२८)

कार्षिः असि समुद्रस्य त्वा अक्षित्यै उत्-नयामि।
सं आपः अत्‌भिः अग्मत सं ओषधीभिः ओषधीः॥

दीक्षान्त समारम्भ के अन्त में जनपद का राजा अथवा राष्ट्र का राष्ट्रपति अथवा राजा या राष्ट्रपति का प्रतिनिधि आचार्य के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है—तू (कार्षिः असि) कार्षि है, मैं (त्वा समुद्रस्य अक्षित्यै उत्-नयामि) तुझे समुद्र की अक्षयता [परिपूर्णता] के लिये उत्-नयन करता हूं/शिरोधार्य करता हूं।

कृष विलेखने। कार्षि शब्द वंशज है कृष धातु

का, जिसका अर्थ है जोतना, खोदना, खींचना। इसी धातु से कृषि शब्द बना है, जिसका अर्थ है खेती। कार्षि का अर्थ है खेती करनेवाला। किसान हल से भूमि जोतकर, भूमि खोदकर, पानी खींचकर खेती करता है। तब अन्न की प्राप्ति होती है।

आचार्य भी कार्षि है कुल भूमि का, जिसमें तपरूप खुदाई होती है, संयमरूप जुताई होती है। बालक बालिका हैं वपित बीज, विद्यारूपी जलों से जिनका सिंचन किया जाता है और आत्मसाधना से रक्षण। तब जाकर राष्ट्र और विश्व के लिये स्नातक-स्नातिकारूपी ज्ञानराशियां उपलब्ध होती हैं, जो स्व-राष्ट्र के सुनागरिक तथा विश्व के विश्वदेव बनते हैं।

राष्ट्र अथवा विश्व एक समुद्र है, आचार्य जिसे ज्ञानराशि स्नातकों से, सुनागरिकों तथा विश्वदेवों से, अक्षयता के साथ परिपूर्ण रखता है। आचार्य-रूप कार्षि की इस दिव्य साधना के आगे नतमस्तक होकर जनपदराज समादरपूर्ण शब्दों में हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कह रहा है—"आचार्य ! तू कार्षि है। तू वह कार्षि है, जो राष्ट्रसमुद्र और विश्व-महासागर को अक्षयता के साथ आपूर्ण परिपूर्ण रखता है। तदर्थ मैं तुझे उत्-नीत करता हूं, तुझे उन्नीत करता हूं, तुझे शिरोधार्य करता हूं, राजमुकुट की तरह तुझे राष्ट्र के सानु [सर्वोच्चि शिखर] पर और विश्व के मूर्धा पर आसीन करता हूं"।

सचमुच सच्चे आचार्य जनपदराजों और राष्ट्रपतियों से कहीं ऊंचे हैं, बहुत ऊंचे हैं। वे राष्ट्र के उच्चतर पति और विश्व के उच्चतम अधिपति हैं।

जनपदराज अब स्नातकों को सम्बोधन करके कहता है—(आपः) जलो ! शीतल शान्त सिंचनशील स्नातको ! तुम (अद्भिः) जलों से, शीतल शान्त सिंचनशील आचार्यों से (सं–अग्मत) संगत हुए हो। (ओषधीः) ओषधियो ! तुम (ओषधीभिः) ओषधियों से (सं) संगत हुए हो। ज्ञानजलराशि स्नातक स्नातिका जल के समान शीतल, शान्त और सिंचन-शील होते हैं। विद्यानिधि स्नातक स्नातिका ओषधिवत् रोगनाशक और दोषनिवारक होते हैं। जल के समान शीतल, शान्त और सिंचनशील तथा ओषधिवत् रोगनाशक और दोषनिवारक आचार्यों से संगत रहकर ही वे वैसे बनते हैं। वन्द्यचरण आचार्यों के चरणों में स्नातकों की श्रद्धा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये जनपदराज ने कहा है—"जलशील तथा ओषधिशील स्नातक-स्नातिकाओ ! तुम जलशील तथा ओषधिशील आचार्यों आचार्याओं से संगत रहकर ही ऐसे बने हो"।

कार्षि है तू,
करता हूं उन्नीत तुझे मैं,
सागर के अक्षयता-हेतु।
संगत रहे हैं जलों से जल,
ओषधियों से ओषधियाँ।

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः।
स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा॥ (यo ६/२९)
[ऋo १.२७.७, साo १४१५]

यं अग्ने पृत्सु मर्त्यं अवाः वाजेषु यं जुनाः।
सः यन्ता शश्वतीः इषः स्वाहा॥

जनपदराज द्वारा अर्पित श्रद्धाञ्जलि तथा सम्मान को ब्रह्मार्पण करता हुआ आचार्य कहता है:—

१) (अग्ने) प्रकाशस्वरूप प्रभो ! आगे लेजानेवाले ! तू (यं मर्त्यं) जिस मनुष्य को (पृत्सु) पृतों में (अवाः)

रक्षा करे और (यं) जिसे (वाजेषु) वाजों में (जुनाः) प्रेरे, (सः) वही (शश्वतीः इषः यन्ता) शश्वत् प्रगतियों को संचालन करनेवाला [होता है]।

२) प्रभो ! मुझे प्राप्त प्रशस्ति व सम्मान तुझे (स्वाहा) समर्पित है।

पृत् शब्द स्पृध [स्पर्ध] धातु से बना है, जिसका प्रयोग स्पर्धा अथवा संघर्ष के अर्थ में होता है।

वाज नाम है बल, पराक्रम और प्रकाश का। यहां वाजेषु शब्द का प्रयोग पराक्रमों के अर्थ में हुआ है।

शश्वत् शब्द में नैरन्तर्य का भाव है। सतत सन्तत निरन्तर चलनेवाली प्रगतियों का नाम शश्वतीः इषः है। इष गतौ। इष धातु का अर्थ है गति, प्रगति।

संघर्ष, पराक्रम और सतत प्रगति का सहचार प्रत्यक्ष है। किसी भी समुदात्त लक्ष्य या उद्देश्य की सिद्धि के लिये संघर्ष अनिवार्य है। पराक्रम द्वारा संघर्षों में साफल्य प्राप्त होता है। संघर्षों में जूझने और उनमें विजय पाने के लिये परम पराक्रम करने पड़ते हैं। पराक्रमहीन संघर्षों में परास्त होजाते हैं। पराक्रमशाली ही संघर्षों को पार करते हुए प्रगति के पथ पर आरूढ़ रहते हैं और लक्ष्य या उद्देश्य की पूर्ति करते हैं।

आचार्य का लक्ष्य जितना उदात्त और उसका उद्देश्य जितना सुमहान् है, सम्पूर्ति के मार्ग में उसके सामने उतने ही विकट संघर्ष भी हैं। भिन्न भिन्न प्रकृति के विद्यार्थी हैं, भिन्न भिन्न स्वभाव के अध्यापक प्राध्यापक हैं। उन सबको साधना, संभालना और उनसे यथावत् कार्य कराना साधारण संघर्ष नहीं है। फिर सबको स्वस्थ, सुसंस्कृत, सुशील, शालीन, सच्चरित्र, सच्चरित, सदाचारी, धर्मात्मा, आस्तिक, राष्ट्रनिष्ठ और विश्वनिष्ठ बनाना निस्सन्देह असाधारण पराक्रमों की अपेक्षा रखता है। संघर्ष और पराक्रम के समन्वय से शिक्षण-संस्था को सतत प्रगति के पथ पर आरूढ़ रखने के लिये अमित क्षमता और विचक्षणता चाहिये।

ब्रह्मपरायण और ब्रह्मार्पित आचार्य ही अतुल पराक्रमों द्वारा सकल संघर्षों को पार करता हुआ प्रगति के पथ को प्रशस्त रख सकता है। परम आस्तिक परम पावन आचार्य ने तभी तो कहा है, "अग्ने ! तू जिस मनुष्य की संघर्षों में रक्षा करता है और तू ही जिसे पराक्रमों में प्रेरता है, वह मानव ही सतत प्रगतियों का संचालक होता है"।

"प्रकाशस्वरूप देव ! तेरे ही प्रकाश और अग्रनयन में मानव संघर्षों तथा पराक्रमों के समन्वय से प्रगतियों का सुसंचालक रह पाता है। मुझ मर्त्य के द्वारा संघर्षों और पराक्रमों के समन्वय से जो प्रगतियां होरही हैं, वे सब तेरे ही संरक्षण और तेरी ही अन्तःप्रेरणा से होरही हैं। अतः मुझे सम्प्राप्त प्रशस्ति और सम्मान तुझे समर्पित है", आचार्य की इस विनय में जो अगाध आस्तिक्य-साधना संनिहित है, प्रत्येक आचार्य व आचार्या उसकी अनुभूति से अनुभूत रहे, यह नितान्त वाञ्छनीय है।

अग्ने,
जिस मानव की रक्षा,
करता है तू संघर्षों में,
और प्रेरता है तू जिसको,
पराक्रमों में।
संचालक होता है वह ही,
सतत निरन्तर प्रगतियों में ॥

**देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
आ ददे रावासि गभीरमिममध्वरं कृधीन्द्राय सुषूतमम् ।
उत्तमेन पविनोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं निग्राभ्या स्थ
देवश्रुतस्तर्पयत मा ॥ (यo ६/३०)**

देवस्य त्वा सवितुः प्र-सवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णः हस्ताभ्याम् । आ-ददे रावा असि गभीरं इमं अध्वरं कृधि इन्द्राय सु-सूतमम् । उत्-तमेन पविना ऊर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं नि-ग्राभ्याः स्थ देव-श्रुतः तर्पयत मा ॥

राष्ट्र के प्रमुख प्रतिनिधि अथवा प्रतीक के रूप में जनपदराज पुनः आचार्य का साभिवादन अभिनन्दन करता है—

१) आचार्य ! मैं (त्वा) तुझे (देवस्य सवितुः प्र-सवे) देव सविता के समुत्पन्न-संसार में (अश्विनोः) दो नासिका-छिद्रों के (बाहुभ्यां) प्राण-अपान-रूपी दो बाहुओं से तथा (पूष्णः) आत्मपूषा के (हस्ताभ्यां) मन-बुद्धि-रूपी दो हस्तों से (आ-ददे) ग्रहण करता हूं। [स्पष्टीकरण के लिये देखिये मन्त्र १ की व्याख्या]।

"आचार्य ! तूने मेरे राष्ट्र के इन स्नातकों में प्राणवत् पवित्रता का संचार और अपानवत् इनके दोषों का निराकरण किया है। तूने अपने शुद्ध सात्त्विक चिन्तन और सत्य शिव संकल्प से इनके जीवनों में दुरितों का परासुवन और भद्रों का आसुवन किया है। इन सर्वगुणसम्पन्न विभूतियों का सुनिर्माण करके तूने मेरे राष्ट्र का सुनिर्माण किया है। मैं अपने राष्ट्र की ओर से तुझे राष्ट्रनिर्माता के रूप में ग्रहण करता हूं"।

२) आचार्य ! तू (रावा असि) दाता है। ये स्नातक-स्नातिकायें राष्ट्र को तेरी महान् देन है। राष्ट्र और विश्व को तेरी यह देन सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि देन है।

३) आचार्य ! तू शिक्षारूपी (इमं गभीरं अध्वरं) इस गहन यज्ञ को (उत्-तमेन पविना) उत्कृष्टतम वाणी से (इन्द्राय) राष्ट्रार्थ (सु-सूतमं) सु-निष्पादक-तम, (ऊर्जस्वन्तं) पराक्रमयुक्त, (मधुमन्तं) मधु-युक्त, (पयस्वन्तं) रसोपेत (कृधि) करता रह।

इन्द्रः क्षत्रम् । क्षत्रं वा इन्द्रः । क्षत्रं हि राष्ट्रम् । इन्द्र शब्द का प्रयोग यहां राष्ट्र के अर्थ में हुआ है। प्रजारूपी इन्द्रियों का स्वामी होने से राष्ट्र इन्द्र है। देश के सकलैश्वर्यों का स्वामी होने से भी राष्ट्र इन्द्र है।

शिक्षायाग किसी भी राष्ट्र का एक सर्वातिशय गहन गम्भीर यज्ञ है। इस याग में आचार्य की अगाधविद्योपेत वाणी की सर्वोत्कृष्टता का महत्त्व प्रत्यक्ष है। आचार्य की संसृजनात्मिका वाणी से शिक्षार्थियों के जीवनों का अतिशय सुनिष्पादन होता है। आचार्य की प्रेरणाप्रद वाणी उनके जीवनों में अमित संबल और अक्षय पराक्रम का संचार करती है। आचार्य की सुमधुर वाणी उनके जीवनों में मधुरता सरसाती है। आचार्य की रसमयी वाणी उनके जीवनों में सरसता का अजस्र स्रोत प्रसरित करती है।

विद्याओं से उपेत अपनी वाणी की अभिस्तुति से विनम्रीभूत होकर आचार्य स्वयं विद्याओं का अभिनन्दन करता है—

१) विद्याओ ! तुम (देव-श्रुतः) देव-श्रुत और (नि-ग्राभ्याः) नि-ग्रहणीय (स्थ) हो।

देवों से श्रुत, देवों से सुनकर प्राप्त की जाने से विद्यायें देवश्रुत हैं। विद्यायें हैं ही वे, जो दिव्य देवों और दिव्य देवियों के श्रीमुखों से उच्चारित होकर शिक्षार्थियों द्वारा सुनी, समझी और सीखी जाती हैं।

विद्यायें नि-ग्राह्य हैं, नितराम निरन्तर ग्रहणीय हैं। सभी विद्यायें अगाध, अथाह और अनन्त हैं। अतिशय विद्वान् होजाने पर भी एक सच्चा सुविद्वान् विद्या के प्रत्येक क्षेत्र में सदा विद्याग्राहक ही बना रहता है।

२) विद्याओ ! तुम (मा तर्पयत) मुझे तृप्त करती रहो।

एक सच्चा सुविद्वान् सुमहान् विद्वान् होजाने पर भी विद्याप्राप्ति में सदा अतृप्त रहता है। वह ज्यों ज्यों विद्यामृतों का पान करता जाता है, त्यों त्यों विद्या-पान की उसकी पिपासा बढ़ती ही जाती है। इस प्रकार निरन्तर विद्यापान करते जाने में उसे तृप्ति अनुभव होती है।

ग्रहण करता हूं तुझे मैं,
देव सविता के प्रसव में,
अश्वियों के बाहुओं से,
और हस्तों से पूषा के।
तू है दाता,
करते रहना राष्ट्र-हेतु,
उत्कृष्टतम वाणी द्वारा,
इस गहन गम्भीर यज्ञ को,
सुनिष्पादक पराक्रमयुत,
माधुर्य-और-सरसता-युत।
देवश्रुत निग्राह्य हो तुम,
तृप्त करती रहो मुझको॥

सूक्ति— रावासि।
तू दाता है॥

मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत चक्षुर्मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयतात्मानं मे तर्पयत प्रजां मे तर्पयत पशून्मे तर्पयत गणान्मे तर्पयत गणा मे मा वि तृषन्॥ (य० ६/३१)

मनः मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत चक्षुः मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयत आत्मानं मे तर्पयत प्रजां मे तर्पयत पशून् मे तर्पयत गणान् मे तर्पयत गणाः मे मा वि-तृषन्॥

अब स्नातक-स्नातिकाओं को सम्बोधन करता हुआ जनपदराज कहता है—

१) तुम (मे मनः तर्पयत) मेरे मन को तृप्त करो। मेरे जनपद में अथवा विश्व में तुम जहां कहीं भी स्थित अथवा नियुक्त हो, वहीं कर्तव्य-निष्ठा के साथ ऐसा कर्तव्यपालन करो कि तुमसे मेरा मन सदा तृप्त सन्तुष्ट रहे।

२) तुम (मे वाचं तर्पयत) मेरी वाणी को तृप्त करो। इस राष्ट्र में अथवा विश्व में तुम जहां कहीं भी स्थित या नियुक्त हो, वहीं तुम्हारा शील स्वभाव, आचार विचार, व्यापार व्यवहार, चरित चरित्र, इतना सुष्ठु, शिष्ट और सुन्दर हो कि जिसकी प्रशंसा करके मेरी वाणी तृप्त होजाये।

३) तुम (मे प्राणं तर्पयत) मेरे प्राण को तृप्त करो। इस देश में या विदेश में तुम जहां कहीं भी स्थित या नियुक्त हो, तुम जन जन को इतना प्यार और जन जन का इतना हित सम्पादन करो कि मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति निज प्राण के समान प्रियता सम्पादित होजाये, तुम मेरे प्राणप्रिय बन जाओ, तुम्हारे प्रति मेरी प्राणप्रियता से मेरा प्राण तृप्त होजाये।

४) तुम (मे चक्षुः तर्पयत) मेरे नेत्र को तृप्त करो। तुम सदा सर्वत्र ऐसे नीरोग, स्वस्थ, सुदृढ़, सुडौल, सुन्दर और दर्शनीय रहो कि तुम्हारे दर्शन से मेरी दृष्टि तृप्त होजाये। विश्व में जहां कहीं भी मैं तुम्हें देखूं, वहीं मेरी दृष्टि तुम्हारा अवलोकन करके सन्तृप्त होजाये।

५) तुम (मे श्रोत्रं तर्पयत) मेरे श्रोत्र को तृप्त करो। इस पृथिवी पर तुम जहां कहीं भी स्थित या नियुक्त हो, वहीं से मेरे कानों में तुम्हारी प्रशस्तियां आयें और तुम्हारी प्रशस्तियां सुनकर मेरे श्रोत्र सदा तृप्त रहें।

६) तुम (मे आत्मानं तर्पयत) मेरे आत्मा को तृप्त करो। तुम्हारा जीवन सदा सर्वदा ऐसा उत्थित, उच्च और उत्कृष्ट रहे कि तुमसे मेरा आत्मा नितान्त तृप्त परितृप्त रहे।

७) तुम (मे प्रजां तर्पयत) मेरी प्रजा को तृप्त करो। प्रत्येक स्थान, स्थिति और अवस्था में तुम सर्वत्र मेरे जनपद की प्रजा की, मेरे राष्ट्र की जनता की, ऐसी सुसेवा करो कि मेरी समस्त प्रजा सब प्रकार से तृप्त, सम्पन्न, सुखी और आनन्दित रहे।

८) तुम (मे पशून् तर्पयत) मेरे पशुओं को तृप्त करो। विद्यावारिधि स्नातकों की सेवाओं से न केवल राष्ट्र की मानव-प्रजा, अपि तु पशु-प्रजा भी, नीरोग, स्वस्थ और सुखप्रद रहती हुई सर्वतः सन्तृप्त रहे।

९) तुम (मे गणान् तर्पयत) मेरे सब वर्गों को तृप्त करो। स्नातक-स्नातिकाओं की सेवायें किसी एक वर्ग के लिये नहीं, राष्ट्र के समस्त वर्गों के लिये तृप्तिकारक होनी चाहियें। यहां राष्ट्र की अभिन्न भावात्मक एकता का संदर्शन होरहा है।

१०) किसी भी प्रकार से (मे गणाः) मेरे सब वर्ग (मा वि-तृषन्) वि-तृषित न रहें, प्यासे न रहें। तुम्हारे द्वारा मेरे राज्य में समस्त अभावों की ऐसी सम्पूर्ति होती रहे कि मेरी प्रजा के सभी वर्ग किसी भी क्षेत्र में किसी भी प्रकार के अभाव से वितृषित अथवा अतृप्त न रहें, अपि तु सर्वतः सर्वथा पूर्ण तृप्त रहें।

विद्यास्नात और शिक्षासुसंस्कृत स्नातक-स्नातिकाओं के प्रति राष्ट्र की कैसी आत्मभावना और आत्मनिजता होनी चाहिये और साथ ही उनसे राष्ट्र और विश्व क्या अपेक्षा रखे, इस विषय का इस मन्त्र में अति सुन्दर, सुबोध, सरल और तात्त्विक चित्रण किया गया है।

तृप्त करो तुम मेरे मन को,
तृप्त करो मेरी वाणी को,
तृप्त करो तुम मेरे प्राण को,
तृप्त करो तुम मेरे नेत्र को,
तृप्त करो तुम मेरे श्रोत्र को,
तृप्त करो मेरे आत्मा को,
तृप्त करो मेरी प्रजा को,
तृप्त करो मेरे पशुओं को,
तृप्त करो मेरे वर्गों को,
प्यासे रहें वर्ग न मेरे ॥

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवत इन्द्राय त्वादित्यवत इन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने। श्येनाय त्वा सोमभृतेऽग्नये त्वा रायस्पोषदे ॥ (य० ६/३२)

इन्द्रा त्वा वसु-मते रुद्र-वते इन्द्राय त्वा आदित्य-वते इन्द्राय त्वा अभिमाति-घ्ने। श्येनाय त्वा सोम-भृते अग्नये त्वा रायःपोष-दे ॥

पूर्व मन्त्र में जनपदराज ने स्नातक-स्नातिकाओं को सम्बोधन करते हुए कहा था—"मेरी प्रजा को तृप्त करो, मेरे पशुओं को तृप्त करो, मेरे वर्गों को तृप्त करो, मेरे वर्ग प्यासे न रहें"। इस सम्बोधन को दृष्टि में रखते हुए आचार्य अपने प्रत्येक स्नातक स्नातिका को राष्ट्र के लिये अर्पण करता है—

१) मैं (त्वा वसु-मते रुद्र-वते इन्द्राय) तुझे वसु-मत् रुद्र-वत् राष्ट्र के लिये प्रार्पित करता हूं। मैं तुझे राष्ट्र के लिये प्रार्पित करता हूं और राष्ट्रार्पित रहता हुआ तू स्वराष्ट्र को वसु-मत् [ऐश्वर्य-सम्पन्न] और रुद्र-वत् [शौर्य-सम्पन्न] बनाता रहे। ऐश्वर्य और शौर्य के संयोग से ही राष्ट्र सबल होता है। ऐश्वर्य के बिना शौर्य और शौर्य के बिना ऐश्वर्य किसी काम का नहीं होता।

२) मैं (त्वा आदित्य-वते इन्द्राय) आदित्य-वत् राष्ट्र के लिये प्रार्पित करता हूं। मैं तुझे राष्ट्र के लिये प्रार्पित करता हूं और राष्ट्रार्पित रहता हुआ तू स्वराष्ट्र को आदित्य [सूर्य] के सम्मान प्रकाश से पूरता रहे। ऐश्वर्य और शौर्य की अक्षुण्णता प्रकाश में ही निहित है। अन्धकार में ऐश्वर्य और शौर्य का ह्रास होजाता है।

३) मैं (त्वा अभिमाति-घ्ने इन्द्राय) तुझे अभिमाति-घ्न राष्ट्र के लिये प्रार्पित करता हूं। मैं तुझे राष्ट्र के लिये प्रार्पित करता हूं और राष्ट्रार्पित रहता हुआ तू राष्ट्र के अभिमाति का हनन अथवा निराकरण करता रहे।

अभिमाति नाम अभिमानी अभिमान का है। अभिमान अन्धा होता है और व्यक्तियों के समान राष्ट्रों को भी वह विनाशकारी ठोकरें खिलाता है। अभिमान विनाश का पुरोगामी है। अभिमान आया कि सर्वनाश हुआ। अभिमान की ठोकरें ऐश्वर्य, शौर्य और प्रकाश-तीनों को विनष्ट कर देती हैं। अतः यहां यथाक्रम संकेत किया गया है कि राष्ट्र में से अभिमान के निराकरण में राष्ट्र का हित है।

४) मैं (त्वा सोम-भृते श्येनाय) तुझे सोम-भृत् श्येन के लिये प्रार्पित करता हूं। मैं तुझे श्येन के लिये प्रार्पित करता हूं और श्येनार्पित रहता हुआ तू श्येन में सोम-भरण करता रहे।

श्यैङ् गतौ। श्येन शब्द की उत्पत्ति श्यैङ् धातु से हुई है, जिसका प्रयोग अतिशय तीव्र गति के अर्थ में होता है। अति तीव्र गति से प्रगति करने-वाला होने से राष्ट्र श्येन है। अतिशय तीव्र गति से उड़ने से बाज़ पक्षी को श्येन कहते हैं। सोम शब्द का प्रयोग सोम्यता के अर्थ में हुआ है।

तीव्रता के साथ उग्रता अच्छी नहीं होती है। सोम्यता से युक्त तीव्रता ही लक्ष्य की सिद्धि कराती है। जहां अभिमान होता है, वहां तीव्रता के साथ उग्रता आजाती है। उग्रता तीव्रता में साधक नहीं, बाधक होती है। वह तो सोम्यता है, जो लक्ष्यसिद्धि में तीव्रता की सहायक होती है। इसीलिये आचार्य ने यहां श्येन और सोम के समन्वय का संकेत किया है।

५) मैं (त्वा रायःपोष-दे अग्नये) तुझे आत्मैश्वर्य की पुष्टि देनेवाले अग्नि के लिये प्रार्पित करता हूं। मैं तुझे अग्नि के लिये प्रार्पित करता हूं और अग्न्यार्पित रहता हुआ तू अग्नि में आत्मैश्वर्यों की पुष्टि प्रदान करता रहे।

यहां राष्ट्र के लिये अग्नि शब्द का प्रयोग हुआ है। अग्र-नी, अग्रे-णी, अग्री, होने से राष्ट्र को अग्नि कहा गया है। आगे ही आगे बढ़नेवाले राष्ट्र का नाम अग्नि है। सतत सन्तत आगे बढ़ने के लिये आत्मैश्वर्यों के पुष्टीकरण की आवश्यकता होती है। आध्यात्मिकता से शून्य भौतिक ऐश्वर्य राष्ट्र को आगे न लेजाकर पीछे लेजाते हैं। भौतिक ऐश्वर्य भोग और रोग की वृद्धि करते हैं। आध्यात्मिक ऐश्वर्य ही है, जो संयम की साध से भौतिक ऐश्वर्यों के विष का शमन करते रहते हैं।

आचार्य के इन पञ्चादेशों में स्नातक-स्नातिकाओं के लिये राष्ट्रनिष्ठा और राष्ट्रसाधना के लिये पांच अमिट सुस्पष्ट रेखायें समंकित हैं।

तुझे प्रार्पित करता हूं मैं,
वसुमत् रुद्रवत् इन्द्र के लिये।
तुझे प्रार्पित करता हूं मैं,
आदित्यवत् इन्द्र के लिये।
तुझे प्रार्पित करता हूं मैं,
अभिमाति-हन इन्द्र के लिये।
तुझे प्रार्पित करता हूं मैं,
सोम-भृत् श्येन के लिये।
तुझे प्रार्पित करता हूं मैं,
अध्यात्म-पोषक अग्नि के लिये॥

यत्ते सोम दिवि ज्योतिर्यत्पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे।
तेनास्मै यजमानायोरु राये कृध्यधि दात्रे वोचः॥
(य० ६/३३)

यत् ते सोम दिवि ज्योतिः यत् पृथिव्यां यत् उरौ अन्तरिक्षे।
तेन अस्मै यजमानाय उरु राये कृधि अधि दात्रे वोचः॥

पूर्व मन्त्र में आचार्य ने एक-एक स्नातक को आदेश दिया था, "राष्ट्रार्पित रहता हुआ तू सदा अपने राष्ट्र की पञ्चधा सेवा करते रहना"। आचार्य के आदेश को शिरोधार्य करता हुआ प्रत्येक स्नातक यहां इस मन्त्र में प्रभु से विनय करता है—(सोम) ज्योतिष्मन्! (ते यत् ज्योतिः दिवि) तेरी जो ज्योति द्यौ में है, (यत् पृथिव्यां) जो पृथिवी में है, (यत् उरौ अन्तरिक्षे) जो विशाल अन्तरिक्ष में है, (तेन) उसी [ज्योति] से (अस्मै यजमानाय राये) इस यज्ञशील-राष्ट्र के लिये ऐश्वर्य-सम्पादनार्थ [मुझे] (उरु) विशाल [ज्योति] (कृधि) करदे, बनादे, बनाये रख।

और यावज्जीवन राष्ट्रार्थ समर्पित रहने के संकल्प के साथ प्रत्येक स्नातक अपने आचार्य से विनय करता है—भगवन्! इस (दात्रे) समर्पक के लिये [सदा इसी प्रकार] (अधि वोचः) आदेश देते रहना।

कितनी सुन्दर और सार्थक हैं ये दोनों ही विनय। प्रथम ज्योतिष्मान् प्रभु से विनय की गयी है, "मुझे विशाल ज्योति प्रदान करते रहना" और फिर आचार्य से विनय की गयी है, "मुझे आदेश उपदेश देते रहना"। ये विनय व्याख्या की नहीं, अनुभूति की अपेक्षा रखती हैं।

सर्वतः स्नात स्नातक राष्ट्रार्पित होकर संघर्ष-पूर्ण संसार में प्रविष्ट होरहा है इस संकल्प के साथ कि वह अपने सर्वतोमुखी कर्तव्यों का निर्वहन करता हुआ और विश्वतोमुखी संघर्षों में जूझता हुआ अपने राष्ट्र को अपनी दृष्टि से ओझल न करेगा। वह अपने स्वार्थ के लिये अपने राष्ट्र के हित का कभी कदापि बलिदान न करेगा। उसका प्रत्येक व्यापार, व्यवसाय और व्यवहार राष्ट्रसाधक होगा।

आचार्य-कुल में वह जब तक रहा, अपने आचार्य का होकर रहा। आज वह अपने प्रेमास्पद तथा श्रद्धा-स्पद आचार्य से विदा होरहा है और विनय कररहा है, "वन्द्यचरण आचार्य! मैं तेरा हूं और सदा ही तेरा रहूंगा। जिस हृदय से मैं यहां तेरे आदेश उपदेश का पालन करता रहा हूं, उसी प्रकार सर्वत्र करता रहूंगा। उचित आदेश और उपदेश से मुझे इसी प्रकार सदा सर्वदा उपकृत करते रहना"।

ज्योतिष्मन्,
तेरी जो ज्योति,
द्यौ में जो पृथिवी में,
जो विशाल अन्तरिक्ष में,
उससे इस यजमान के लिये,
ऐश्वर्य के सम्पादन-हेतु,
मुझे बनाये रखना सन्तत,
उरु ज्योति से ज्योतिष्मान् ।
राष्ट्रार्पित मेरे लिये,
देते रहना उचितादेश ।।
सूक्ति—अधि दात्रे वोचः ।
समर्पक के लिये आदेश दे ।।

श्वात्रा स्थ वृत्रतुरो राधोगूर्ता अमृतस्य पत्नीः ।
ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहूताः सोमस्य पिबत ।।
(य० ६/३४)

श्वात्राः स्थ वृत्र-तुरः राधःगूर्ताः अमृतस्य पत्नीः ।
ताः देवीः देवत्रा इमं यज्ञं नयत उप-हूताः सोमस्य पिबत ।।

आचार्या इस मन्त्र से यहां विशेषतया स्नातिकाओं को सम्बोधन कररही है—

१) (देवीः) देवियो ! दिव्य गुणों से युक्त स्नातिकाओ ! तुम (श्वात्राः) शिवा, कल्याणकारिणी, (वृत्र-तुरः) पाप-नाशिनी, (राधःगूर्ताः) ऐश्वर्य-वर्धिनी, (अमृतस्य पत्नीः) अमृत की रक्षा करनेवाली (स्थ) हो ।

स्नातिकाओं को पत्नी तथा माता बनना है । अतः उनके लिये यह परम आवश्यक है कि वे परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के लिये कल्याणकारिणी हों, निष्पापता तथा निर्दोषता का सम्पादन करनेवाली हों, परिवार की सुव्यवस्था करके धनैश्वर्यों की वृद्धि करनेवाली हों, और जो कुछ अमृतमय तथा अमृतोपम है उस सबकी रक्षा करनेवाली हों ।

२) (ताः) वे तुम (देवत्रा) देवों में, गृहदेवों में, समाजदेवों में (इमं यज्ञं) इस यज्ञ को, इस विद्यारूपी यज्ञ को, इस ज्ञानयज्ञ को (नयत) लेजाओ । आचार्याकुल में तुम जिस ज्ञानरूपी यज्ञ का सम्पादन करती रही हो, उस उपार्जित ज्ञान से तुम सब देवों और देवियों को ज्ञानी बनाओ और सब प्रकार से उन्हें लाभान्वित करो ।

३) सर्वत्र (उप-हूताः) समादृत हुई तुम (सोमस्य पिबत) सोम का पान करो, सुख आनन्द का सेवन करो ।

हूताः का अर्थ है बुलाई जाकर । उप-हूताः का अर्थ है स्वागत की जाकर, आइये आइये–ऐसे कही जाकर, समादृत होकर । "पितृकुल में या पतिकुल में, तुम जहां भी हो, वहीं तुम्हारा आदर समादर हो और तुम सब प्रकार के सुख-सुविधारूपी सोम का सेवन करो" ।

देवियो ! हो तुम शिवा वृत्रतुर,
राध-वर्धिका और अमृत की,
रक्षा करनेवाली ।
वह तुम देवों में लेजाओ,
इस सुयज्ञ को ।
आदृत और समादृत होकर,
सदा सोम का पान करो तुम ।।

मा भेर्मा संविक्था ऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम् । पाप्मा हतो न सोमः ।। (य० ६/३५)

मा भेः मा सं-विक्थाः ऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथां ऊर्जं दधाथाम् । पाप्मा हतः न सोमः ।।

अन्त में आचार्य प्रत्येक स्नातक स्नातिका को एक अदम्य उदात्त प्रेरणा और सदा स्मरणीय एक आदर्शवाक्य प्रदान करता है।

आदर्शवाक्य है—(पाप्मा हतः, न सोमः) पाप हत हो, न सोम।

पाप्मा का अर्थ है पाप, अधर्म। सोम का प्रयोग यहां पाप्मा से उलटे अर्थ में हुआ है। अतः इस मन्त्र में सोम का अर्थ पुण्य अथवा धर्म है।

"पाप्मा हतो न सोमः। पाप हत हो, सोम नहीं। अधर्म का क्षय हो, धर्म की जय हो"—प्रत्येक स्नातक स्नातिका का ही नहीं, प्रत्येक सच्चे और अच्छे मानव का यह आदर्श-वाक्य और उसके जीवन का यही आदर्श होना चाहिये। वैदिक आचार्य के द्वारा प्रदत्त इस आदर्श-वाक्य का प्रयोग भारत के ही नहीं, अखिल विश्व के महाविद्यालयों तथा विद्यालयों के दीक्षान्त-संस्कारों में किया जाना चाहिये।

धर्म क्या है, अधर्म क्या है? वैदिक वाङ्मय में धर्म का पर्यायवाची शब्द है भद्रम् और अधर्म का दुरितम्। यद्यद् दुरितं अधर्मम्। यद्यद् भद्रं धर्मम्। दुरित अधर्म है, भद्र धर्म है। जो कुछ कु है वह सब अधर्म है। जो कुछ सु है वह सब धर्म है। जो कुछ मलिन है वह सब अधर्म है। जो कुछ निर्मल है वह सब धर्म है। पाप अधर्म है, पुण्य धर्म है। धर्म और अधर्म का सम्बन्ध विचार भावना और कर्म से है। पवित्र विचार और पवित्र भावना के साथ कर्त्तव्य कम का सम्पादन करना धर्म है। अपवित्र विचार और अपवित्र भावना के साथ व्यवहार करना अधर्म है। धर्म और अधर्म की वेदसम्मत व्याख्या का सार यही है।

आचार्य अनुभव करता है, "पाप्मा हतो न सोमः" की साध सरल नहीं है, कठिन है, बहुत कठिन है, कठिनतम है। अतः प्रत्येक स्नातक स्नातिका को उदात्त प्रेरणा प्रदान करता हुआ वह कहता है—

१) (मा भेः) मत डर, (मा सं-विक्थाः) मत घबरा, (ऊर्जं धत्स्व) ऊर्ज धारण कर।

विक्=घबराना, उद्विग्न होना, कांपना, थरथराना, विचलित होना, पृथक् होना।

ऊर्ज नाम है धैर्य, उत्साह और साहस का, जिनके आश्रय से अतुल पराक्रम किया जाता है।

मा भेः, मा संविक्थाः, ऊर्जं धत्स्व, इन प्रेरणा-वाक्यों में अजस्र संबल, अक्षय ओज और अथाह उत्साह संनिहित है। यतो धर्मस्ततो जयः। जहां धर्म है, वहां विजय निश्चित है। फिर भय कैसा और घबराना क्यों। धर्म अधर्म के संघर्ष में न भयभीत होना, न घबराना, अपि तु धैर्य, उत्साह और साहस को धारण किये हुए कार्य किये जाना।

२) बाधा और संकट के उपस्थित होने पर न डरना, न घबराना, अपि तु अपनी उभय धिषणाओं को सम्बोधन करना—(धिषणे)! दोनों (वीड्वी सती) बलवती होकर (वीडयेथां) वीडन करो, (ऊर्जं दधाथां) ऊर्ज धारण करो।

वीड का अर्थ है वह बल, जो सामने आनेवाली बाधाओं से टकराकर उन्हें चूर चूर कर देता है। वीड्वी का प्रयोग यहां बलवती बुद्धि और भावना के लिये हुआ है। बुद्धि का निवास मस्तिष्क में है और भावना का हृदय में।

धिष शब्दे। वीड्वी बुद्धि और भावना से युक्त पुरुष के अन्तःकरण में बड़े प्रबल शब्द अथवा प्रबल ध्वनियां उठा करती हैं। इसी आशय से बुद्धि और भावना को "धिषणे" शब्द से सम्बोधन किया गया है।

भय से मस्तिष्क और हृदय अस्त व्यस्त होजाते हैं, बुद्धि उद्विग्न और भावना परास्त हो जाती है। परिणामतः कर्मक्षमता तथा साहस का क्षय होता है। निर्भयता और अदम्यता से मस्तिष्क व हृदय का सन्तुलन सम रहता है और बुद्धि स्थिर व भावना ध्रुव बनी रहती है। परिणामतः धैर्य, उत्साह और साहस सदा अक्षुण्ण बने रहते हैं।

जो निर्भय और अनुद्विग्न रहता है, प्रत्येक कठिन मोड़ उसके धैर्य, उत्साह और साहस को बढ़ाता है। शिक्षा वही है, जो अपने पात्र को निर्भय और अदम्य बनाये, जो अपने पात्र के जीवन में ऊर्ज की स्थापना करे, जो अपने पात्र की बुद्धि व भावना में वीड् का संचार करे और सर्वोपरि जो अधर्म के नाश और धर्म की प्रस्थापना को अपने पात्र की जीवन-साध बनाये।

मत डर,
मत घबरा,
धारण कर ऊर्ज धरा पर।
बुद्धे और भावने दोनों,
रहती हुई वीड्वी सन्तत,
वीडन करती रहो निरन्तर,
धारण करो ऊर्ज नितराम।
पाप नष्ट हो सोम अमर हो
क्षय अधर्म का जय हो धर्म की॥

सूक्ति—**मा भेः मा संविक्थाः।**
मत डर मत घबरा॥
ऊर्जं धत्स्व।
धैर्य, उत्साह और साहस बनाये रख॥
पाप्मा हतो न सोमः।
पाप मरे, नहीं धर्म॥

प्रागपागुदगधराक्सर्वतस्त्वा दिश आ धावन्तु।
अम्ब निष्पर समरीर्विदाम्॥　　(य० ६/३६)

प्राक् अपाक् उदक् अधराक् सर्वतः त्वा दिशः आ-धावन्तु। अम्ब निःपर सं अरीः विदाम्॥

आचार्य प्रत्येक स्नातक के तथा आचार्या प्रत्येक स्नातिका के शिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देते हैं—पुत्र! पुत्रि! (प्राक् अपाक् उदक् अधराक् दिशः) पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण दिशायें (सर्वतः) सब ओर से (त्वा आ-धावन्तु) तुझे आधावन करें, तेरे प्रति दौड़कर आयें, तेरी ओर आकृष्ट होती रहें। तू सब दिशाओं की ऐसी आशा और सब दिशाओं का ऐसा शुभ्र प्रकाश तथा ऐसा आत्मानन्द बन कि सब दिशाओं से मानव-प्रजायें सुख, शान्ति, प्रकाश और आनन्द की प्राप्ति के लिये तेरी ओर दौड़ दौड़ कर आयें। मधुर सोम के पान के लिये वे तेरे प्रति अनुधावन करती रहें।

स्नातक अपने सामने खड़े हुए अपने आचार्य के चरणों पर दृष्टि जमाये खड़ा था, आचार्य का दक्षिण हस्त प्राणप्रिय शिष्य के शिर पर था। आचार्य ने उपर्युक्त आशीर्वाद दिया। आचार्या ने उसी प्रकार अपनी शिष्या को आशीर्वाद दिया।

शिष्य ने, शिष्या ने, अपने दोनों हाथ जोड़कर ऊपर नीचे पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण सब दिशाओं में परमेश्वरी माता का आत्मभावना के साथ अवलोकन करके कहा—(अम्ब) मातः। मुझे (निःपर) प्यार कर, मुझे (अरीः) प्रजायें (सं-विदाम्) सं-विदताम्, सम्यक् जानें। परमेश्वरी माँ! मुझे ऐसा प्यार कर कि मेरे आचार्य का/मेरी आचार्या का

आशीर्वाद अक्षरशः सत्य होजाये। मैं प्राणी-मात्र का प्यारा/की प्यारी बन जाऊं। मैं प्राणीमात्र की आंखों की ज्योति और हृदय की शान्ति बन जाऊं। मुझमें वे सुरभियां सुरभित कर कि उनसे महककर सब दिशाओं की समस्त प्रजायें मुझे जानें और मेरी ओर खिची चली आयें।

पूर्व और पश्चिम उत्तर और दक्षिण,
सकल दिशायें सभी ओर से,
तेरे प्रति दौड़कर आयें।
अम्ब प्यार कर,
मुझे सकल प्रजायें जानें॥

सूक्ति—**सर्वतस्त्वा दिश आ धावन्तु।**
सकल दिशायें सभी ओर से,
तेरे प्रति दौड़कर आयें॥
अम्ब निष्पर समरीविदाम्।
अम्ब प्यार कर,
मुझे सकल प्रजायें जानें॥

त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः॥

[ऋ० १. ८४. १९, सा० २४७, १७२३] (य० ६/३७)

त्वं अङ्ग प्र-शंसिषः देवः शविष्ठ मर्त्यम्।
न त्वत् अन्यः मघवन् अस्ति मर्डिता इन्द्र ब्रवीमि ते वचः॥

दीक्षान्त-समारोह का उपसंहार करता हुआ सारा समुपस्थित जनसमूह खड़ा हो, हाथ जोड़, शिर नमा एक स्वर से परम पावन प्रभु के प्रति आत्म-विनय करता है—

(अङ्ग) परम प्रिय! (शविष्ठ) सर्वातिशय सर्वशक्तिमन्! (मघवन्) भगवन्! (इन्द्र) विघ्न-बाधारूपी शत्रुओं का निराकरण करनेवाले! मैं (ते) तेरे प्रति, तुझसे (वचः ब्रवीमि) वचन बोलता हूं, निवेदन करता हूं कि (देवः त्वं) दिव्य तू (मर्त्यं) मनुष्य को (प्र-शंसिषः) प्रशंसित करनेवाला है। (त्वत् अन्यः) तुझसे भिन्न, तेरे सिवा अन्य कोई (मर्डिता) सुखयिता, सुखी करनेवाला (न अस्ति) नहीं है।

अङ्ग शविष्ठ देव! मानव को,
तू प्रशंसित करनेवाला।
तुझसे भिन्न नहीं है भगवन्,
अन्य कोई सुखदाता।
सच्चे हृदय से कहता हूं,
इन्द्र! वचन यह तुझसे॥